CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आ७/।।।

ठुमरी की उत्पत्ति, विकास एवं शैलियाँ

डॉ० शत्रुघ्न शुक्ल

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भरतनिधि, कबीर
वाराणसी-5

ालय
राणसी-५
/।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ठुमरी की उत्पत्ति, विकास और शैलियाँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ठुमरी की उत्पत्ति, विकास और शैलियाँ

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भारतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

डॉ० शत्रुघ्न शुक्ल
अध्यक्ष, संगीत विभाग
डीन, संगीत एवं ललित कला संकाय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

© दिल्ली विश्वविद्यालय

अभिनाय-

भरतनिधि,

वाराणसी-5

प्रकाशक

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय
दिल्ली विश्वविद्यालय
ई-ए/6, मॉडल टाउन, दिल्ली-110009

प्रस्तुत पुस्तक में भारत सरकार द्वारा उपलब्ध कराए गए उचित दर के कागज़ का इस्तेमाल किया गया है

यह पुस्तक शिक्षा तथा संस्कृति-मंत्रालय, भारत सरकार के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित की गई है

प्रथम संस्करण 1983
प्रतियाँ, 1100

मूल्य 40 रुपए

मुद्रक
पैरागॉन एन्टरप्राइज़ेज़
4221/1, दरियागंज
नई दिल्ली-110002

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

वक्तव्य

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय की स्थापना दिल्ली विश्वविद्यालय में 1963 में हुई थी और उस समय यह निदेशालय केवल "अनुवाद निदेशालय" के नाम से मानक ग्रंथों को हिंदी में अनूदित कराकर छपवाने का कार्य कर रहा था। परंतु जब से यह निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय के एक विभाग के रूप में कार्य करने लगा है तब से इसने प्रत्येक विषय पर अद्यतन पाठ्यसामग्री तैयार करने का काम अपने हाथ में लिया है। ठुमरी की उत्पत्ति, विकास और शैलियाँ शीर्षक पुस्तक इसी शृंखला में प्रकाशित की गई है।

प्रस्तुत पुस्तक संगीत के प्राध्यापकों, अनुसंधाताओं और छात्रों के लिए तो उपयोगी है ही, संगीत में रुचि रखने वाले सामान्य पाठकों के लिए भी उपयोगी होगी, क्योंकि ठुमरी जैसी लोकप्रिय गेयविधा पर यह अपने क़िस्म की पहली पुस्तक है जिसे डॉ० शत्रुघ्न शुक्ल ने लंबे अध्ययन तथा चिंतन-मनन के बाद लिखा है।

हमारा यह लक्ष्य है कि उन सभी विषयों पर मौलिक पुस्तकें तैयार कराएँ और उनका प्रकाशन करें जिनके प्रकाशन में, व्यापारिक लाभ को दृष्टि में रखने वाले प्रकाशक, अपेक्षित रुचि नहीं लेते।

आशा है संगीत विषयक यह पुस्तक पाठकों में लोकप्रिय होगी।

जगदीश चन्द्र भूना
निदेशक
हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आमुख

मैंने डॉक्टर शत्रुघ्न शुक्ल का "ठुमरी की उत्पत्ति, विकास और शैलियाँ" शीर्षक ग्रंथ आदि से अंत तक पढ़ा है। डॉ० शुक्ल ने इस ग्रंथ में ठुमरी के प्रत्येक अंग—ठुमरी शब्द की व्युत्पत्ति, ठुमरी का नृत्य से संबंध, उसकी उत्पत्ति, उसका इतिहास, उसका काव्य, उसके ताल, उसकी रचनाशैली इत्यादि का विद्वत्तापूर्ण, शोधपूर्ण और आलोचनात्मक विवेचन किया है।

कुछ लोगों ने ठुमरी को केवल काव्य और वह भी केवल शृंगारात्मक काव्य का एक प्रकार समझकर जो कुछ उन्होंने काव्य-ग्रंथों में पढ़ा है वह सब ठुमरी के मत्थे मढ़ दिया है। कुछ लोग ठुमरी को केवल चपलता का द्योतक समझते हैं। कुछ लोग अवध के वाजिद अलीशाह को ठुमरी का आदि आविष्कारक मानते हैं। इस प्रकार की अनेक भ्रांत धारणाओं का निराकरण इस ग्रंथ के पढ़ने से हो जाएगा।

इस उत्तम ग्रंथ के प्रणयन के लिए डॉक्टर शत्रुघ्न शुक्ल सभी संगीत-प्रेमियों के साधुवाद के पात्र हैं।

ईश्वर से यही प्रार्थना है कि वे चिरायु हों, जिससे उनकी लेखनी से हमें और भी विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ पढ़ने को मिलें।

जयदेव सिंह

वाराणसी
7-12-1982

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्राक्कथन

उत्तर भारतीय संगीत की लोकप्रिय गीतविधाओं में ठुमरी का विशिष्ट स्थान है। स्वर और ताल के सहयोग से गीत के बोलों की भावाभिव्यक्ति ठुमरी-गान की अन्यतम विशेषता है।

'पदार्थाभिनय' अर्थात् गेय पदों का सार्थक अभिनय, नृत्य का सबसे प्रधान गुण है। अतएव मूलतः नर्तकियों द्वारा नृत्य व हावभाव सहित गाई जाने वाली पदार्थाभिनयी भावव्यंजक ललित गेयविधा होने के कारण, ठुमरी को बहुत समय तक संगीतज्ञ स्त्रैण, क्षुद्र व हेय समझकर उसकी उपेक्षा करते रहे। परंतु कालांतर में ठुमरी ने अपने कलात्मक गुणों से संगीत-रसिक जनसमाज को इतना आकर्षित व अभिभूत किया कि आज प्रायः सभी संगीतज्ञ उसे सांगीतिक कलाभिव्यक्ति का एक उत्तम साधन मानते हुए ठुमरी गाने में गौरव अनुभव करते हैं। इतना ही नहीं, स्वरप्रधान तत् व सुषिर वाद्यों के वादक भी प्रायः ठुमरी-धुन बजाकर अपने कार्यक्रम का समापन करते हैं। ठुमरी-गान की इस लोकप्रियता के कारण ही, आज देश के विभिन्न भागों में उसकी अनेक शैलियाँ विकसित होकर प्रचलित हो गई हैं।

अत्यंत लोकप्रिय होने पर भी ठुमरी के उद्गम व विकास के बारे में जन-धारणा बहुत स्पष्ट नहीं है। अभी तक, यद्यपि यदा-कदा कुछ पत्र-पत्रिकाओं व पुस्तकों में ठुमरी-संबंधी थोड़ी-बहुत जानकारी प्रकाशित होती रही है, परंतु वह अधिकतर किंवदंतियों और भ्रमपूर्ण तथ्यों पर आधारित है। यदि कहीं कुछ तथ्यपूर्ण सामग्री छपी थी, तो वह इतनी कम है कि उससे ठुमरी के विभिन्न पक्ष उजागर नहीं होते। अतः अभी तक शास्त्रीय, ऐतिहासिक व सांगीतिक दृष्टि से ठुमरी के तथ्यपूर्ण विस्तृत विवेचन के साहित्य का प्रायः अभाव ही रहा है।

ठुमरी के प्रति मेरी अभिरुचि प्रारंभ से ही रही है। अतः मैंने ठुमरी विषय पर शोध करके सन् 1974 में दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। यह पुस्तक उसी अध्ययन, मनन, चिंतन व अनुसंधान का परिणाम है।

ठुमरी-संबंधी शास्त्रीय व ऐतिहासिक तथ्यों के अध्ययन, मनन और अनुसंधान के साथ-साथ मैंने विभिन्न सूत्रों से पुरानी ठुमरियों, होलियों, दादरों व लोकगीतों की लगभग चार सौ स्वर-पद-ताल-बद्ध परंपरागत 'बंदिशों' का अधिकृत संकलन भी किया है, जिनके आधार पर ठुमरी विधा के गीतों की भाषा, विषय वस्तु, शैली व तालों के विभिन्न पक्षों की सप्रमाण व्याख्या प्रस्तुत की है। भविष्य में यथासमय सुविधानुसार उन 'बंदिशों' को भी स्वरलिपि-सहित प्रकाशित करने का विचार है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ठुमरी के उद्गम, विकास, इतिहास, शास्त्रीय विवेचन तथा उसकी वर्तमान शैलियों का तर्कसम्मत व सप्रमाण विशद विवेचन प्रस्तुत करने वाली, अभी तक, यह एकमात्र पुस्तक है। अतः आशा है कि इस पुस्तक को संगीत जगत में समुचित स्थान मिलेगा।

मेरी पत्नी श्रीमती योगमाया शुक्ल ने शोध से लेकर पुस्तक प्रणयन तक अनेक प्रकार से प्रेरणा, परामर्श व सहयोग देकर मेरी सहायता की है। उन्हें लिखित धन्यवाद देना मात्र औपचारिकता होगी। उनके इस योगदान को सदैव याद रखना ही मेरी उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता है।

दर्शन व संगीत के प्रख्यात मनीषी, श्रद्धेय, पद्मभूषण ठा० जयदेव सिंह ने इस पुस्तक का 'आमुख' लिखकर मुझे अनुगृहीत किया है। उनके प्रति मैं विनम्र हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन व भाषा-संपादन में विशेष सहायता के लिए हिंदी कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली के निदेशक डॉ० जगदीश चन्द्र मूना तथा उनके सहयोगी डॉ० कृष्णदत्त शर्मा का मैं हार्दिक आभारी हूँ।

दिल्ली
3 जनवरी, 1983

शत्रुघ्न शुक्ल
विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषय-सूची

पृष्ठ सं०

1. ठुमरी शब्द की व्युत्पत्ति — 1
2. ठुमरी और नृत्य — 22
    - नृत्य और गीत — 22
    - कथक नृत्य और ठुमरी — 32
3. ठुमरी की उत्पत्ति — 48
    - ठुमरी की उत्पत्ति-संबंधी विभिन्न मान्यताएं — 48
    - ठुमरी-संबंधी ऐतिहासिक तथ्य — 55
    - ठुमरी और लोक संगीत — 62
    - ठुमरी और चाँचर (चर्चरी) — 71
    - चर्चरी और रास से ठुमरी का उद्‌गम — 104
4. ठुमरी का इतिहास — 135
5. ठुमरी के धुन-राग — 170
6. ठुमरी का काव्य — 201
    - ठुमरी की भाषा — 202
    - ठुमरी के विषय — 210
7. ठुमरी के ताल — 227
8. ठुमरी की रचना व शैली — 245
    - ठुमरी की गीतरचना — 246
    - ठुमरी गान शैली का विकास — 263
9. ठुमरी की वर्तमान शैलियाँ — 276
    - बोलबाँट ठुमरी और उसकी गानशैली — 277
    - बोलबनाव ठुमरी और उसकी गानशैली — 281
    - (1) पूरब अंग — 283
        - (क) लखनवी शैली — 287
        - (ख) बनारसी शैली — 291
    - (2) पंजाब अंग — 294

संदर्भ ग्रंथसूची — 302

शुद्धिपत्र — 310

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

1

ठुमरी शब्द की व्युत्पत्ति

ठुमरी शब्द का व्यवहार हिंदुस्तानी संगीत की एक विशेष गेयविधा के लिए किया जाता है। यद्यपि यह शब्द इसी रूप में अथवा थोड़े रूपांतर के साथ उत्तर भारत की प्रायः सभी भाषाओं में प्रचलित है, जैसे हिंदी, पंजाबी और गुजराती में ठुमरी ; सिंधी में ठुमिरी; मराठी में ठुमरी तथा ठुंबरी ; नैपाली में ठुमरी तथा ठुम्रि[1] और बँगला में ठुंग्रि[2] इत्यादि, किंतु मूलतः यह शब्द हिंदी भाषा का माना जाता है क्योंकि ठुमरी का उद्गम, विकास और प्रसार हिंदी क्षेत्र से हुआ है और सभी पुरानी ठुमरियाँ हिंदी की उपभाषाओं (बोलियों) में ही मिलती हैं।

व्यापक दृष्टिकोण के आधार पर हिंदी की सत्रह बोलियाँ मानी जाती हैं : अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, खड़ी, ब्रज, कन्नौजी, बुंदेली, बाँगरू, भोजपुरी, मगही, मैथिली, कुमायूँनी, गढ़वाली, मारवाड़ी, मेवाती, ढूढाड़ी और मालवी। किंतु विशुद्ध भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर इनमें से केवल प्रथम आठ बोलियों को हिंदी भाषा के अंतर्गत मान कर इन्हें पूर्वी और पश्चिमी दो वर्गों में बाँट दिया गया है।[3]

पूर्वी हिंदी-वर्ग में अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी ये तीन और पश्चिमी हिंदी-वर्ग में खड़ी, ब्रज, कन्नौजी, बुंदेली तथा बाँगरू ये पाँच बोलियाँ मानी गई हैं।[4] साहित्यिक विकास के कारण इनमें से खड़ी बोली को वर्तमान हिंदी भाषा का प्रधान रूप मिला और अवधी तथा ब्रज ये दोनों बोलियाँ भाषा संबोधन के साथ-साथ हिंदी की प्रमुख उपभाषाएँ समझी जाती हैं।

शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित ब्रजभाषा मूलतः ब्रजक्षेत्र की बोली है। ब्रज की प्रेम और शृंगारमयी कृष्णलीला और उससे संबंधित कथक नृत्य से ठुमरी का अत्यंत घनिष्ठ संपर्क रहा है। ठुमरी की पुरानी रचनाओं के ब्रजभाषा में होने का उल्लेख भी मिलता है।[5] अतः 'ठुमरी' मूलतः ब्रजभाषा का शब्द माना जाता है।[6] ब्रजभाषा के अतिरिक्त हिंदी की अन्य बोलियों में यह शब्द प्रायः नहीं मिलता। 'ठुमरी' शब्द की व्युत्पत्ति और उसके मूल अर्थ के संबंध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्री ध्रुवतारा जोशी का कथन है कि लगभग सन् 1928 और सन् 1930 ई० के बीच कलकत्ता में दरभंगा के प्रसिद्ध हारमोनियम वादक श्री मुहम्मद इस्माइल से उनकी मुलाकात हुई थी। श्री मुहम्मद इस्माइल संगीतजीवी वर्ग के थे और रिश्ते में वे बड़े करामत खाँ के शिष्य नूरमुहम्मद सितारिये के भाई लगते थे। उन्होंने अपने समय के महान् हारमोनियम वादक तथा ठुमरीकार भैया गनपत राव से हारमोनियम-वादन तथा ठुमरी-गान सीखा था। अतः ठुमरी के बारे में श्री मुहम्मद इस्माइल का मत विशेष महत्त्वपूर्ण और विचारणीय है।

श्री मुहम्मद इस्माइल ने ठुमरी की उत्पत्ति और शब्द-व्युत्पत्ति के संबंध में जोशी जी को बताया था कि ठुमरी का आविष्कार ग्वालियर के राजा मानसिंह तँवर के द्वारा हुआ। कहते हैं कि एक बार भैरवी गाते समय राजा मानसिंह तँवर ने ग़लती से शुद्ध ऋषभ लगा दिया। विवादी स्वर के प्रयोग से राग अशुद्ध तो अवश्य हो गया, परंतु अन्य स्वरों के संदर्भ में वह अत्यंत रोचक व कर्णमधुर प्रतीत हुआ और इससे राग की रंजकता बढ़ गई। इससे उत्साहित होकर उन्होंने भैरवी में तीव्र मध्यम तथा क्रमशः अन्यान्य स्वरों का प्रयोग करते हुए बाद में कुछ अन्य रागों में भी ऐसे प्रयोग किए। अतएव ऐसे रागों को उनके मूल स्वरूप से भिन्न रखने तथा राजा मानसिंह तँवर से उनका संबंध दर्शाने के लिए लोगों ने उन रागों के साथ तँवरी विशेषण लगा दिया, जैसे तंवरी भैरवी, तँवरी खमाज इत्यादि और यही 'तँवरी' शब्द बाद में विगड़कर ठुमरी हो गया।[7]

तथ्यों की दृष्टि से श्री मुहम्मद इस्माइल का यह मत ठीक नहीं प्रतीत होता। राजा मानसिंह तँवर ग्वालियर की राजगद्दी पर सन् 1486 ई० में बैठे। तत्कालीन अथवा परवर्ती सत्रहवीं शताब्दी तक के संगीत ग्रंथों में वर्णित भैरवी का स्वरूप आज की भैरवी से भिन्न है। तत्कालीन भैरवी के स्वर आज के आसावरी मेल अर्थात् नटभैरवी राग के स्वरों के समान होने से तो उसमें शुद्ध ऋषभ पहले से ही विद्यमान था।[8] अतएव तत्कालीन भैरवी में विवादी स्वर के रूप में ऋषभ के प्रयोग की बात भ्रममूलक है।

राजा मानसिंह तँवर कृत मानकुतूहल ग्रंथ के फ़क़ीरुल्लाह द्वारा किए गए फ़ारसी अनुवाद रागदर्पण में तँवरी का कहीं उल्लेख नहीं है। यद्यपि डिंगल काव्य में तूंवेरी दूहो नामक एक विशेष प्रकार के दोहा छंद का उल्लेख अवश्य मिलता है,[9] परंतु 'तँवरी' या 'तूंवेरी' शब्द का ठुमरी के रूप में अपभ्रंश होना अस्वाभाविक और शब्द-विकास के नियमों के प्रतिकूल है।

भाषाविज्ञान के अनुसार शब्दों के अपभ्रंश होने की प्रक्रिया कुछ विशेष सिद्धांतों पर निर्भर करती है, जिनका वैज्ञानिक आधार होता है। इसमें से प्रयत्न-लाघव का सिद्धात सबसे प्रमुख है। मनुष्य अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए स्वभावतः कम-से-कम प्रयत्न करना चाहता है। उदाहरण के लिए यदि एक ही स्थान पर पहुँचने के दो मार्ग हों तो वह छोटा, सरल और सुविधाजनक रास्ता ढूंढ़ना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चाहेगा। यह सुविधा ही प्रयत्नलाघव की जड़ है। अतः जिधर भी देखें हमें मनुष्य के कार्यों में प्रयत्न की बचत अर्थात् लघुता करने की मनोवृत्ति दिखाई पड़ती है। भाषा-परिवर्तन के मूल में भी यही सिद्धांत होने के कारण शब्दों के रूप-परिवर्तन में प्रयत्नलाघव प्रमुख कार्य करता है।[10] अतः भाषा की धारा स्वभावतः कठिनता से सरलता की ओर अग्रसर होती है। प्रयत्नलाघव के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं, जैसे डॉक्टर>(अंग्रेज़ी) डाक्तर या दाक्तर (बँगला); बॉटल (अंग्रेजी)>बोतल (हिंदी); कुमार (संस्कृत)>कुँवर (राजस्थानी)>कँवर (पँजाबी); लड़का (हिंदी)>लरिका (अवधी)>लइका (भोजपुरी) तथा श्यामल (संस्कृत)>साँवर (अवधी तथा भोजपुरी) इत्यादि।

संस्कृत की भाँति हिंदी और उसकी सहायक भाषाओं में वर्णमाला के समस्त व्यंजन प्रमुख रूप से वर्गीय, अंतस्थ और ऊष्म नामक तीन श्रेणियों में विभक्त हैं। वर्गीय श्रेणी के पाँच वर्गों में से प्रत्येक में पाँच तथा अंतस्थ और ऊष्म प्रत्येक में चार व्यंजन हैं। प्रत्येक वर्ग का पहला और तीसरा व्यंजन अल्पप्राण, दूसरा और चौथा व्यंजन महाप्राण तथा पाँचवाँ व्यंजन अनुनासिक अल्पप्राण वर्ण है। अंतस्थ अल्पप्राण और ऊष्म महाप्राण वर्ण हैं। उच्चारण के अनुसार कवर्ग कंठ्य, चवर्ग तालव्य, टवर्ग मूर्धन्य, तवर्ग दंत्य तथा पवर्ग ओष्ठ्य तथा ऊष्म व्यंजनों में श तालव्य, ष मूर्धन्य, स दंत्य और ह कंठ्य है। अनुनासिकों के उच्चारण में नाक की ध्वनि संयुक्त रहती है। व्यंजनों की यह व्यवस्था निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होती है :

1. क वर्ग (कंठ्य) :	1. क	3. ग	—अल्पप्राण वर्ण
	2. ख	4. घ	—महाप्राण वर्ण
		5. ङ	—अनुनासिक अल्पप्राण वर्ण
2. च वर्ग (तालव्य) :	1. च	3. ज	—अल्पप्राण वर्ण
	2. छ	4. झ	—महाप्राण वर्ण
		5. ञ	—अनुनासिक अल्पप्राण वर्ण
3. ट वर्ग (मूर्धन्य) :	1. ट	3. ड	—अल्पप्राण वर्ण
	2. ठ	4. ढ	—महाप्राण वर्ण
		5. ण	—अनुनासिक अल्पप्राण वर्ण
4. त वर्ग (दंत्य) :	1. त	3. द	—अल्पप्राण वर्ण
	2. थ	4. ध	—महाप्राण वर्ण
		5. न	—अनुनासिक अल्पप्राण वर्ण
5. प वर्ग (ओष्ठ्य) :	1. प	3. ब	—अल्पप्राण वर्ण
	2. फ	4. भ	—महाप्राण वर्ण
		5. म	—अनुनासिक अल्पप्राण वर्ण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

6. अंतस्थ : 1. य (तालव्य), 2. र (मूर्धन्य), 3. ल (दंत्य), 4. व (दतोष्ठ्य) —अल्पप्राण वर्ण

7. ऊष्म : 1. श (तालव्य), 2- ष (मूर्धन्य), 3 स (दंत्य), 4. ह (कंठ्य) —महाप्राण वर्ण

पंचवर्गों के अल्पप्राण वर्ण हकार-संयुक्त हो जाने पर महाप्राण वर्ण बन जाते हैं, जैसे क+ह्=ख, ज+ह्=झ, ट+ह्=ठ इत्यादि। अल्पप्राण वर्ण का उच्चारण महाप्राण वर्ण की तुलना में मृदु और सरल होता है।[11] इसीलिए शब्दों के अपभ्रंश होने की प्रक्रिया में साधारणतया अल्पप्राण वर्ण का परिवर्तन अल्पप्राण वर्णों के रूप में ही होता है, जैसे डॉक्टर>डाक्तर>दाक्तर, बॉटल>बोतल तथा लड़का>लरिका इत्यादि;[12] परंतु किसी शब्द के अल्पप्राण वर्णों में ऊष्म वर्ण संयुक्त रहने की अवस्था में ऊष्म वर्ण लुप्त हो जाता है और उसका हकार अल्पप्राण वर्ण में संलग्न होकर उसे महाप्राण वर्ण बना देता है, जैसे स्कन्ध>खन्ध, स्कम्भ>खम्भ,[13] स्तन> थन[14] तथा स्तम्भ>थम्भ या ठम्भ[15] इत्यादि। इसी प्रकार अल्पप्राण वर्ण का परवर्ती होने पर महाप्राण वर्ण लुप्त हो जाता है और उसका हकार अल्पप्राण वर्णों से संयुक्त होकर उसे महाप्राण वर्ण बना देता है, जैसे काम्भोज>खम्माज या खमाज तथा किश्मिश>खिसमिस (मराठी) इत्यादि।

तँवरी शब्द के पहले अक्षर तवर्ग के अल्पप्राण वर्ण 'त' से, ठुमरी शब्द का प्रथम अक्षर टवर्ग का महाप्राण वर्ग 'ठ,' उच्चारण में कठोर और क्लिष्ट है। अतएव 'तँवरी' शब्द में 'त' के साथ कोई ऊष्म व्यंजन संयुक्त न होने अथवा परवर्ती किसी महाप्राण वर्ण की उपस्थिति न होने से त वर्ण ठ के रूप में परिवर्तित नहीं हो सकता।

शब्द के भीतर का म अपभ्रंश में वँ हो जाता है (हे० चं० 4, 397), जैसे कमल>कवँल, भ्रमर>भवँर तथा कुमार>कुमर>कुवँर इत्यादि।[16] कभी-कभी परवर्ती म का अनुनासिकत्व पूर्ववर्ती वर्ण में अनुस्वार के रूप में संलग्न हो जाता है और म के स्थान पर व हो जाता है, जैसे ग्राम+गाँव, कुमार>कुँवर तथा श्यामल> साँवल या साँवर इत्यादि। इसी प्रकार तवँर या तँवर शब्द भी तोमर शब्द का ही अपभ्रंश है। ठुमरी तथा तँवरी शब्द के दूसरे अक्षर क्रमशः 'म' तथा 'व' हैं। ऐसी अवस्था में व की उपस्थिति शब्द विकास के बाद की होने के कारण तँवरी शब्द के दूसरे अक्षर व का म में परिवर्तन विपरीत और अस्वाभाविक है।

प्रयत्नलाघव सिद्धांत के अनुसार, भाषा-विकास-प्रक्रिया के कठिनता से सरलता की ओर उन्मुख होने के कारण, तँवरी शब्द से ठुमरी शब्द का विकास होना संभव नहीं है। चूंकि तँवरी शब्द का उच्चारण ठुमरी शब्द से अधिक सुविधापूर्ण, मृदु और सरल है, अतः 'तँवरी' शब्द बिगड़ कर 'ठुमरी' शब्द बनने की कल्पना भ्रमपूर्ण है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बारहवीं शताब्दी के भरतेश्वर बाहुवलिरास तथा बुद्धिरास, तेरहवीं शताब्दी के आबूरास और पंद्रहवीं शताब्दी के पंचपंडवचरितरास इत्यादि डिंगल साहित्य के जैन रास ग्रंथों में 'काव्य के शुद्ध वर्णन खंड' के लिए 'ठवणी' शब्द का व्यवहार किया गया है।[17] ठवणी शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के स्थापनिका शब्द से है।[18] मराठी भाषा का ठेवणी[19] और हिंदी का ठवनि या ठवनी[20] शब्द इसी से आया है, जिसका अर्थ न्यास या स्थिति होता है। यद्यपि ध्वनि-साम्य के कारण ठवणी से ठुमरी की व्युत्पत्ति की संभावना का अनुमान हो सकता है, किंतु ध्वनि में समानता होते हुए भी दोनों में कोई संबंध नहीं है। ठवणी शब्द के 'ठ' में उकार का योग, 'व' के 'म' और 'ण' के 'र' में परिवर्तन होने का कोई भाषावैज्ञानिक आधार न होने के कारण ठवणी शब्द से भी ठुमरी शब्द की व्युत्पत्ति की कोई संभावना नहीं है।

श्री सुनील कुमार बोस का विचार है कि ठुम और री इन दो शब्दों के योग से ठुमरी शब्द बना है। ठुम शब्द 'ठुमकत चाल' अर्थात् 'राधा जी की चाल' और री शब्द 'रिझावत' अर्थात् 'भगवान कृष्ण के मन को रिझाने' की ओर इंगित करता है। अत: ठुमरी शब्द में 'राधा के ठुमक कर चलते हुए कृष्ण के मन को रिझाने की अभिव्यंजना है।[21]

स्वर्गीय आचार्य कैलासचंद्रदेव बृहस्पति के मतानुसार 'ठुमरी' शब्द के ठुम और री दो अंश हैं। ठुम ठुमकने का द्योतक है और री अंतरंग सखी से अपने अंतर की बात कहने का।[22]

प्रसिद्ध ठुमरी गायक स्वर्गीय गिरिजाशंकर चक्रवर्ती के मतानुसार ठुमरी शब्द की व्युत्पत्ति ठुमक और रिझाना से हुई है। ठुमक 'लय' का और रिझाना 'अर्थभाव' का द्योतक होने का कारण ठुमरी शब्द 'लयकारी और भावाभिव्यंजना' दोनों को व्यक्त करता है।[23]

स्वर्गीय चन्द्रशेखर पंत के अनुसार ठुम और री शब्दों के योग से निर्मित ठुमरी में ठुम या ठुमक शब्द 'नृत्य के पद संचालन' और 'ठसक भरी गर्वीली चाल' को व्यक्त करता है। इसी के निकटतम शब्द 'ठुमका' का अर्थ है 'छोटे आकार का'। विभक्ति के रूप में 'री' प्राय: 'की' के अर्थ में व्यवहृत होती है जो कि अधिकार और संबंध की द्योतक है, जैसे 'किसन रुक्मिणी री बेलि,' हमरी, तुमरी इत्यादि। अत: पूरी तरह व्युत्पत्तिगम्य अर्थ के अनुसार ठुमरी शब्द एक ऐसे लघु आकार के गीत की ओर इशारा करता है, जो नृत्य और उसके सुकुमार भावों से संबद्ध हैं।[24]

श्री सुनील कुमार बोस, आचार्य कैलासचंद्रदेव बृहस्पति, स्वर्गीय गिरजा-शंकर चक्रवर्ती तथा स्वर्गीय चंद्रशेखर पंत इन सभी विद्वानों ने ठुमरी शब्द की व्युत्पत्ति ठुमक शब्द से मानते हुए 'ठुमरी' शब्द के 'ठुम' और 'री' यह दो अंश और 'ठुम' को 'ठुमक' का द्योतक माना है। यह मान्यता तथ्यपूर्ण होने पर भी 'ठुम' शब्द के मूल, विकास, अर्थ तथा 'ठुमक' शब्द से उसके संबंध इत्यादि विषयों पर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याकरण और भाषाशास्त्रीय दृष्टिकोण से अभी तक विचार नहीं हुआ है।

इस दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि ठुमरी शब्द का प्रथम अंश ठुम भी सुनने में खट, फट, टप, टं, टन, ठप, ठं, ठन, ढम, डम, ढम इत्यादि शब्दों की भाँति ही एक आघातमूलक ध्वनि अनुकारात्मक शब्द है। ध्वनियाँ दो प्रकार की हैं। पहली नादात्मक और दूसरी नीरस या कर्कश। स्थिरता तथा अनुरणनयुक्त 'नाद' संगीतोपयोगी और इन गुणों से रहित नीरस ध्वनि संगीत की दृष्टि से अनुपयोगी होती है। आघातमूलक नाद में आघात के पश्चात् होने वाले अनुरणन अर्थात् गूँज की अनुकृति के लिए शब्दों के अंत में अनुस्वार या अनुनासिक वर्णों का प्रयोग दिखाई पड़ता है।[25] अतएव टं, टन, टम, ठं, ठन, ठम, डम, ढम इत्यादि शब्दों से आघातमूलक अनुरणनयुक्त नाद और खट, पट, ट, टप, ठ, ठक, ठुक, ठप, इत्यादि शब्दों से नीरस तथा कर्कश ध्वनि की अभिव्यक्ति होती है।

भाषा में व्यवहृत टं, टन, ठं, ठन इत्यादि शब्दों से धातुखंड, धातु से बने पात्र या घंटा, घड़ियाल तथा मंजीरा आदि घनवाद्यों के नाद की अनुकृति; ठन, डम, ढम इत्यादि शब्दों से तबला, डमरू, ढोलक तथा नगाड़ा आदि अवनद्ध वाद्यों के नाद की अनुकृति और छन, छुन, छम, छुम, झन, झुन, रुन, ठम, ठुम इत्यादि शब्दों से पैंजनी, नूपुर तथा घुँघरू आदि की गुंजनपरक ध्वनि की अनुकृति का बोध होता है। निरंतरता की अभिव्यक्ति के लिए प्रायः इन शब्दों की पुनरावृत्ति भी कर दी जाती है, जैसे—खटखट, फट फट, टं टं, ठन, ठन, डम डम, ढमाढम, ठम ठम, ठुम ठुम इत्यादि।

ध्वनि की अनुकृति के आधार पर निर्मित शब्द प्रायः सभी भाषाओं में मिलते हैं, जैसे—संस्कृत में डमरू (डम डम ध्वनि वाला वाद्य), फ़ारसी में दमामः या दमदमा (दम दम या ढमढम ध्वनि वाला वाद्य; नगाड़ा या धौंसा), अंग्रेज़ी, फ्रेंच तथा जर्मन में गांग्[26] (गुंजन ध्वनि वाला धातु निर्मित घड़ियाल—मूलतः व्युत्पत्ति मलय (e) gung शब्द से), तमिल में टम्यट्टम और सिंहली में टम्मट्टम[27] (टम टम ध्वनि वाला वाद्य), मराठी में तुन्तुणें[28] (तुन तुन ध्वनि करने वाला वाद्य) तथा हिंदी में झुनझुना[29] (झुनझुन ध्वनि करने वाला खिलौना) इत्यादि।

ठम शब्द, संस्कृत के स्तम् या स्तम्भ् धातु से बने स्तम्भ शब्द का अपभ्रंश माना जाता है।[30] प्राकृत भाषाओं के विद्वान डॉ० आर० पिशल का कथन है कि प्राकृत और अपभ्रंशों की परंपरा में संस्कृत के दंत्य 'स्त' का परिवर्तन ठ और थ दोनों रूपों में होने के कारण स्तम्भ शब्द के ठम्भ और थम्भ दो रूप बनते हैं,[31] जिनका अर्थ 'अभिमान, अहंकार, गर्व, रुकना, स्तब्ध होना, अटकाना या क्रिया निरोध करना' होता है।[32] हिंदी के ठम और थम शब्द ठम्भ और थम्भ के ही विकसित रूप हैं जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कि उसी अर्थ में व्यवहृत होते हैं।[33] इसी प्रकार जॉन टी० प्लाट्स तथा आर० एल० टर्नर इत्यादि विद्वानों ने ठुम शब्द का विकास संस्कृत के स्तुभ् या स्तुम्भ् धातु से बने स्तुम्भ शब्द से माना है।[34]

स्तम् अथवा स्तम्भ् का अर्थ 'गर्व, रुकना या अटकना' और स्तुभ् अथवा स्तुम्भ् का अर्थ 'हर्ष ध्वनि करना, रुकना, अटकना या थोड़े-थोड़े अंतराल पर विराम-युक्त छंद[35] होता है। इसीलिए ठम और ठुम तथा इनसे बने ठमक, ठमकना, ठुमक, ठुमकना इत्यादि शब्दों में 'गर्व, उमंग, रुकना, तथा थोड़े-थोड़े अंतर पर अटकते या ठिठककर रुकते हुए चलने का भाव रहता है।[36] किंतु ऐसा लगता है कि इन सभी शब्दों में 'म' की अनुनासिकता के कारण इनके अर्थोंमें आघातमूलक गुंजनपरक ध्वनि का अर्थ भी संयुक्त हो गया।[37] ऐसा होना अस्वाभाविक भी नहीं है क्योंकि भाषा में शब्दों के रूप-विकास के साथ अर्थ-विकास की प्रक्रिया भी चलती रहती है। उदाहरण के लिए संस्कृत भाषा के प्रवीण शब्द का मूल अर्थ है—'वीणावादन में पटु'। किसी समय कुशल वीणावादक को ही प्रवीण कहा जाता था। बाद में वीणा-वादन का यह कौशल या चातुर्य सभी कार्यों के लिए व्यापक हो गया और प्रवीण शब्द निपुणता का द्योतक हो गया। अथर्ववेद में संग्राम शब्द का प्रयोग अनेक गाँवों के लोगों के एकत्र होने के अर्थ में हुआ है—ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते (12-1-56)। प्रायः युद्ध के समय ही अनेक गाँवों के लोग इकट्ठे होते थे। अतः बाद में संग्राम शब्द युद्ध के अर्थ में व्यवहृत होने लगा।

शब्दार्थ-विकास की प्रक्रिया के कारण ही बाद की भाषाओं में भी कई शब्दों के अर्थ अपने मूल अर्थ से कई अंशों में भिन्न हो गए। उदाहरण के लिए संस्कृत में शिक्षा शब्द विद्याध्ययन का द्योतक है। शिक्षा का लक्ष्य मनुष्य का बौद्धिक और मानसिक सुधार करना है और मनुष्य के सुधार के लिए ही समाज में दंड (सज़ा) की भी व्यवस्था है। अतः आगे चलकर मनुष्य के बौद्धिक व मानसिक सुधार के लिए, शिक्षा और दंड दोनों शब्द, पर्याय के रूप में प्रयोग किए जाने लगे। मराठी भाषा में शिक्षा शब्द प्रायः दंड (सज़ा) के अर्थ में लिया जाता है। इसी प्रकार, संस्कृत में शेष शब्द अंत में बचे हुए या अवशिष्ट के लिए प्रयुक्त होता है। अवशिष्ट हमेशा अंत में बचता है, इसलिए बँगला भाषा में शेष शब्द का प्रयोग अंत या समाप्ति के अर्थ में होने लगा।

इन उदाहरणों से यह भी स्पष्ट होता है कि शब्दों के अर्थ-विकास के मूल में कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि स्तम्भ तथा स्तुम्भ शब्दों से विकसित ठम तथा ठुम में 'ठ' वर्ण की उपस्थिति के कारण ही इसमें आघातमूलक ध्वनि का अर्थ भी संयुक्त हो गया होगा। संस्कृत भाषा में कठोर आघात से उत्पन्न ध्वनि की अभिव्यक्ति के लिए ट तथा ठ वर्ण और धातु-निर्मित वस्तुओं की आघातमूलक गुंजनपरक ध्वनि के लिए अनुस्वार-युक्त टं तथा ठं का प्रयोग मिलता है। इनमें भी अल्पप्राणत्व के कारण ट और टं से हल्की ध्वनि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तथा महाप्राणत्व के कारण ठ और ठं से अपेक्षाकृत गंभीर ध्वनि की अभिव्यक्ति होती है।[38]

भोजप्रबंध में एक घटना का वर्णन है कि एक दिन राजा भोज ने राजसभा के कवियों को धातुपात्र के पृथ्वी पर गिरने की ध्वन्यानुकृति पर 'ठ ठं ठ ठं ठं ठ ठ ठं ठ ठं ठः' इन शब्दों द्वारा समस्या पूर्ति करके काव्य रचना करने को कहा। अन्य कवियों द्वारा यह संभव न होने पर अंत में महाकवि कालिदास ने उपेन्द्रवज्रा छंद में निम्नलिखित श्लोक रचना द्वारा समस्या-पूर्ति की :

रामाभिषेके मदविह्वलायाः कक्षाच्युतो हेमघटस्तरुण्याः।
सोपानमार्गे प्रकरोतिशब्दं ठ ठं ठ ठं ठं ठ ठ ठं ठ ठं ठः ॥[39]

यहां 'ठ ठं ठ ठं ठं ठ ठ ठं ठ ठं ठः' शब्दों से सीढ़ियों पर स्वर्णघट गिरने के आघात से उत्पन्न गुंजनपरक ध्वनि की अभिव्यक्ति की गई है।[40]

आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी किसी कड़ी वस्तु से धातुखंड या धातु-पात्र के टकराने से उत्पन्न गुंजनपरक ध्वनि की अभिव्यक्ति के लिए टं, टन्, ठं, ठन् ठम् इत्यादि शब्दों का व्यवहार किया जाता है। अतएव क्रमशः स्तम्भ और स्तुम्भ से विकसित ठम और ठुम शब्दों में आघातार्थक 'ठ' वर्ण के साथ गुंजनपरक अनुनासिक वर्ण 'म' होने से बाद में इनके मूल अर्थ 'उमंग सहित थोड़े-थोड़े अंतर पर रुकावट' के साथ-साथ आघातमूलक गुंजनपरकता का भाव भी समाविष्ट हो गया।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि स्तम्भ शब्द से ठम और थम इन दो अपभ्रंश रूपों का विकास हुआ है और ये दोनों शब्द मूलतः एक ही अर्थ को व्यक्त करते हैं। फिर केवल ठम शब्द में ही आघातमूलक गुंजनपरकता का भाव क्यों सन्निहित है? इसका कारण आघातार्थक 'ठ' के साथ गुंजनार्थक 'म' का होना ही है। गुजराती भाषा के आघातार्थक ठुम्वो या ठुंवो शब्द में भी यही तत्त्व विद्यमान है[41] जो कि ठुमरी के लिए प्रयुक्त मराठी शब्द 'ठुम्बरी या ठुँवरी' के अधिक निकट व उससे विशेष तुलनीय है।

विस्तृत रूप से अर्थ विचार करने पर ठम, ठमक अथवा ठुम, ठुमक शब्दों के अंतर्गत तीन गुण दिखाई पड़ते हैं। पहला 'हर्षोत्फुल्लता या उमंग' दूसरा 'थोड़े-थोड़े समय के अंतर पर रुकावट' और तीसरा 'आघातमूलक गुंजनपरक ध्वन्यात्मकता'। अतएव ठम अथवा ठुम का समष्टिगत अर्थ 'उमंग सहित थोड़े-थोड़े समय के अंतर पर होने वाली आघातमूलक गुंजनपरक ध्वनि' होता है। इसीलिए नृत्य-क्रिया में थोड़े-थोड़े समय के अंतर पर लययुक्त पदाघात से बजने वाले पैरों के घुँघरू, नूपुर, पायल, बिछुवा इत्यादि धातुनिर्मित अलंकारों की गुंजनात्मक ध्वनि के लिए व्यवहृत होने के कारण कालांतर में ठम, ठमक, ठुम, ठुमक इत्यादि शब्द नृत्यवाची हो गए और नृत्य तथा उससे संबंधित लयात्मक चाल के अर्थ में इन शब्दों का व्यवहार किया जाने लगा, जैसे—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

1. "इहाँ ठम ठम ठमके रे, इहाँ वींछीडा चमके रे" ।[42] (नरसी मेहता)
2. "सरद उजारी रैन ता मधि रच्यो है रास,
   पियारी चले ठुम ठुम चाल है" ।[43] (गहर गुपाल)
3. "रंग भीने रास मैं नृत्यत लाड़िलि लाल ।।
   जमुना तीर सुभग वृंदाबन कर मंडल ब्रजवाल ।
   ठुमक चलत गत ललित त्रिभंगी हाव भाव मिलि ताल" ।।[44]
   (मदन गोपाल ?)
4. "बीच लाल बीच बाल, प्रति प्रति प्रति द्युति रसाल ।
   ठुमकत गति अति उताल, रीझ प्राण बारी" ।[45] (सूरदास)
5. "पाय ठाढ़ी पग ठुमक के बाजे, बिछुवन की झनकारन साज" ।[46]
6. हैली म्हारी पायल बाजे री ठुमक ठन्" ।[47]

उच्चारण, ध्वनिसाम्य और अर्थ में एक-दूसरे के पर्यायवाची होने पर भी जिस प्रकार ठं शब्द से ठुं शब्द में अधिक सूक्ष्मता और लघुता का भाव सन्निहित है,[48] उसी प्रकार ठम की अपेक्षाकृत ठुम शब्द से किंचित लघु और मृदुतर ध्वनि का आभास होता है। इसीलिए नृत्य वर्णन के अंतर्गत, जहाँ गुजराती और बँगला आदि भाषाओं के काव्यों में ठम, ठमक या ठमकि का प्रयोग है, वहाँ व्रजभाषा के काव्य में ठुम, ठुमक या ठुमकि शब्द के प्रयोग की अधिकता है, जैसे :

गुजराती : "इहाँ ठम ठम ठमके रे" (नरसी मेहता)[49]

बँगला : (i) "धनि ठमक ठमक चलि जाय" (वैष्णव पदावली)
(ii) "नाचे तारा ठाम ठमकिया" (" " ")[50]

ब्रजभाषा : (i) "पियारी चले ठुम ठुम चाल है" (गहर गुपाल)[51]
(ii) "ठुमक चलत गत ललित त्रिभंगी" (मदन गोपाल)
(iii) "ठुमकत गति अति उताल" (सूरदास)
(iv) "पग ठुमक के बाजे"[52]

साधारणतया पृथ्वी पर पैरों के कठोर आघात को ठोकर शब्द से व्यक्त किया जाता है, जिसके मूल में शुष्क ध्वनि वाला ठोक शब्द हैं किंतु पैरों के पटकने में जब मृदुता, लय और गुंजन ध्वनि का भी समावेश हो जाता है तब ठुमक शब्द का व्यवहार किया जाता है, जिसके मूल में गुंजन ध्वनि वाला ठुम शब्द है। इसीलिए 'लय सहित थोड़े-थोड़े अंतर पर रुकते हुए नूपुर या घुँघरू की गुंजन ध्वनि युक्त मृदु पदाघात की क्रिया' को ठुमकना और ठुमकने के भाव को ठुमक कहते हैं।[53] ठुमक युक्त होने के कारण ही ब्रज प्रदेश में नटिनियों द्वारा किए जाने वाले एक नृत्य को 'ठुमका' कहा जाता है।[54]

'थोड़े-थोड़े कालांतर पर रुकावट' के अर्थ की अभिव्यक्ति करने के कारण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'ठुमक' शब्द का संबंध विशेषकर 'चाल' से भी है। इसीलिए शिशुओं या युवतियों के द्वारा उमंग-सहित शीघ्रतापूर्वक थोड़े-थोड़े अंतर पर पैरों को पटककर ठिठकते हुए चलने वाली लुभावनी चाल के लिए भी ठुमक शब्द का प्रयोग किया जाता है।[55] जैसे : ठुमक (ठुमकि) चलत रामचन्द्र बाजत पैंजनियाँ ॥ (तुलसीदास)

व्याकरण के अनुसार ठुमक शब्द का प्रयोग संज्ञा, विशेषण तथा क्रिया विशेषण के रूप में किया जाता है, जैसे ठुमक (संज्ञा), ठुमक चाल (विशेषण), तथा ठुमक या ठुमकि चलत (क्रियाविश्लेषण) इत्यादि।

ठुमक शब्द का संज्ञा रूप, संस्कृत के 'स्वार्थे कन्' प्रत्यय से संबंधित है। पाणिनीय सूत्र 'संज्ञायाम् कन् (5-3-87)' के अनुसार किसी शब्द को स्व-अर्थ संज्ञा बनाने के लिए 'कन्' प्रत्यय जोड़ा जाता है, जैसे वंश=वंशक, वेणु=वेणुक, गीत=गीतक इत्यादि। 'कन्' प्रत्यय से प्राय: अर्थ में परिवर्तन नहीं होता, जैसे बाल और बालक दोनों शब्द एक ही अर्थ को अभिव्यक्ति करते हैं। इसी प्रकार ठुम और ठुमक में कोई भेद नहीं है।

अपभ्रंशों से निकली व्रज, अवधी तथा भोजपुरी आदि उत्तर भारत की लोक-भाषाओं में 'करके' या करते हुए' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए शब्दांत में '-क' का प्रयोग किया जाता है, जैसे लचक चले, ठुमक चलत, चमक बिजरिया इत्यादि। उत्तर भारत की ही नहीं अपितु द्रविड़ भाषाओं में भी '-क' या 'क्क' का प्रयोग इसी अर्थ में दिखाई पड़ता है, जैसे इरुक्कै (होकर)।

"प्राकृत वैयाकरणों के निर्देश का अनुगमन करने से यह बात प्रतीत होती है कि आधुनिक भारतीय आर्यभाषा के '-अक' और मध्यभारतीय आर्यभाषा के — '-अक्क' का संबंध क्रियामूलक विशेषण (participle)-अ (न) त-+कृत< √कृ से से है"।[56] अत- ऐसा लगता है कि उत्तर भारतीय लोकभाषाओं में '-क' का विकास संस्कृत के कृत तथा √कृ के अन्य रूपों से हुआ है, जैसे झंकृत से झनक और टंकृत से टनक इत्यादि। इसी प्रकार ठम और ठुम शब्दों में लोक-भाषाओं का '-क' संयुक्त होकर ठमक और ठुमक शब्द बने, जो कि 'ठम अथवा ठुम करके' अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, जैसे धनि ठमकि ठमकि चलि जाय (पदावली) तथा ठुमक (या ठुमकि) चलत रामचन्द्र बाजत पैंजनियाँ (विनय पत्रिका) इत्यादि।

प्राकृत पाली और अपभ्रंशों की परंपरा में 'ऋ' का परिवर्तन अ, इ और उ[57] में होने के कारण संस्कृत का '-कृ' लोकभाषाओं में '—क' '—कि' तथा '—कु' के रूप में प्रयुक्त होता है। उदाहरण के तौर पर संस्कृत का चमत्कृत शब्द आधुनिक लोकभाषाओं में चमक, चमकि तथा चमकु हो गया। इसी प्रकार ठमक, ठमकि, ठुमक, ठुमकि, ठुमकु, ठुमुकि तथा ठुमुकु इत्यादि शब्द-रूपों में भी यही प्रभाव दिखाई पड़ता है।

ठुमरी शब्द के दूसरे अंश 'री' की व्याख्या विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ढंग से की है। स्व० आचार्य कैलासचन्द्रदेव बृहस्पति ने 'री' का अर्थ 'नायिका का अंतरंग सखी को संबोधन'[58] और स्वर्गीय गिरजाशंकर चक्रवर्ती ने 'रिझाना' माना है।[59] श्री सुनीलकुमार बोस ने अपने गुरु चक्रवर्ती महोदय के ही मत का अनुसरण करते हुए 'री' को 'राधा द्वारा कृष्ण के मन को रिझाने' के भावमय अर्थ में ग्रहण किया है।

लोकभाषाओं में री, अरी, हे री, ए री इत्यादि शब्द अंतरंग सखी के संबोधन की अभिव्यक्ति अवश्य करते हैं, जैसे री सखी, री आली, सखी री, सजनी री, आली री, अरी सखी, अरी आली, हेरी सखी, ए री सखी, ए री आली, हे री इत्यादि। परंतु भाषा में इनका प्रयोग शब्द से अलग ही होता है। किसी शब्द के बाद उससे संलग्न होकर, विभक्ति या प्रत्यय के रूप में, संबोधनसूचक 'री' का प्रयोग लोकभाषाओं में नहीं दिखाई पड़ता। अतः 'ठुम' शब्द के साथ संबोधनवाची 'री' के संयुक्त होने की कल्पना अव्यावहारिक है। इसी प्रकार 'रिझाना' शब्द में 'रि' ह्रस्व होने के कारण 'ठुमरी' शब्द के दीर्घ ईकारांत 'री' से उसका तालमेल ठीक नहीं बैठता। अतएव 'री' के संबंध में आचार्य बृहस्पति, श्री चक्रवर्ती तथा श्री बोस की इन व्याख्याओं में भावात्मक कल्पना का प्राधान्य और भाषा-वैज्ञानिक तथ्यों का अभाव दिखाई पड़ता है।

यद्यपि स्वर्गीय चन्द्रशेखर पंत ने 'री' को संबंधसूचक कारक की विभक्ति मानते हुए भाषाशास्त्रीय व व्याकरणिक नियमों के अनुसार उसकी व्याख्या करने का प्रयत्न अवश्य किया है,[61] किंतु 'ठुमरी' शब्द में 'री' यदि संबंध को प्रकट करने वाली षष्ठी विभक्ति है तो उसके पश्चात् किसी संज्ञा द्वारा संबंध के अर्थ की पूर्ति होना आवश्यक है। अन्यथा विभक्ति का कार्य पूरा नहीं होता। स्वर्गीय पंत जी द्वारा, अपने मत की पुष्टि में दिए गए उदाहरण 'किसन रुक्मिणी री वेलि'[62] से भी यह बात स्पष्ट होती है।

हिंदी तथा अन्य सहयोगी भाषाओं में संबंधवाचक विभक्ति दो शब्दों के बीच संबंध स्थापित करती है, जैसे राम की लड़की (हिंदी), रामेर मेये (बंगला), रामर छोवाली (आसामी), राम दी कुड़ी (पंजाब), राम री छोरी (राजस्थानी), थारी दासी (राजस्थानी), इत्यादि। स्वयं पंत जी द्वारा दिए गए राजस्थानी भाषा के उदाहरण 'किसन रुक्मिणी री वेलि' में 'री' विभक्ति 'किसन' और 'रुक्मिणी' का संबंध 'वेलि' (विवाह) से प्रकट करती है। इसी प्रकार ठुमरी शब्द में भी 'री' यदि संबंधसूचक विभक्ति के रूप में व्यवहृत हुई होती तो संबंध की पूर्ति करने वाला कोई शब्द उसके आगे अवश्य होता। परंतु ऐसा न होने के कारण, श्री चन्द्रशेखर पंत का यह मत ठीक नहीं प्रतीत होता।

किसी शब्द के साथ विभक्ति लगने पर विभक्ति की कार्यपूर्ति के लिए अन्य किसी शब्द की आवश्यकता होती है। किंतु शब्द के बाद प्रत्यय लगने पर, मुख्य शब्द का अर्थ स्वयं में ही परिपूर्ण हो जाने के कारण, उसे अन्य किसी शब्द पर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निर्भर नहीं रहना पड़ता, जैसे—गँवार, अर्थात् गाँव वाला। यहाँ गाँव शब्द में 'वाला' सूचक 'वार' प्रत्यय लगकर 'गाँव वाला मनुष्य' का पूरा अर्थ अभिव्यक्त हो रहा है। 'मनुष्य' शब्द के अभाव में भी यहाँ पर 'वार' प्रत्यय द्वारा ही उसके अर्थ की अभिव्यक्ति परिपूर्ण हो जाती है। इसी प्रकार ठुमरी शब्द में भी 'री' का व्यवहार विभक्ति के रूप में न होकर प्रत्यय के रूप में होना अधिक तर्कसंगत, समुचित और स्वाभाविक प्रतीत होता है।

प्रत्यय के अनेक भेदों में से एक भेद मत्वर्थीय प्रत्यय भी होता है, जो किसी शब्द के साथ संलग्न होकर उसका स्वभाव और अधिकार प्रकट करता है, जैसे शक्ति+मान=शक्तिमान (शक्ति वाला पुरुष), विद्या+वान=विद्यावान=विद्वान (विद्या वाला पुरुष), बुद्धि+मती=बुद्धिमती (बुद्धि वाली स्त्री), सौभाग्य+वती= सौभाग्यवती (अच्छे भाग्य वाली स्त्री), श्याम+ल=श्यामल (श्याम वर्ण वाला पुरुष), मधु+र=मधुर (मधु वाला अर्थात् मीठा) इत्यादि।

लोकभाषाओं में भी अनुकृति पर संस्कृत प्रत्ययों का व्यवहार मूल अथवा कुछ परिवर्तित रूप में होता रहता है, जैसे गाड़ी+वान=गाड़ीवान (गाड़ी चलाने वाला पुरुष), कोच+वान=कोचवान (घोड़ागाड़ी चलाने वाला पुरुष), दूध+वाली =दूधवाली (दूध बेचने वाली स्त्री, ग्वालिन), घर+वाला=घरवाला (घर का स्वामी, पति), घर+वाली=घरवाली (घर की स्त्री—पत्नी), साँव (सं० श्याम)+ ल=साँवल या साँवर, साँवर (श्यामवर्ण वाला पुरुष), गाँव+वार (सं० पाल)= गंवार (गाँव वाला,-ग्रामीण-असभ्य) तथा लहु (सं० लघु)+र=लहुर[63] (लघु वाला- छोटा इत्यादि।

लोकभाषाओं में मत्वर्थीय प्रत्यय के रूप में 'र' वर्ण का व्यवहार संस्कृत के पालक या पाल शब्द के विकास, लच प्रत्यय तथा 'र' प्रत्यय इन तीन परंपराओं से आया है। संस्कृत का पालक>प्राकृत पालअ>वालअ+वाला (हिंदी) और संस्कृत का पाल>प्राकृत शब्द वाल के रूप में विकसित होकर आया है,[64] जैसे अगरवाला, अगरवाल, या अग्रवाल (अग्रसेन के वंशज—वैश्यों की जाति विशेष), संस्कृत रक्षपालक या रक्षपाल+हिंदी रखवाला या रखवाल (रक्षा करने वाला व्यक्ति), बकरवाल (बकरी चराने वाला – कश्मीर की जाति विशेष) तथा गढ़वाल (किले वाला—प्रदेश विशेष) इत्यादि। कुछ शब्द में 'व' लुप्त होकर केवल 'आला' और 'आल' संयुक्त दिखाई पड़ते हैं, जैसे घुँघराले (बहुवचन)—(घुमावदार लच्छे वाले) तथा धमाल (धम वाला —गीत भेद विशेष) इत्यादि। संस्कृत के 'आलअ,' 'आलुअ', 'आल' तथा 'आलु' इत्यादि मत्वर्थीय प्रत्ययों का व्यवहार प्राकृत भाषा में अधिक मिलता है।[65] अतएव आधुनिक लोकभाषाओं में 'आला' और 'आल' प्रत्ययों की परंपरा प्राकृत के 'आलअ' और 'आल' प्रत्ययों से आई है।

संस्कृत के लच प्रत्यय का 'ल'[66] वर्ण भी 'वाला' के अर्थ में लोकभाषाओं में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यवहार किया जाता है, जैसे सांवल (श्यामवर्ण वाला) तथा काजल (काला वाला) इत्यादि।

'रलयोरभेदः'[67] के अनुसार लोकभाषाओं में वाला, वाल, आला, आल तथा ल के स्थान पर क्रमशः वारा, वार, आरा, आर तथा र का प्रयोग भी दिखाई पड़ता है, जैसे रखवाला या रखवारा, रखवाल या रखवार, धमाल या धमार, सांवल या सांवर, काजल या काजर तथा कजली या कजरी इत्यादि। शिष्ट हिंदी में जहाँ 'ल' का प्रयोग है, वहाँ बोलियों में प्रायः 'र' का प्रयोग मिलता है, जैसे ताल=तार, काजल=काजर, कजली=कजरी इत्यादि। ब्रजभाषा में भी, 'ल' बहुधा 'र' हो जाता है, जैसे—ताल=तार, सांवल=सांवर इत्यादि।

संस्कृत में मत्वर्थीय प्रत्यय के रूप में 'र' वर्ण का भी व्यवहार होता है, जैसे—ऊष+र=ऊषर (खेती न होने वाली-बंजर भूमि), सुषि+र=सुषिर (फूंक वाला—फूंक से बजने वाले वाद्य), मुष्क+र=मुष्कर(बड़े अण्ड वाला), मधु+र=मधुर (मधु वाला—मीठा)[68]; ख+र=खर (आकाशोन्मुख बोलने वाला—गधा), मुख+र=मुखर (मुख वाला—वाचाल), कुंज+र=कुंजर (कुंज में विचरण करने वाला—हाथी)[69] इत्यादि। इसी अनुकृति पर लोकभाषाओं में भी 'र' का व्यवहार मत्वर्थीय प्रत्यय के रूप में दिखाई पड़ता है, जैसे घूंघ+र=घूंघर (घुन् घुन् ध्वनि वाला—घुँघरू), घूम+र=घूमर(घूमने वाला-वृत्ताकार घेरे में घूम-घूम कर नाचने वाला लोकनृत्य विशेष या उससे संबद्ध लोकगीत विशेष), झूम+र=झूमर (झूमने वाला—सिर में पहना जाने वाला गहना विशेष, जोकि इधर-उधर झूलता रहता है या मस्ती से भरा शृंगारिक लोकनृत्य व उससे संबद्ध लोकगीत विशेष, जो कि होली आदि सुअवसरों पर भी गाया जाता है), डग+र=डगर (डग (पैदल) वाला मार्ग, पगडंडी), लघु (संस्कृत) >लहु (हिंदी लोकभाषाएँ)+र=लहुर (लघु वाला-छोटा, छोटाई छोटापन) इत्यादि।

वररुचि के अनुसार प्राकृत भाषाओं में स्त्रीलिंग प्रत्यय के रूप में '—आ' और '—ई' का प्रयोग बहुलता से होता है।[70] अतः परवर्ती भाषाओं में भी यह परंपरा आई। स्त्रीलिंग प्रत्यय '—ई' का मूल संबंध संस्कृत के '—इका' प्रत्यय से है, जैसे संस्कृत में देव+इका=देविका और हिंदी या अन्य लोकभाषाओं में देव+ई=देवी। इसी प्रकार संस्कृत में कालिका और हिंदी में काली इत्यादि। मूलतः वस्तुओं के लघुत्व को प्रकट करने के लिए इसका व्यवहार होता था। स्त्रीत्व के साथ कोमलता, लघुता के भावों का घनिष्ठ संबंध होने से यह स्त्रीलिंग प्रत्यय बन गया। हिंदी और उसकी लोकभाषाओं (बोलियों) में लघुता या स्त्रीलिंग का बोध कराने के लिए शब्दांत में अधिकतर '—ई' स्वर का व्यवहार किया जाता है,[71] जैसे घरवाली (गृहिणी—पत्नी), गँवारी (गाँववाली—असभ्य स्त्री), घुँघराली(घुमावदार छल्लों वाली), धमाली या धमारी (धूमधाम वाली—होली गीत), सांवली या सांवरी (श्याम वर्णा वाली स्त्री) तथा लहुरी (छोटी वाली) इत्यादि। इसी प्रकार ठुमरी शब्द में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भी 'ठुम' के साथ मत्वर्थीय 'र' प्रत्यय का स्त्रीलिंग रूप 'र+ई'='री' व्यवहृत हुआ है।

ठुमरी शब्द में 'री' का विकास यदि 'वारी' या 'आरी' से हुआ होता तो इसका पूर्ववर्ती रूप 'ठुम्वारी' या 'ठुमारी' होता और यदि लच प्रत्यय के 'ल' से इसका संबंध होता तो 'साँवरी' शब्द के पूर्व रूप श्यामली या साँवली तथा धमारी व कजरी गीत-भेदों के क्रमश: 'धमाली' व 'कजली' नामों की भाँति ही 'ठुमरी' शब्द का पूर्ववर्ती रूप 'ठुमली' भी कहीं-न-कहीं अवश्य मिलता। परंतु ऐसा न होने के कारण 'ठुमरी' शब्द में मत्वर्थीय 'र' प्रत्यय का स्त्रीलिंग रूप 'री' होना ही संभव है। जॉन टी० प्लाट्स और राल्फ़ लिली टर्नर प्रभृति सुप्रसिद्ध भाषाविदों के अनुसार भी ठुमरी' शब्द में 'री' की स्थिति मत्वर्थीय स्त्रीलिंग प्रत्यय के रूप में ही है।[72] अतएव 'ठुम' के साथ 'र+ई'='री' (स्त्रीलिंग) प्रत्यय संयुक्त होकर 'ठुमरी' शब्द वनना ही अधिक तर्कसंगत व स्वाभाविक है, जिसका शब्दार्थ 'नृत्यवाली गेय रचना' है और इसी का व्यापक अर्थ 'नृत्य के साथ गाई जाने वाली या नृत्य करते हुए गाई जाने वाली गेय रचना' होता है।

व्युत्पत्ति तथा विकास की दृष्टि से हिंदी और उसकी उपभाषाओं के समस्त शब्दों को साधारणतया तत्सम, तद्भव, देशी या देशज और विदेशी नामक चार वर्गों के अंतर्गत रखा गया है। जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :

तत्सम का अर्थ है—'उसके अर्थात् संस्कृत के समान।' अत: अपने मूल संस्कृत रूप में हिंदी में प्रचलित शब्द 'तत्सम' कहलाते हैं, जैसे अग्नि, कर्म, भक्त, यमुना इत्यादि[73]।

तद्भव का अर्थ है 'उससे अर्थात् संस्कृत से निकला हुआ।' अतएव तद्भव शब्द संस्कृत शब्दों के विकसित और परिवर्तित वे रूप हैं जो प्राकृत और अपभ्रंशों से होते हुए हिंदी में आए, जैसे आग, काम, भगत, जमुना इत्यादि।[74]

वोलचाल की भाषा में स्वत: विकसित होने वाले शब्द देशी या देशज कहलाते हैं। इन शब्दों का मूल संस्कृत में नहीं मिलता। किसी ध्वनि या कार्य की अभिव्यक्ति के लिए जन-साधारण द्वारा सहज अंत:प्रेरणा से निर्मित शब्द देशी वर्ग के अंतर्गत आते हैं,[75] जैसे ठेस, ठोकर, घूँसा, इत्यादि।

हिंदी में अरबी, फ़ारसी, तुर्की, अंग्रेज़ी, फ्रेंच, तथा पोर्तुगीज़ इत्यादि विदेशी भाषाओं से लिए गए शब्द विदेशी वर्ग में आते हैं[76] जैसे, मालिक, बुख़ार, दवा, इम्तिहान, औरत, सिफ़ारिश, तनखाह, मुक़दमा (अरबी); चादर, चश्मा, प्याला, उम्मेदवार, कमर, ख़र्च, गुलाब, दुकान (फ़ारसी); तोप, लाश (तुर्की), कोट, टिकट, स्टेशन, रेल, डॉक्टर, स्कूल (अंग्रेज़ी); रेस्तराँ (फ्रेंच); और कमीज़, कमरा, नीलाम, पादरी (पोर्तुगीज़) इत्यादि।

हिंदी भाषा का जन्म दसवीं शताब्दी ई० से माना जाता है। अत: जो शब्द

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दशवीं शती से आज तक हिंदी भाषा की अपनी बोलचाल में बने या विकसित हुए उन्हें ही देशी या देशज कहा जाता है। संभवतः साधारण बोलचाल व ब्रजभाषीय शब्द होने के कारण ही हिंदी के शब्दकोषों में ठुमरी को प्रायः देशज शब्द माना गया है। किंतु टी० प्लाट्स तथा आर० एल० टर्नर प्रभृति विद्वानों के अनुसार, ठुमरी शब्द मूलतः संस्कृत के स्तुभ् अथवा स्तुम्भ् धातु से संबंधित होने के कारण,[77] तद्भव शब्दों के अंतर्गत आता है।

प्राकृत भाषाओं के विद्वान डॉ० रिचर्ड पिशल के मतानुसार तद्भव शब्द के साध्यमान संस्कृतभवाः और सिद्ध संस्कृतभवाः दो भेद हैं। उपसर्ग या प्रत्ययरहित शब्द अर्थात् संस्कृत प्रातिपादिकों से संबंधित शब्द साध्यमान तद्भव और व्याकरण सिद्ध शब्द-रूपों अर्थात् संस्कृत पदों से निकले शब्द सिद्ध तद्भव शब्दों के अंतर्गत आते हैं, जैसे वंदित्वा (संस्कृत)>वंदित्ता (अर्धमगधी)।[78]

ठुमरी शब्द का निर्माण हिंदी भाषा के अंतर्गत दसवीं शताब्दी के बहुत बाद में होने पर भी इसके मूल तत्त्वों की परंपरा संस्कृत तक पहुँचती है। अतः इसे 'साध्यमान तद्भव' शब्दों को श्रेणी के अंतर्गत मानना उचित होगा।

इस प्रकार ठुमरी शब्द के संबंध में विस्तृत रूप से विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि यह हिंदी के अंतर्गत मूलतः ब्रजभाषा का संज्ञा स्त्रीलिंग शब्द है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से संस्कृत के 'स्तुम्भ्' धातु से विकसित 'ठुम' के साथ मत्वर्थीय 'र' प्रत्यय के स्त्रीलिंग रूप 'री' (र+ई) के संयोग से बना 'ठुमरी' 'साध्यमान तद्भव' श्रेणी का शब्द है जिसका अर्थ 'नृत्य के साथ गाई जाने वाली गेय रचना' होता है। अत. व्युत्पत्तिगम्य अर्थ से ठुमरी के मूलतः 'नृत्यगीत' होने का आभास मिलता है।

यह कह सकना कठिन है कि ठुमरी शब्द वस्तुतः किस समय निर्मित और प्रचलित हुआ। ठाकुर जयदेव सिंह ने ठुमरी का प्रचलन लगभग दो सौ वर्षों से मानते हुए उसे नृत्य और अभिनय से संबंधित माना है।[79]

हिंदी और उसकी सहायक भाषाओं में ठुम, ठुमक, ठम, ठमक इत्यादि शब्दों का अस्तित्व ईसा की लगभग चौदहवीं और पंद्रहवी शताब्दी से नृत्य संबंधी सूफ़ी और वैष्णव गेय काव्यों में मिलने लगता है। इन शब्दों के परिवार और विकास परंपरा का शब्द होते हुए भी 'ठुमरी' का उल्लेख अभी तक फ़क़ीरुल्लाह कृत सत्रहवीं शताब्दी के रागदर्पण ग्रंथ के पूर्व कहीं नहीं मिला है।[80]

ईसा की चौदहवीं शताब्दी में बुरहानपुर के सुप्रसिद्ध सूफ़ीसंत शेख़ बहाउद्दीन बाजन (जन्म 1388 व मृत्यु 1506 ई०) की दक्खिनी हिंदी की काव्य-रचनाओं में 'ठुमके'[81] और पंद्रहवी शताब्दी के गुजराती कृष्ण भक्त वैष्णव कवि नरसिंह (नरसी) मेहता के राससहस्रपदी के गेय पदों में नृत्यवाचक ठम, ठमके, ठमकावे इत्यादि शब्दों का कई स्थानों पर प्रयोग मिलता है, जैसे—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(i) "मंदल मन में धमके, रबाब रंग में झमके,
सूफी इन पर ठुमके, यों बाजन बाजे रे, असरार साजे।"
(शेख बहाउद्दीन बाजन)

(ii) "इहाँ ठम ठम ठमके रे" (भक्त नरसी मेहता)
(iii) "ठमके नेपुरिया बाजे रे" (" " ")
(iv) "नेपुरिया ठमकावे रे" (" " ")

नरसी भक्त ने तो अपने गेय पदों के शीर्षक में उनके धुन, राग या गीत प्रकारों का निर्देश भी किया है। इन पदों में से रासनृत्य-संबंधी एक पद का शीर्षक 'ट्ठुं' (सही उच्चारण 'ठ्ठुम्') निर्दिष्ट है। वह पद इस प्रकार है :

पद-106 'ट्ठुं'

ओ वाजे वृन्दावन मोरलो, गोविंद गोपी रास रमे,
केशव श्याम गौर वरण गोपी, भली अनोपम भातभजे ॥1॥ ओ वाजे
अजवाली रात झघारे जाए, नवरस नाटक नाथ रच्यो,
थेई थेईकार करे रसे गोपी, रंगतणो त्यां अखाडो मच्यो ॥2॥ ओ वाजे
शणगटडे द्वे फुमत फरके, वली, नयणा कटाक्ष कर खंब धरी,
ताली दई दई हसे हसावे, नाचे नचावे रंग भरी ॥3॥ ओ वाजे
श्रमजलकण मुख अंग अलसणाँ, अतिरस सार विनोदक्ष्यो,
शीतल जल लईने आरोग्या, चरण तलासे नरसैंयो ॥4॥ ओ वाजे[83]

यह उल्लेखनीय है कि इस पद में रास के अंतर्गत संगीत, नृत्य और नाट्य (अभिनय) तीनों के समन्वित प्रयोग का वर्णन किया गया है।

आगे चलकर सत्रहवीं शताब्दी में फ़क़ीरुल्लाह कृत रागदर्पण ग्रंथ में बरवा धुन या राग को ठुमरी कहा गया है।[84] उसी शताब्दी के मिर्जा खान कृत तोहफ़तुलहिन्द[85] और अठारहवीं शताब्दी में जयपुर के राजा सवाई प्रतापसिंह कृत श्रीराधागोविन्द संगीतसार ग्रंथ में भी ठुमरी का उल्लेख एक राग[86] के रूप में मिलता है। गीत के रूप में तो ठुमरी का नृत्याभिनय से संबंध स्पष्ट ही है। अतः इन सूत्रों और भाषाशास्त्रीय शब्द-व्युत्पत्ति व विकास की दृष्टि से ठुमरी शब्द की शृंखला, पंद्रहवीं शताब्दी में व्यवहृत होने वाले, नृत्याभिनय से संबद्ध रास के 'ट्ठुं' नामक धुन, राग या गीत से जुड़ती है। 'ट्ठुं' शब्द से कालांतर में 'ठुमरी, शब्द के विकास की परिकल्पना 'ट्ठुं' (ठुम्)>ठुम+र+ई=ठुमरी, की जा सकती है जो कि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से नियमानुकूल, तर्कसंगत और तथ्यपूर्ण है। अतएव इस आधार पर 'ठुमरी' शब्द की व्युत्पत्ति और प्रचलन का आरंभ लगभग पंद्रहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के बीच कहीं माना जा सकता है। इस प्रकार इन तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय संगीत में ठुमरी शब्द प्रायः चार सौ वर्षों से अवश्य प्रचलित है और मूलतः यह नृत्य-गीतों के लिए व्यवहृत होता था।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मूलतः नृत्य से संबद्ध होने पर भी, कालांतर में नृत्य से पृथक् होकर गीत की विशेष विधा के रूप में ठुमरी का स्वतंत्र रीति से विकास हुआ और आगे चलकर उसकी कई गान-शैलियाँ भी विकसित हुईं। गान की विशिष्ट विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर बाद में ठुमरी को नृत्याभिनय के साथ गाया जाना आवश्यक नहीं रहा। अतएव 'ठुमरी' शब्द के अर्थ में, नृत्य की संबद्धता भी धीरे-धीरे समाप्त-प्राय हो गई और उसके शब्दार्थ में परिवर्तन आ गया। ठुमरी प्रारंभ से ही एक माधुर्य गुण संपन्न शृंगारिक गेयविधा रही है। इसीलिए आगे चलकर 'ठुमरी' शब्द का अर्थ 'शृंगारात्मक गेयविधा विशेष' के रूप प्रचलित हो गया। वर्तमान समय में ठुमरी शब्द का यही अर्थ साधारण जनसमाज में परिचित व प्रचलित है।

संदर्भ-संकेत

1. Turner, R.L., *A Comparative and Etymologicol Dictionary of the Nepali Language*, 252.
2. दास, ज्ञानेन्द्र मोहन, "बांगला भाषार अभिधान", पृष्ठ 917.
3. 'सुमन' डॉ० अम्बाप्रसाद, "हिंदी और उसकी उपभाषाओं का स्वरूप", भूमिका, पृष्ठ 1.
4. वही भूमिका, पृ० 1.
5. Willard, N. Augustus, *A Treatise on the Music of Hindoostan*; of the various species, p. 103.
6. (अ) 'सुमन', डॉ० अम्बाप्रसाद, "कृषक जीवन संबधी ब्रजभाषा शब्दावली" (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ 362 (आ) टंडन, प्रेमनारायण, "ब्रजभाषा सूर-कोष", पृ० 702.
7. (अ) जोशी, श्री ध्रुवतारा : भेंटवार्ता में बताए गए तथ्यों के अनुसार.
(आ) जोशी, डी० टी०, नवनीत (हिंदी डाइजेस्ट), जनवरी 1959, पृष्ठ 60.
8. पंडित अहोवल, "संगीत पारिजात", श्लोक सं० 374.
9. शर्मा, डॉ० गोविन्द, "डिंगल साहित्य" (प्राकृत और अपभ्रंश का प्रभाव), पृ० 232 व 233.
10. सक्सेना, डॉ० बाबूराम, "सामान्य भाषाविज्ञान", पृ० 33।
11. वाजपेयी, पं० किशोरीदास, "हिंदी शब्दानुशासन" पृ० 95, 98।
12. सक्सेना, डॉ० बाबूराम, "सामान्य भाषा विज्ञान", 1953, पृ० 33.
13. पिशल, डॉ० रिचर्ड, "प्राकृत भाषाओं का व्याकरण" पैराग्राफ़ 306, पृ० 434.
14. वही पुस्तक, पृ० 436.
15. वही पुस्तक, पैराग्राफ़ 308, पृ० 437.
16. पिशल, डॉ० रिचर्ड, "प्राकृत भाषाओं का व्याकरण" पैराग्राफ़ 251, पृ० 362.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

17. ओझा, डॉ० दशरथ तथा शर्मा, डॉ० दशरथ, "रास और रासान्वयी काव्य", पृ० 60 से 90, पृ० 122 से 128 तथा पृ० 144 से 176 तक.
18. शेठ, पं० हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द; "पाइअ सद्दमहण्णवो" (प्राकृत शब्दमहार्णव), पृ० 460.
19. Shri S.S. Jain Conference, *Maharashtri & Deshya Prakrit Dictionary*, p. 304.
20. शुक्ल, डॉ० रमाशंकर 'रसाल', "भाषा शब्दकोष", पृ० 683 व 686.
21. Bose, Sunil K., *Thumari—the Love Lyrics on Radha & Krishna*, p. 1.
22. बृहस्पति, आचार्य कैलासचन्द्र देव, "ठुमरी में सनातन सांगीतिक तत्त्व", कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका (1965) पृ० 1.
23. Naina Devi, "Thumari Gayeki" "कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका (1965) पृ० 66.
24. Pant, Chandra Shekhar, "*Literary Aspect of Thumari*", कला भारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका (1965), पृ० 40.
25. 28—स्वरः सानुस्वारः परिपतति कर्म्मारविपणौ (महाकवि श्यामलिक विरचित पादताडितकम्, चतुर्भाणी, पृ० 166), अर्थात् लुहारों की दुकानों में अनुस्वार ध्वनि युक्त टं टं (या ठं ठं) ध्वनि हो रही है।
26. (i) *The Shorter Oxford English Dictionary*, p. 811.
(ii) *Dass Grosse Deutsche Woerterbuch*, p. 1555.
27. Yule, Col. Henry : *Hobson-Jobson—A Glossory of Colloquial Anglo-Indian Words*, p. 929.
28. *Folk-Dance of Maharashtra*, p. 164.
29. श्यामसुन्दर दास, "हिन्दी शब्द सागर" (चौथा भाग), पृ० 1850.
30. Monier Williams, *A Sanskrit-English Dictionary*, p. 1258.
31. पिशल, डॉ० रिचर्ड, "प्राकृत भाषाओं का व्याकरण", पैराग्राफ़ 308, पृ० 437.
32. शेठ, पं० हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द, "पाइअ सद्दमहण्णवो" (प्राकृत शब्दमहार्णव), पृ० 460, व 548.
33. देखिए—(अ) टण्डन, डॉ० प्रेमनारायण, "ब्रजभाषा सूर-कोश" (प्रथम खण्ड), पृ० 695 (ठमक व ठमकना);
(आ) तिवारी हरगोविन्द, "तुलसी शब्द सागर" पृ० 189 (ठमक);
(इ) वर्मा, रामचन्द्र, "मानक हिंदी कोश" (दूसरा खण्ड, ख-त), पृ० 450 (ठमक, ठमकना).
34. (i) Platts, John T., *A Dictionary of Urdu, Classical Hindi & English* (Part I), p. 364.
(ii) Turner, R.L., *A Comparative and Etymological Dictionary of the Napali Language*, p. 252.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

35. Monier Williams : *A Sanskrit-English Dictionary*, p. 1258, 1259 and 1260.
36. शुक्ल, डॉ० रमाशंकर 'रसाल', "भाषा शब्दकोप", पृ० 682.
37. (अ) वर्मा, रामचन्द्र, "मानक हिन्दी कोश" (दूसरा खण्ड) (ठमकना), पृ० 450.
    (आ) शुक्ल, डॉ० रमाशंकर 'रसाल', "भाषा शब्दकोप" (ठुमकना), पृ० 686.
38. Monier Williams, *A Sanskrit-English Dictionary*, p. 429 & 430.
39. (अ) इस श्लोक का उल्लेख महा० III.5 में भी है। देखिए—
    Monier, Williams, *Sanskrit-English Dictionary*, p. 5301.
40. इस श्लोक का एक अन्य पाठांतर भी प्रचलित है जिसमें 'ठ' के स्थान पर 'ट' का प्रयोग मिलता है। यथा—

    राजाभिषेके मदविह्वलायाः कक्षाच्युतो हेमघटस्तरुण्याः।
    सोपानमार्गे प्रकरोति शब्दं ट टं ट टं टं ट ट टं टः॥

41. शेठ, पं० हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द, "पाइअ सद्दमहण्णवो" (प्राकृत शब्दमहार्णव) पृ० 369—ठुंवो (सुर सुन्दरी चरिअ, बनारस, 1916, परिच्छेद 12, गाथा 67).
42. ओझा, डॉ० दशरथ तथा शर्मा, डॉ० दशरथ, "रास और रासान्वयी काव्य", पृ० 359 (पदसंख्या 118).
43. "सगीत पच्चीसी", याज्ञिक संग्रह (भटनागर, डॉ० हेम, हिंदी साहित्य के "शृंगार युग में संगीत काव्य", पृ० 269).
44. व्यास, कृष्णानंददेव, "संगीतरागकल्पद्रुम", रंगीन गान मजमुआ, पृ० 316.
45. वही पुस्तक, पृ० 103.
46. वही पुस्तक, पृ० 169.
47. वही पुस्तक, पृ० 184.
48. वसु, राजशेखर, "चलन्तिका", पृ० 266.
49. ओझा, डॉ० दशरथ तथा शर्मा, दशरथ "रास और रासान्वयी काव्य", पृ० 359.
50. वही पुस्तक, पृ० 392 व 403.
51. भटनागर, डॉ० हेम, "हिन्दी साहित्य के शृंगार युग में संगीत काव्य", पृ० 269.
52. व्यास, कृष्णानंददेव, "संगीतरागकल्पद्रुम' पृ० 316, 103, 169 व 184.
53. वर्मा, रामचन्द्र, "मानक हिन्दी कोश", (दूसरा खण्ड, ख-त), पृ० 456.
54. 'सुमन', डॉ० अंबाप्रसाद, "कृषक जीवन संबंधी ब्रजभाषा शब्दावली" (दूसरा खण्ड), पृ० 175, पैराग्राफ़ संख्या 766.
55. देखिए—(अ) "हिन्दी शब्द सागर" (चौथा खण्ड), पृ० 1924.
    (आ) "मानक हिन्दी कोश" पृ० 456.
56. तिवारी, डॉ० उदयनारायण, "भोजपुरी भाषा का साहित्य", पृ० 165.
57. पिशल, डॉ० रिचर्ड, "प्राकृत भाषाओं का व्याकरण", पैराग्राफ़ 47, पृ० 96.
58. बृहस्पति, आचार्य कैलासचन्द्रदेव, "ठुमरी में सनातन सांगीतिक तत्त्व", 'कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका (1965), पृ० 4.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

59. Bose, Sunil K., *Thumari—the Love Lyrics on Radha & Krishna*, p. 1.

60. Naina Devi, Thumari Gayeki 'कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका' (1965), पृ॰ 66.

61. Pant, Chandra Shekhar, Literary Aspect of Thumari, 'कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका', पृ॰ 40.

62. वही पुस्तक, पृ॰ 40.

63. लहुर- व्रज, अवधी, भोजपुरी आदि लोकभाषाओं में व्यवहृत.

64. तिवारी, डॉ॰ भोलानाथ, "हिन्दी भाषा", पृ॰ 140 व 141.

65. पिशल, डॉ॰ रिचर्ड, "प्राकृत भाषाओं का व्याकरण", पैराग्राफ़ 595, पृ॰ 841.

66. पाणिनि, 'अष्टाध्यायी', 5/2/97.

67. Whitney, W.D., *Sanskrit Grammer*, Paragraph Nos. 1206, 1226 and 1227.

68. ऊपसुषिमुष्कमधो रः ॥ (पाणिनि, 'अष्टाध्यायी' 5/2/107).

69. र प्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्यः उपसंख्यानम् ॥ (कात्यायन, वा॰ 3198).

70. आदीतो वहुलम् ॥5-24॥ (वररुचि, "प्राकृत प्रकाश").

71. (अ) तिवारी, डॉ॰ उदयनारायण, "हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास", पृ॰ 424.
(आ) तिवारी, डॉ॰ उदयनारायण, "भोजपुरी भाषा और साहित्य" द्वितीय खंड (व्याकरण), पृ॰ 162.

72. (i) Platts, John T., *A Dictionary of Urdu, Classical Hindi and English* (Part I), p. 364.
(ii) Turner, R.L., *A Comparative and Etymological Dictionary of the Nepali Language*, p. 252.

73. पिशल, डॉ॰ रिचर्ड, "प्राकृत भाषाओं का व्याकरण", पैराग्राफ़ 8, पृ॰ 12.

74. वही पुस्तक, पैराग्राफ़ 8, पृ॰ 12.

75. 'सुमन', डॉ॰ अम्बाप्रसाद, "हिन्दी और उसकी उपभाषाओं का स्वरूप", पृ॰ 38.

76. वर्मा, डॉ॰ धीरेन्द्र, "हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास", पृ॰ 304 व 311.

77. (i) Platts, John. T, *A Dictionary of Urdu, Classical Hindi and English* (Part I), p. 364.
(ii) Turner, R.L., *A Comparative and Etymological Dictionary of the Nepali Language*, p. 252.

78. पिशल, डॉ॰ रिचर्ड, "प्राकृतिक भाषाओं का व्याकरण", पैराग्राफ 8, पृ॰ 12.

79. Thakur Jaideva Singh, Evolution of Thumari, कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका (1965), पृ॰ 36.

80. फ़कीरुल्लाह, "रागदर्पण" पृ॰ 85.

81. आचार्य वृहस्पति, "मुसलमान और भारतीय संगीत", पृ॰ 110.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

82. ओझा, डॉ० दशरथ व शर्मा, डॉ० दशरथ, "रास और रासान्वयी काव्य", पृ० 359, 327, 329.

83. वही पुस्तक, पृ० 355.

84. मजादात व नग़मा के दरां वरव: मी ख़ानंद व विलफ़ेल ज़वाँ ज़द रोज़गार वह वरवा व वाज़े ठुमरी गोयन्द" फ़क़ीरुल्लाह, "रागदर्पण", पृ० 85.

85. मिर्ज़ा खान, "तोहफतुलहिंद", पृ० 400 व 419.

86. सवाई प्रतापसिंह देव, "श्रीराधागोविन्द संगीतसार", रागाध्याय, पृ० 285, 286

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

2

ठुमरी और नृत्य

नृत्य ग्रौर गीत

शब्द-व्युत्पत्ति, भाषाशास्त्रीय विकासक्रम, व्याकरण तथा ग्रर्थ से ज्ञात होता है कि ठुमरी मूलतः एक नृत्य-गीत है। ग्रतः नृत्यकला से ठुमरी के संबंधों की विवेचना ग्रावश्यक हो जाती है।

विश्व की समस्त जातियों में गान, नृत्य ग्रौर ग्रभिनय का ग्रस्तित्व बहुत पुराने समय से मिलता है। भारत में भी इन कलाग्रों की परंपरा बड़ी पुरानी है ग्रौर इसकी पुष्टि वेदों से होती है। ग्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के ग्रनुसार सन् 1869 ई० में सुप्रसिद्ध विद्वान मैक्समूलर ने प्रथम मंडल के 165वें सूत्र में, जिसमें इन्द्र ग्रौर मरुतों की बातचीत है, ग्रनुमान किया था कि यज्ञ में यह संवाद ग्रभिनीत किया जाता था। 1890 ई० में प्रो० लेवी ने भी इस बात का समर्थन किया था। प्रो० लेवी ने यह भी बताया था कि वैदिक काल में गाने की प्रथा काफ़ी प्रौढ़ हो चुकी थी। इतना ही नहीं, ऋग्वेद (1/92/4) में ऐसी स्त्रियों का उल्लेख है जो उत्तम वस्त्र पहनकर नाचती थीं ग्रौर प्रेमियों को ग्राकृष्ट करती थीं। ग्रथर्ववेद (7/1/41) में पुरुषों के भी नाचने ग्रौर गाने का उल्लेख है।[1]

प्रो० फान श्रडेर ने बताया था कि ऋग्वेद में ग्राए हुए संवाद प्राचीनतर भारोपीय काल के ग्रार्यों में प्रचलित नाच-गान ग्रौर ग्रभिनय के उत्तरकालीन रूप होंगे।[2]

ग्राचिक ग्रौर उत्तराचिक, ये सामवेद के दो भाग हैं: ग्राचिक ग्रर्थात् ऋचाग्रों का संग्रह। इसमें 585 ऋचाएँ हैं। विंटरनित्स ने कहा है कि इसकी तुलना एक ऐसी गान-पुस्तक से की जा सकती है जिसमें गान के केवल एक-एक ही पद्य, लय या सुर की याद दिलाने के लिए संग्रह किए गए हों। दूसरी ग्रोर उत्तराचिक ऐसी पुस्तक से तुलनीय हो सकता है जिसमें पूरे गान संग्रहीत होते हैं ग्रौर यह मान लिया गया होता है कि सुर या लय पहले से ही जाने हुए हैं। कहने का ग्रर्थ है कि सामवेद एक ग्रत्यधिक समृद्ध संगीत परंपरा का परिचायक ग्रंथ है।[3]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यजुर्वेद में कुछ ऐसे अंश अवश्य मिल जाते हैं जो यज्ञक्रिया की विधियों को बताते हैं, जिनमें थोड़े बहुत ऐसे कार्य होते हैं जो अभिनय की कोटि में आ सकते हैं। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि यज्ञक्रिया के अनुष्ठान में ऐसी कुछ बातें आ मिली हैं जो उन दिनों के साधारण नाच-गान और तमाशों से ली गई होंगी। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसे लोक-नृत्य और लोक-नाट्य उन दिनों अवश्य ही प्रचलित थे। **कौशीतकी ब्राह्मण** (24/5) में नृत्य-गीत आदि को कलाओं में गिनाया गया है। इसलिए यह सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है कि उन दिनों लोक में बहुत से नृत्य, गीत, नाट्य प्रचलित थे।[4]

वैदिक युग से चली आ रही गान, नृत्य और अभिनय की इस परंपरा का अत्यंत विकसित रूप आगे चलकर भरत मुनि के **नाट्यशास्त्र** में मिलता है। नाट्य-शास्त्र के आरंभ में दी गई कथा के अनुसार त्रेतायुग में ब्रह्मा ने **ऋग्वेद** से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और **अथर्ववेद** से रस का संग्रह करके नाट्यवेद बनाया और देवताओं को नाट्यकर्म के ग्रहण, धारण, ज्ञान तथा प्रयोग में असमर्थ जानकर भरतमुनि को नाट्यवेद के प्रयोक्ता बनने का आदेश दिया। ब्रह्मा की आज्ञा से भरत ने अपने सौ पुत्रों को नाट्यवेद की शिक्षा दी और इस प्रकार यह नाट्यवेद संसार में प्रचलित हुआ।[5]

नंदिकेश्वर के कथनानुसार ब्रह्मा ने ऋग्, यजुः, साम और अथर्व वेदों से क्रमशः पाठ्य, अभिनय, गीत और रस का संग्रह करके धर्म, काम, अर्थ, मोक्षदायक नाट्य का निर्माण किया।[6] ब्रह्मा ने वह नाट्यवेद सबसे पहले भरत को दिया। भरत ने गंधर्व और अप्सराओं के साथ शिव के सामने नाट्य, नृत्त और नृत्य के रूप में उसका प्रयोग किया।[7]

भरतादिक मुनियों ने इस चतुर्विध (पाठ्य, अभिनय, गीत और रस) संपन्न नटन के नाट्य, नृत्त और नृत्य यह तीन भेद बताए हैं।[8] पूर्वकथा से युक्त नाट्य या नाटक, भावाभिनय से रहित नृत्त और रसभावव्यंजना से युक्त नृत्य होता है।[9]

मुंजराज (974-985 ई०) के सभासद विष्णु-पुत्र धनंजय ने नाट्यशास्त्र के बीसवें अध्याय 'दशरूपविधान' के आधार पर **दशरूपक** नामक ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ की संक्षिप्त कारिकाओं के अर्थ को स्पष्ट करने के उद्देश्य से धनंजय के भाई धनिक ने **अवलोक** नामक वृत्ति लिखी। अतएव भारतीय दृष्टिकोण से नाट्य, नृत्त और नृत्य को समझने के लिए **दशरूपक** और **अवलोक** दोनों के अध्ययन का बहुत महत्व है।

दशरूपक के अनुसार अवस्था की अनुकृति को नाट्य कहते हैं, जो कि रसाश्रित और दस प्रकार का होता है। नृत्य, भावों पर आश्रित रहता है और वह नाट्य से भिन्न होता है। ताल और लय को आश्रय करके नृत्त किया जाता है। इनमें से नृत्य, जो कि पदार्थाभिनयी है, उसे मार्ग और नृत्त को देशी कहा जाता है।[10]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धनिक की वृत्ति के अनुसार काव्य में वर्णित धीरोदात्त आदि नायकों की अवस्था का चार प्रकार के अभिनय (आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक) द्वारा ऐसा अनुकरण जो उन नायकों से दर्शकों का तादात्म्य स्थापित करा सके, नाट्य कहलाता है।[11]

नर्तक द्वारा किया जाने वाला, गात्रविक्षेपार्थक 'नृत' धातु से बना, आंगिक क्रिया बहुल, प्रेक्षणीयक, भावाश्रय नृत्य, रसाश्रय नाट्य से भिन्न ही है। पदार्थों के विभावादिकों के संसर्ग से वाक्यार्थ का बोध होता है और वाक्यार्थ के अभिनय से रसाश्रय (नाट्य) प्रदर्शित होता है। अवस्पंदन अर्थात् किंचित् चलनार्थक नट् धातु से बने नाट्य में सात्त्विक अभिनय की प्रधानता रहती है, अतः इसके करने वाले को नट कहते हैं। नृत्य और नृत्त दोनों में गात्र विक्षेप (अंग-संचालन) की समानता होने पर भी जिस प्रकार अनुकारात्मक (नकल या अभिनय प्रधान) होने के कारण नृत्य, नृत्त से भिन्न है, उसी प्रकार वाक्यार्थाभिनयात्मक (वाक्यों के अर्थ के अनुसार किए जाने वाले अभिनय प्रधान) नाट्य से पदार्थाभिनयात्मक (शब्दों के अर्थ के अनुसार किये जाने वाला अभिनय प्रधान) नृत्य भिन्न होता है।

चंचत्पुटादि ताल, द्रुतादि लय और उनकी मात्राओं के साथ किए जाने वाले अभिनयहीन गात्रविक्षेप (अंग संचालन) को नृत्त कहते हैं।

दशरूपक और अवलोक की नाट्य, नृत्य और नृत्त संबंधी व्याख्याओं से ज्ञात होता है कि नाट्य शब्द नट् धातु से बना है और यह अनुकृतिमूलक, रसाश्रित, वाक्यार्थाभिनयात्मक तथा सात्त्विक अभिनय प्रधान होता है। नृत्य और नृत्त इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति नृत् धातु से हुई है। नृत्य अनुकारात्मक, भावाश्रित पदार्थाभिनयात्मक तथा आंगिक अभिनय प्रधान होता है। नृत्य और नृत्त दोनों में अंग-संचालन क्रिया की प्रधानता होते हुए भी नृत्त में अभिनय नहीं होता और वह केवल लय-ताल युक्त होता है।

यद्यपि धनंजय ने नाट्य को रस और नृत्य को भावों के आश्रित माना है, तथापि नंदिकेश्वर के अनुसार नृत्य में रस और भाव दोनों की व्यंजना होती है। नृत्यक्रिया विधान में भाव और रस के संबंध में उनका कथन है :

यतो हस्तस्ततोदृष्टिर्यतो दृष्टिस्ततो मनः।
यतो मनस्ततो भावो यतो भावस्ततो रसः॥ 37॥ (अभिनयदर्पणम्)

अर्थात् जहाँ हाथ हो वहाँ दृष्टि, जहाँ दृष्टि हो वहाँ मन, जहाँ मन हो वहाँ भाव और जहाँ भाव हो वहाँ रस होना चाहिए।

नाट्य और नृत्य में रस तथा भाव की स्थिति पर विचार करते हुए श्री के० एम० वर्मा कहते हैं कि जहाँ तक नाट्य और नृत्य का संबंध है, उनमें रस और भाव के आधार पर भेद नहीं किया जा सकता। अंततः बिना रस के भाव नहीं और बिना भाव के रस नहीं होता।[14] भरत ने भी स्पष्ट कहा है :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावोरसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत् ।। 36 ।।
व्यञ्जनौषधिसंयोगो यथान्नं स्वादुतां नयेत् ।
एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम् ।। 37 ।।

(नाट्यशास्त्र, छठा अध्याय, रसविकल्प)

अर्थात् न तो रस ही भाव से हीन और न भाव ही रस से वर्जित होता है। दोनों के पारस्परिक संयोग से ही अभिनय पूर्ण होता है। जिस प्रकार सुस्वादु पक्कान्न में व्यंजन और मसाले दोनों का संयोग रहता है, उसी तरह श्रेष्ठ अभिनय में रस और भाव एक-दूसरे से मिले रहते हैं।

इसी संदर्भ में श्री वर्मा का आगे कथन है कि कुंमाराणा तथा विप्रदास जैसे लोगों ने इसे अनुभव किया। इन परवर्ती लेखकों का कथन है कि जैसे भावों की सहायता से नृत्य द्वारा रस अभिव्यक्त होता है, वैसे ही रस की सहायता से नृत्य द्वारा भाव अभिव्यक्त होता है। दोनों ही विधाएँ संभव हैं और दोनों ही अवस्थाओं में नृत्य नाम ही प्रयुक्त होता है।[15]

इन विवेचनों से सिद्ध होता है कि नृत्य में रस और भाव दोनों समाविष्ट रहते हैं और दोनों एक-दूसरे के सहायक हैं।

नाट्य, नृत्त और नृत्य के पर्यालोचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अनुकृति अर्थात् अभिनय नाट्य का प्रधान गुण है। नाट्य के अभिनय में लय और ताल नहीं होता। लय ताल सहित अंग-संचालन मात्र को नृत्त कहते हैं, जिसमें अभिनय का अभाव रहता है। अतः नृत्य ही एक ऐसी विधा है जिसमें अभिनय के साथ नृत्त का भी समन्वय होता है।

अभिनय चार प्रकार का होता है: 1. आंगिक, 2. वाचिक, 3. आहार्य और 4. सात्विक।

"आंगिको वाचिकश्चैव आहार्यः सात्त्विकस्तथा।
ज्ञेयस्त्वाभिनयो विप्राश्चतुर्धा पारिकल्पितः ।। 9 ।।"

(भरत, नाट्यशास्त्र, आठवाँ अध्याय)

शारीरिक चेष्टा द्वारा किसी वस्तु या भाव की अभिव्यक्ति आंगिक अभिनय कहलाता है। इसमें सिर, हाथ, कमर, वक्ष, पार्श्व तथा पैर इत्यादि देह के विभिन्न अंगों के अभिनय सम्मिलित हैं। वाचिक अर्थात् वचन संबंधी अभिनय में संवाद तथा गीतादि सम्मिलित हैं। वेषभूषा तथा वस्त्रालंकारों के प्रयोग को आहार्य अभिनय कहा गया है। रोमांच, कंपन, स्वेद, मूर्च्छा तथा अश्रुपात इत्यादि को सात्त्विक अभिनय की कोटि में रखा गया है।

अभिनय का अस्तित्व नाट्य और नृत्य दोनों में ही है, किंतु नाट्य में सात्त्विक अभिनय और नृत्य में आंगिक अभिनय प्रमुख होता है।[16] नाट्य में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाक्यार्थाभिनय और नृत्य में पदार्थाभिनय प्रधान होने के कारण भी दोनों के अभिनय में भेद है।[17] वाक्यार्थाभिनय से नाटकों में बोले जाने वाले वाक्यों अर्थात् संवादों के आधार पर किए जाने वाले अभिनय से तात्पर्य है।

'पद' का अर्थ होता है 'शब्द' और 'पदार्थ' का अर्थ है 'शब्द का अर्थ। मुक्तक गेय काव्य और उसके तुक को भी पद कहा जाता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि काव्य में केवल शब्द और अर्थ होता है, दूसरा कोई माध्यम नहीं होता।[18] अतः गीत में अंतर्भूत काव्य का माध्यम और आधार 'शब्द' अर्थात् 'पद' होने के कारण ही संभवतः मुक्तक गेय काव्यों को पद कहने की प्रथा चल पड़ी, जैसे ध्रुवपद, विष्णुपद, रासकपद, सूर के पद, तुलसी के पद, मीरा के पद इत्यादि। कबीर और नानक-जैसे संतों की गेय वाणियों को 'पद' का ही पर्याय 'शब्द' या 'सबद' कहने की परंपरा है।

'पदार्थ' का विश्लेषण करते हुये आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि शब्द के द्वारा गृहीत लौकिक स्थूल अर्थ, सहृदय के हृदय में भाव रूप में परिणत होता रहता है।[19] इसी बात को उदाहरण द्वारा समझाते हुए उन्होंने कहा है कि लोक में 'घट' शब्द का अर्थ है मिट्टी का बना हुआ पात्र-विशेष। किंतु यह घड़ा स्थूल होता है। यदि हम इस शब्द का उच्चारण मन-ही-मन करें तो 'घड़ा' पद और 'घड़ा' पदार्थ सूक्ष्म रूप से चित्त में आ जाते हैं। इस प्रकार स्थूल घड़े के स्थान पर जो मानस-मूर्ति तैयार होगी वह सूक्ष्म घड़ा कही जाएगी। इस प्रकार स्थूल जगत् के सिवा एक सूक्ष्म जगत् की मानस-मूर्ति रचने की सामर्थ्य मनुष्य-मात्र में है। इसे ही भाव-जगत् कहते हैं। लोक में जो घड़ा है वह स्थूल जगत् का अर्थ (पदार्थ=पद का अर्थ) है और मानस अर्थ भाव-जगत् का अर्थ है। 'घट' नामक पद का यह अर्थ सूक्ष्म है। लोक में प्रचलित स्थूल अर्थ से यह भिन्न है। इसीलिए लौकिक न होकर अलौकिक, लोकोत्तर या भावगम्य है।[20]

नृत्य में गीत की स्थिति अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। भरत ने गीत के आधार पर नर्तन का विधान बताया है।[21] नंदिकेश्वर ने 'भावतालयुक्त गीताभिनय' को नृत्य[22] बताते हुए मुख से गीत का आश्रय लेकर, हाथों द्वारा उस (गीत) के अर्थ को प्रदर्शित करते हुए, नेत्रों से भाव दिखाना और पैरों से ताल का आचरण (व्यवहार) करने[23] को कहा है। इससे सिद्ध होता है कि नृत्य में अभिनय का मूल आधार गीत ही है। अतः नृत्य का आधार गीत होने के कारण 'पदार्थाभिनय' से गीत के शब्दों के अर्थानुसार अभिनय करने का अभिप्राय है, जिसके द्वारा नर्तक सहृदय दर्शकों को गीत में अंतर्निहित भावों की अलौकिक अनुभूति कराता है।

ठाकुर जयदेव सिंह के कथनानुसार नृत्त में न तो गीत होता है और न अभिनय, केवल लय ताल पर आधारित शारीरिक चेष्टाएँ, भंगिमाएँ और अंग संचालन मात्र होते हैं। जब यह गीत और अभिनय से संयुक्त कर दिया जाता है तब नृत्य कहलाता है।[24] तात्पर्य यह है कि गीत और उसके अनुकूल भावाभिनय के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संयोग से ही नृत्त का परिवर्तन नृत्य के रूप में होता है अतः रस और भाव की व्यंजना का आधार गीताभिनय होने के कारण नृत्य में गीत आधारभूत तत्त्व के रूप में विद्यमान रहता है ।

भरत नाट्यशास्त्र के चौथे अध्याय में शिव द्वारा ब्रह्मा को 'पूर्वरंग' में गीतों के गान और उनकें अर्थ को अभिनीत करने का निर्देश उल्लिखित है । यथा:

"महागीतेषु चैवर्थान्सम्यगेवाभिनेष्यसि ।"

नृत्योत्पत्ति के संबंध में अभिनवगुप्त ने कोहल के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि बहुत समय पूर्व, संध्याकाल में शिव के नृत्य से भावविभोर हो, नारद ने त्रिपुरासुर संहार विषयक एक गीत गाया । गीत के भाव से अभिभूत होकर, शिव ने उसका अभिनय किया और अपने शिष्य तंडु को नाट्य में बताये गए अभिनय से तांडव नृत्य को संयुक्त करने का निर्देश दिया ।[25]

इस संदर्भ में ठाकुर जयदेव सिंह का मत है कि कोहल का समय लगभग तीसरी या चौथी शताब्दी माना जाता है । उसके वर्णन में 'पुरा' शब्द 'बहुत समय पहले' का सूचक है, जिससे नृत्य परंपरा की प्राचीनता प्रकट होती है ।[26] अतः प्राचीन काल से ही नृत्य एक ऐसी कला रही है जिसमें अभिनय और नृत्त के संयोग से गीत के भावों का अनुभव दर्शकों को कराया जाता है ।

यद्यपि नाट्य के अंतर्गत 'पूर्वरंग' अर्थात प्रारंभ और उपरूपकों में नृत्य का उपयोग किया जाता था, किंतु नृत्य केवल नाट्याश्रित या उसका अंशमात्र ही न था, वरन् स्वतंत्र कला के रूप में भी उसकी प्रतिष्ठा थी ।[27] नंदिकेश्वर ने भी 'विशेष पर्वकाल' और 'राजसभा' में नृत्य-प्रदर्शन किए जाने का विधान बताया है ।[28]

नृत्य के दो भेद हैं—1. उद्धत और 2. मधुर । इन्हें क्रमशः तांडव और लास्य भी कहा गया है ।[29]

तांडव के प्रवर्तक महादेव और लास्य की प्रवर्तिका देवी पार्वती मानी गई हैं ।[30] महादेव के गण तंडु के नाम पर 'तांडव' नाम पड़ा ।[31] तंडु और नंदिकेश्वर एक ही व्यक्ति समझे जाते हैं । वीरत्व, उत्साह तथा रौद्रत्व इत्यादि पुरुष गुणों से युक्त होने के कारण उद्धत या तांडव नृत्य पुरुषोचित और शृंगारात्मक तथा सुकुमार होने के कारण मधुर या लास्य नृत्य स्त्रियोचित होता है ।[32]

गान, अभिनय तथा नृत्य की शृंगारात्मक सुकुमार ललितविधा[33] को कैशिकी वृत्ति के अंतर्गत माना गया है ।[34] वृत्ति शब्द का अर्थ ही बरत या चलन है । नाट्य शास्त्र में भारती, सात्वती, आरभटी और कैशिकी ये चार वृत्तियाँ बताई गई हैं ।[35] इनमें से कैशिकी वृत्ति शृंगाररसपूर्ण, नृत्यगीतयुक्त, और स्त्रियोचित होती है ।[36] ठुमरी की गणना शृंगारात्मक सुकुमार ललित गीतों में होने के कारण इसका गान और भावाभिनय कैशिकी वृत्ति से संबद्ध है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नृत्य में प्रमुखतया गीत, अभिनय और नृत्त प्राधान्य होने पर भी उसमें गीत के स्वर और लय पक्ष की सहायता के लिए वाद्यों की संगति भी अपेक्षित होती है। इसीलिए नंदिकेश्वर ने नर्तकी को 'गीतवाद्यतालानुर्तिनी' कहा है।[37] अतएव नृत्य में गान, वादन और नर्तन इन तीनों का समन्वय होता है।

भारतीय परंपरा के अनुसार संगीत के अंतर्गत गीत, वाद्य और नृत्य का समावेश माना गया है।[38] गीत, संगीत का प्रधान अंश है।[39] इसी गीत शब्द में 'सम्' उपसर्ग के योग से संगीत शब्द बना है : सम्+गीत=संगीत। 'सम्' का अर्थ है 'सम्यक्'। संगीत शब्द में 'सम्' उपसर्ग, गीत के साथ वाद्य और नृत्य प्रयोग का द्योतक है। संगीत में गीत मानव की भावना को व्यक्त करता है, वादन गीत को उपरंजित करता है और नृत्य उस गीत के भाव को अभिनय द्वारा मूर्त कर देता है। अतः गीताभिनय सहित नृत्य करते समय संगीत के तीनों अंशों का समावेश हो जाता है।

श्री के० एम० वर्मा के कथनानुसार नृत्य के साथ गीत और वाद्य (music) का होना अपरिहार्य है जबकि नाट्य में वह उतना महत्त्व नहीं रखता।[40] ठाकुर जयदेव सिंह ने भी गान और वादन को नृत्य का अनिवार्य अंग माना है। उनके अनुसार नृत्य और अभिनययुक्त इस संगीत को 'नृत्य-संगीत' अथवा 'अभिनय-संगीत' की संज्ञा दी जा सकती है।[41]

संगीत के 'मार्ग' और 'देशी' नामक दो भेद माने गए हैं। ब्रह्मादिकों ने जिसे खोजा, भरतादि ने जिसका प्रयोग शिव के सम्मुख किया और जो निश्चित रूप से कल्याणकारी तथा मुक्तिदायक है उसे 'मार्ग' कहा गया है। विभिन्न देशों के लोग अपनी रुचि के अनुसार मनोरंजन के लिए जो गान, वादन और नृत्य करते हैं, उसे 'देशी' कहा जाता है।[42] ठुमरी का संबंध इसी देशी संगीत के अभिनय और नृत्य से है।

भारत में गीत के साथ नृत्य करने की परंपरा बड़ी पुरानी है। वैदिक तथा रामायण व महाभारतकालीन जन समाज में गीत सहित नृत्य किए जाने का उल्लेख वेद, रामायण व महाभारत इत्यादि ग्रंथों में अनेक स्थलों पर मिलता है। कालिदास के **मालविकाग्निमित्र** नाटक में अग्निमित्र के समक्ष मालविका के गीताभिनय सहित नृत्य-प्रदर्शन की घटना का उल्लेख है।[43] इससे ठाकुर जयदेव सिंह का अनुमान है कि कालिदास के पूर्व ही अर्थात दूसरी शताब्दी में गीत के साथ नृत्य करने की परंपरा पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी।[44]

चतुर्भाणी पाँचवीं शताब्दी के गुप्तकालीन चार भाण ग्रंथों का संग्रह है। उसमें संगृहीत वररुचि कृत **उभयाभिसारिका** भाण की पृष्ठभूमि पाटलिपुत्र और महाकवि श्यामलिक विरचित **पादताडितक** भाण की पृष्ठभूमि उज्जयिनी है। उभयाभिसारिका में मदनसेना द्वारा **मदनाराधन** नामक संगीतक को यथोचित रसाभिनय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सहित किए जाने और प्रियंगुसेना के कथन से पुरंदरविजय नामक संगीतक के रसाभिनय सहित प्रदर्शन का संकेत मिलता है[45] और पादताडितक में मयूरसेना के लास्यवार (गाचने की वारी) में गीत के साथ नृत्य प्रस्तुत किए जाने का वर्णन है।[46] इन उद्धरणों से गुप्तकाल में गीत के साथ अभिनय और नृत्य करने का प्रमाण मिलता है।

महाकवि वाणभभट्ट के हर्षचरित में हर्ष के जन्मोत्सव के अवसर पर आलिग्यक वेणु,, झल्लरी, तंत्री, पटह, अलाबुवीणा तथा काहल आदि अनेक वाद्यों की मंद ध्वनि के साथ स्त्रियों द्वारा अश्लील रासक पदों के गान और नृत्य किए जाने का वर्णन है।[47]

आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में काश्मीर नरेश जयापीड़ के मंत्री दामोदर गुप्तकृत कुट्टनीमतम् काव्यम् में वसन्तोत्सव के अवसर पर गीत और नृत्य करने का उल्लेख है।[48]

अकबर के युग में 'दफ़ज़न' अर्थात ढफ़ बजाकर गाने वाली पंजाबी नारियों द्वारा ध्रुवपद गान किए जाने का उल्लेख आइने अकबरी में मिलता है।[49] शाहजहाँ और औरंगज़ब के समय, शिवाजी के पिता शाह जी के सभापंडित वेद ने भी ध्रुवपद गान के साथ किए जाने वाले 'ध्रुवपद नृत्य' का उल्लेख इस प्रकार किया है।

"गीयमाने ध्रुवपदे गीते भाव मनोहरे।
नर्तनं तनुयात पात्रं कान्ताहास्यादिदृष्टिजम् ॥
नानागतिलसद्भावमुखरागादिसंयुतम्।
सुकुमाराङ्गविन्यासं दन्तोद्योतितहावकम् ॥
खण्डमानेन रचितं मध्ये मध्ये च कम्पनम्।
यत्र नृत्यं भवेदेवं ध्रुपदाख्यं तदा भवेत्॥"

(भरतकोष, पृष्ठ 211)

प्राचीन देशी संगीत के अंतर्गत रास या रासक और चर्चरी नामक गीत, ताल व नृत्य का उल्लेख मिलता है[50] इससे ज्ञात होता है कि रास और चर्चरी गीतों व तालों का उपयोग इन्हीं नामों से युक्त नृत्यों के साथ किया जाता था। रास नामक ताल का स्वरूप वर्तमान चतुर्मात्रिक कहरवा ताल के समान था।[51]

स्वर्गीय कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के मतानुसार रास नृत्य को आधृत मानकर भारोपीय काल का जन-साहित्य निर्मित हुआ। नर-नारी, उन शृंगार प्रधान काव्यों का गायन करते हुए उपयुक्त ताल, लय एवं गति के साथ मंडलाकार नृत्य करते थे। कभी केवल पुरुष, कभी केवल स्त्रियाँ इस नृत्य में भाग लेतीं। इस नृत्य के मूल प्रवर्तक श्री कृष्ण मथुरा राज्य के निवासी थे जिन्होंने ईसा से शताब्दियों पूर्व इस नृत्य को गोप समाज में प्रचलित किया। वृष्णि, सात्वत, आभीर आदि जातियों ने इस नेता की आराधना की और रास को धर्मोन्मुखी नृत्य के पद पर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रतिष्ठित किया। मध्यदेश के गेयपद (गीत) रास नृत्य की प्रेरणा से आविर्भूत हुए। इन गीतों की भाषा शौरसेनी प्राकृत थी। इन गीतों को कुशल कलाकारों ने ऐसे लय एवं रागों में बाँधा जो रास नृत्य के साथ-साथ सरलतापूर्वक प्रयुक्त हो सकें।[52]

चौदहवीं शताब्दी में रास की तीन पद्धतियाँ इतनी प्रचलित हो चुकी थीं कि उनका विश्लेषण काव्यशास्त्र के अंतर्गत भी किया गया। आन्ध्र के महाराजा वेम (सन् 1400 ई०) के अनुसार रासक, नाट्य-रासक और चर्चरी—ये रासक के तीन भेद हैं।[53]

प्राचीन साहित्य में चर्चरी शब्द के कई अर्थ मिलते हैं। गीत के एक भेद, एक विशिष्ट ताल और नृत्य विशेष को 'चर्चरी' कहा गया है। नृत्य संगीत युक्त चर्चरी का प्रदर्शन प्रायः वसंतोत्सव के अवसर पर होता था।[54] इसी ऋतु में गाये जाने वाले रास 'फाग' कहलाने लगे। फागु या फाग शब्द की व्युत्पत्ति ही संस्कृत फल्गु (वसंत) >प्राकृत फग्गु >फागु और >फाग (हिंदी) से सिद्ध होती है। वसंत वर्णन और वसंत क्रीड़ा (होली) फागु के मूल विषय हैं।

सूर और तुलसी के होली वर्णन में भी चाँचरि और झूमर या झूमक नृत्य तथा गीतों का उल्लेख मिलता है।[55] चाँचरि या चाँचर, चर्चरी शब्द का ही विकास है—सं० चर्चरी>प्रा० चच्चरी> (हि० लो० भा०) चञ्चरी>चाँचरी>चाँचरि> चाँचर। आज भी उत्तर भारत में वसंतोत्सव तथा होली के अवसर पर चाँचरि ताल में निबद्ध चाँचरि गीत (होली) और फाग गाने की प्रथा लोक-संगीत में है।

उत्तर भारत के विभिन्न प्रादेशिक लोक-संगीत में चाँचरि के अतिरिक्त धमार, धमाल, धमाली या धुमाली नामक गीतों, तालों या नृत्यों का व्यवहार भी दिखाई पड़ता है। जैसे—राजस्थान में धमाल नामक गीत, ताल व नृत्य, पूर्व बंगाल (बंगलादेश—सिलहट) में धमाली व धमाइल नामक गीत व नृत्य तथा महाराष्ट्र में धुमाली नामक ताल बहुत प्रचलित है। इन सभी में व्यवहृत होने वाले तालों का स्वरूप उत्तर भारतीय कहरवा ताल जैसा ही है। महाराणा कुंभा ने भी 'संगीतराज' ग्रंथ में धम्माली प्रबंध को होली से संबद्ध गान बताते हुए उससे एकताली (वर्तमान कहरवा के समान) ताल का प्रयोग बताया है।[56]

इसी प्रकार विभिन्न प्रादेशिक लोकसंगीत में झूमर, झूमरि या झूमरी नामक गीत, ताल व नृत्य का व्यवहार मिलता है। इनमें भी प्रायः कहरवा-जैसे तालों का ही प्रयोग दिखाई पड़ता है।

हिंदुस्तानी संगीत में शास्त्रीय विधि से गाए जाने वाले चौदह मात्राओं वाले धमार ताल में निबद्ध होरी या धमार नामक गीतभेद का संबंध भी मूलतः होली पर्व से है। श्री डी० जी० व्यास के अनुसार धमार गान चर्चरी से संबद्ध है।[57] आज के चाँचर (होली) और होरी (धमार) गीतों की होली क्रीड़ा से संबद्धता तथा उनमें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यवहृत चाँचर (दीपचंदी) व धमार तालों के पारस्परिक तुलनात्मक साम्य को देखते हुए यह बात तर्कसंगत प्रतीत होती है।

'झूमरा' उत्तर भारतीय संगीत का एक प्रसिद्ध ताल है, जो कि चाँचर (दीपचंदी) व धमार तालों की भाँति ही चौदह मात्राओं का ताल है। चाँचर (दीपचंदी) धमार तथा झूमरा तालों के ठेकों की रचना भी मूलतः सात मात्राओं वाले उत्तर भारतीय रूपक ताल की छंदगति (वज़न) पर आधारित है। अतएव तुलनात्मक दृष्टि से इन तीनों तालों की मात्रा, संख्या व ठेकों की संरचना में परस्पर बहुत साम्य हैं, जैसे :

मात्राएँ	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14
वज़न (रूपक)	1	2	3,	1	2,	1	2,	1	2	3,	1	2,	1	2
चाँचर (दीपचन्दी)	धा	धिं	ऽ,	धा	धा,	तिं	ऽ,	ता	तिं	ऽ,	धा	धा,	धिं	ऽ
	×			2				0			3			
धमार	क	धि	ट,	धि	ट,	धा	ऽ,	ग	ति	ट,	ति	ट,	ता	ऽ
	×					2		0			3			
झूमरा	धिं	ऽधा	त्रक,	धिं	धिं,	धागे	त्रक,	तिं	ऽता	त्रक,	धिं	धिं,	धागे	त्रक
	×			2				0			3			
रूपक	ती	ती	ना,	धी	ना,	धी	ना /	ती	ती	ना,	धी	ना,	धी	ना
	⊗			2		3		⊗			2		3	

(नोट : झूमरा में 'त्रक' के स्थान पर 'तिरकिट' भी इस्तेमाल होता है)

इस प्रकार एक ओर जहाँ चाँचर, धमार व झूमर आदि गीत, ताल व नृत्य के लोक रूपों में पारस्परिक संबंध दिखाई पड़ता है, वहीं दूसरी ओर चाँचर और धमार नामक गीत व ताल तथा झूमरा ताल के शास्त्रीय स्वरूप में भी किसी सीमा तक पारस्परिक साम्य दिखाई पड़ता है। अतएव रास या रासक; चर्चरी, चाँचरि या चाँचर; धमाली, धुमाली, धमाल या धमार; और झूमर, झूमरि, झूमरी या झूमरा में से प्रत्येक के गीत, नृत्य और ताल का एक ही नाम होना उनकी पारस्परिक संबद्धता और मूल एकता का परिचायक है।

इसी प्रकार लोक-संगीत की परंपरा में राजस्थान के एक विशिष्ट लोक-गीत और लोक-नृत्य का नाम 'घूमर' मिलता है जिनका प्रयोग प्रायः साथ-साथ होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। अतः घूमर गीत और नृत्य के भी एक-दूसरे के पूरक तथा परस्पर संबद्ध होने का प्रमाण मिलता है।

उत्तर भारतीय संगीत में गाये जाने वाले ठुमरी गीत भेद के साथ ही ठुमरी ताल का भी कुछ संगीत ग्रंथकारों ने उल्लेख किया है,[58] जो कि कहरवा ताल का ही एक भेद प्रतीत होता है। इससे ठुमरी गान के साथ ठुमरी ताल के पारस्परिक संबंध पर भी प्रकाश पड़ता है।

कथक नृत्य और ठुमरी

ठुमरी का स्थान नृत्य के साथ गाए जाने वाले गीतों की परंपरा में है, जिसका कथक नृत्य शैली से घनिष्ठ संबंध रहा है। उत्तर भारत में वेश्याओं, भाँड़ों तथा कथकों द्वारा ठुमरी गान के साथ कथक नृत्य शैली के माध्यम से उसके भावाभिव्यक्ति की परंपरा रही है। यह प्रथा कथक नर्तक, नर्तकियों में अब भी दिखाई पड़ती है।

वेश्या, भाँड़ तथा कथक वर्ग के लोगों का नाच और गाने से बहुत पुराना संबंध है। ब्रह्मपुराण, भरतनाट्यशास्त्र, चतुर्भाणी, दशरूपक तथा संगीतरत्नाकर आदि ग्रंथों से इसका प्रमाण मिलता है।

कथक या **कथिक** शब्द जातिसूचक संज्ञा है, जोकि गायक, वादक तथा नर्तकों की जाति विशेष के लिए व्यवहृत होता है। 'कथक' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'कथ्' धातु से हुई है जिसका अर्थ 'कथाकार' अर्थात 'कथन करने वाला' होता है।[59] 'कथन करे सो कत्थक कहिए' यह लोकोक्ति भी प्रसिद्ध है!

कथक के संबंध में डॉ० शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे कहते हैं: "जैन कोश अभिधान राजेन्द्र के अनुसार 'कथ्थ' अथवा 'कथ्य' एक प्रकार की संगीत-कृति है।.........**महाभारत** में कथिक तथा ग्रंथिक दोनों का उल्लेख प्राप्त है और इनका कार्य स्पष्टतः प्राचीन एवं परंपरागत आख्यानों का प्रवचन तथा गायन रहा है। **महाभाष्य** में कंसवध तथा बलिवंधन नामक आख्यानों को प्रस्तुत करने वाले वर्ग के लिए 'ग्रंथिक' संज्ञा दी गई है। कैयट के अनुसार ग्रंथिकों के लिए एक अन्य नामाभिधान 'कथक' है। **सिद्धांत कौमुदी** में 'कथिक' शब्द का प्रयोग उस वर्ग के लिए है जो आख्यान तथा प्रवचन-कला में निष्णात है। यह वर्ग आख्यानों के द्वारा धर्म-प्रचार का कार्य करता था। जैन वांङ्मय में कथक को 'कहग' कहा गया है तथा उनका अंतर्भाव नट, नर्तक आदि उन कलाकारों में किया गया है जो अपनी कला के माध्यम से जनता का मनोरंजन करते थे।.........**ब्रह्मपुराण** में नट, गायक तथा नर्तक के साथ कथक-वर्ग का उल्लेख है। प्रतीत होता है कि कथक की परंपरा मुख्यतः कथावाचक की रही है तथा उसकी प्रभावात्मिकता के हेतु संगीत तथा नृत्याभिनय का तत्व उसमें समाविष्ट किया गया।[60]

'कथक' शब्द बहुत पुराना होने पर भी इस नृत्य के प्रारंभिक स्वरूप की पुष्टि अभी तक नहीं हो सकी है। डॉ० (श्रीमती) कपिला वात्स्यायन के अनुसार कथक नृत्य शैली के इतिहास के स्रोत उदयपुर, खजुराहो और भुवनेश्वर के मंदिरों;

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पारंपरिक चित्रों और वैष्णव भक्ति-परंपरा में ढूंढ़े जा सकते हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि पहले कथक एक विशेष नृत्य-रूप में उपस्थित था और भारतीय परंपरा व साहित्य में जो कुछ उत्कृष्ट है वह उसमें निहित था। लेकिन ऐसा भी हुआ है कि किसी कला-विधा का कोई विशिष्ट रूप परंपरा से विच्छिन्न होकर विकृत हो गया है और हम उसका मौलिक रूप भूल गए हैं। नृत्य-रूपों में कथक के साथ कुछ ऐसा ही घटित हुआ है। डॉ० श्रीमती वात्स्यायन का यह भी मत है कि कालांतर में कथक नृत्य पर ब्रज की रासलीला का भी बहुत प्रभाव पड़ा।[61]

ब्रज में रास का आरंभ भगवान श्रीकृष्ण से माना जाता है। रास का सर्व-प्राचीन उल्लेख हरिवंश, विष्णु, ब्रह्मवैवर्त तथा भागवत पुराणों में मिलता है। हरिवंश पुराण में इसे 'हल्लीसक' या 'छालिक्य गांधर्व' कहा गया है। यह नृत्य सामूहिक रूप में गीत और वाद्य सहित एक मंडल (घेरे) में किया जाता था।

संस्कृत काव्यों, नाटकों और जैन साहित्य में भी रास का उल्लेख मिलता है। मुनि जिनविजय जी के अनुसार प्रारंभ में रास या रासक ग्रंथों की रचना पढ़ने-सुनने की अपेक्षा नृत्य-गान के लिए हुई थी। इस समय रास लोकनृत्य एवं लोकगीतों के रूप में साहित्य में आया था।[62]

हरिवंश पुराण में वर्णित 'हल्लीसक नृत्य' का विकसित रूप भागवत पुराण में मिलता है। इसके दशम स्कंध के 29 से 33 तक के पाँच अध्यायों में रास का वर्णन 'रासपंचाध्यायी' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें रास और गोपियों द्वारा कृष्ण की विभिन्न लीलाओं के अनुकरण करने का उल्लेख है। इसीलिए कृष्णोपासक वैष्णव भक्तों के रास में गान और नृत्य के साथ कृष्ण की लीलाओं का भी अभिनय किया जाता है। श्री प्रभुदयाल मीतल के शब्दों में "राधा कृष्ण की दान, मान, चीर-हरण आदि समस्त संयोगात्मक लीलाओं के माधुर्य भाव की चरम परिणति रास में हुई है; इसीलिए इसे 'रासलीला' भी कहा जाता है।"

इस रासलीला का विस्तार उत्तर भारत में सौराष्ट्र से लेकर आसाम तक हुआ। सौराष्ट्र (गुजरात) के रास, उड़ीसा के ओडिसी और आसाम के मणिपुरी इत्यादि नृत्यों पर रास और कृष्णलीला का प्रभाव है। कवि जयदेवकृत गीतगोविन्द के पद कृष्णलीला से अनुप्राणित हैं। पुरी (उड़ीसा) में जगन्नाथ जी की प्रतिमा के स्नान और रथयात्रा के अवसर पर होने वाले गीतगोविन्द के गान और नृत्याभिनय पर कृष्णलीला का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। डॉ० दशरथ ओझा के शब्दों में "जयदेव द्वारा प्रवर्तित रासलीला चैतन्य युग में नवजीवन पाकर शताब्दियों तक पल्लवित होती रही।[63]

श्री प्रभुदयाल मीतल के मतानुसार ब्रज में रास-लीला का पुनरुत्थान कृष्णो-पासक धर्माचार्यों और भक्तों द्वारा सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ। बाद में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसका प्रदर्शन व्यवसायिक रासधारियों की मंडलियों द्वारा होने लगा। रासलीला के वर्तमान रूपविधान में तब से अब तक कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ है।[55]

वर्तमान कथक नृत्य और ब्रज में प्रचलित रासलीला की अनेक बातों में समानता मिलती है। दोनों में ही श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध में वर्णित कृष्ण की ब्रजलीला नृत्य का प्रधान विषय है। कथक नृत्य को 'नटवरीनृत्य' भी कहा जाता है[66] जो कि नटवर श्रीकृष्ण की ओर इंगित करता है। रासलीला में जिस प्रकार के बोल और कवित्त प्रयोग किए जाते हैं, वे आज भी कथक नृत्य में प्रचलित हैं। दोनों के पद संचालन, मडलों और कृष्णलीला संबंधी गतभावों में बहुत समानता है। कथक नृत्य और रासलीला में व्यवहृत पखावज या तबले के बोलों से युक्त परमूल (परमलू या प्रिमलू) तथा तिहाइयों आदि के प्रयोग में भी समता दिखाई पड़ती है।[67] अतः श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी तथा श्री के० एस० जैन का मत है कि कथक नृत्य का उद्भव और विकास ब्रज में प्रचलित रास से हुआ।[68]

वर्तमान युग में कथक नृत्य उत्तर भारत के शास्त्रीय नृत्य के रूप में विख्यात है और इसकी गणना भारत के प्रमुख नृत्यों में की जाती है। इसके वर्तमान स्वरूप का विकास लखनऊ और जयपुर के नर्तकों की परंपरा से संबद्ध है, जो कि लखनऊ और जयपुर घराने के नाम से प्रसिद्ध हैं।

लखनऊ घराने के मूल प्रवर्तक, इलाहाबाद जिले के हँड़िया तहसील के अंतर्गत चुलबुला ग्राम निवासी, श्री ईश्वरी प्रसाद मिश्र भगवान श्री कृष्ण के परम भक्त थे। उन्होंने भागवत पुराण के आधार पर कृष्णलीला-प्रधान नृत्य की रचना की। यह कार्य उन्होंने अपनी अस्सी वर्ष की आयु में संपन्न किया था। कहते हैं कि इसके लिए श्री ईश्वरी प्रसाद मिश्र को स्वप्न में स्वयं भगवान कृष्ण के नृत्य से प्रेरणा प्राप्त हुई थी। उनका देहांत एक सौ पाँच वर्ष की आयु में हुआ। उनके पौत्र प्रकाश जी लखनऊ में नवाब आसफ़ुद्दौला के दरबारी नर्तक नियुक्त हुए। तभी से उनकी वंश परंपरा 'लखनऊ घराना' के नाम से प्रसिद्ध हुई।

लखनऊ घराने के मूल पुरुष श्री ईश्वरी प्रसाद मिश्र द्वारा भागवत पुराण पर आधारित नृत्य-रचना के विवरण से भी कथक नृत्य पर कृष्णलीला और रास का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

जयपुर घराने का प्रारंभ आज से लगभग एक सौ पचास वर्ष पूर्व भानु जी से माना जाता है। भानु जी मूलतः तांडव नृत्य के विशेषज्ञ थे। उनके पौत्र तथा मालू जी के पुत्र कानू जी या काह्नू जी भगवान श्रीकृष्ण के परम भक्त थे। कानू जी ने वृन्दावन आकर कृष्णलीला प्रधान लास्य नृत्य की शिक्षा प्राप्त की। इस प्रकार जयपुर घराने की नृत्य शैली में कृष्ण लीला प्रधान सुकुमार नृत्य का समावेश कानू जी के द्वारा हुआ।[70]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इन तथ्यों के अनुसार वर्तमान कथक नृत्य के लखनऊ और जयपुर घरानों का आरंभ क्रमशः अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी ईसवीय से माना जा सकता है। इसके पूर्व सोलहवीं शताब्दी में ही नारायण भट्ट द्वारा ब्रजवल्लभ नर्तक के सहयोग से रासलीला को व्यवस्थित रूप दिया जा चुका था।[71] वर्तमान कथक नृत्य के लखनऊ और जयपुर घरानों के उदय के पूर्व ही रासलीला करने वाली मंडलियों के अनेक घराने विकसित हो चुके थे और उनके द्वारा देश के विभिन्न भागों में गान, अभिनय तथा नृत्य संयुक्त कृष्णलीला का प्रदर्शन होता था।[72] अतएव वर्तमान कथक नृत्य अपने पूर्ववर्ती रासलीला से अवश्य प्रभावित हुआ होगा। कथक नृत्य के लखनऊ और जयपुर घरानों के विकास से भी इसी तथ्य का अनुमान होता है।

लखनऊ घराने के मूल प्रवर्तक श्री ईश्वरी प्रसाद जी का स्वप्न में भगवान श्रीकृष्ण से कृष्णलीला प्रधान नृत्य रचना की प्रेरणा प्राप्त करने की किंवदंती और भागवत पुराण के आधार पर उस नृत्य की रचना करने की घटना, रास लीला से प्रेरणा प्राप्त करने की ही ओर इंगित करती है। जयपुर घराने में कृष्णलीला-प्रधान नृत्य का समावेश कानू जी द्वारा हुआ, जिसे उन्होंने वृन्दावन में आकर सीखा। अनुमानतः कृष्णलीला प्रधान इस नृत्य की शिक्षा उन्होंने ब्रज के रासधारियों से ही प्राप्त की होगी क्योंकि उस समय तक ब्रज में रासलीला की मंडलियों के अनेक घराने विकसित हो चुके थे और वृंदावन के निकट करहला का घराना श्रेष्ठ समझा जाता था। अतः कथकों के लखनऊ व जयपुर दोनों घरानों की नृत्य-शैलियों का उद्‌गम, विकास और वर्तमान स्वरूप भागवत पुराण के दशम स्कंध में वर्णित कृष्णलीला और ब्रज संस्कृति से अनुप्राणित होने के कारण कथक नृत्य पर ब्रज की रासलीला का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है।

यह बहुत संभव है कि पहले कथक नृत्य का कोई विशिष्ट मौलिक रूप भी रहा हो, किंतु परवर्ती युग में वैष्णव-धर्म और कृष्ण की रासलीला के प्रभाव के कारण कथक नृत्य, कृष्णलीला-प्रधान नृत्य हो गया। इसीलिए आगे चलकर इसे 'नटवरी' या 'कथक नटवरी' नृत्य भी कहा जाने लगा।[73]

मुस्लिम युग में अनेक कथक नर्तक तत्कालीन शासकों के दर्बारों से संबद्ध रहे। इसलिए कथक के वर्तमान स्वरूप पर ब्रज की रासलीला के प्रभाव के अतिरिक्त मुस्लिम युगीन वातावरण की छाया भी दिखाई पड़ती है। डॉ० श्रीमती कपिला वात्स्यायन के शब्दों में "कथक ने रासलीला से खड़े होने के तरीके, भंगिमाएँ, भ्रमरी आदि कई चीज़ें ग्रहण कीं, लेकिन इनके साथ जब कथक दरबार में पहुँचा तो उसका रूप वहां के प्रभावों में बिल्कुल ही बदल गया।[74] इसीलिए वर्तमान कथक नृत्य की वेशभूषा और अनेक पारिभाषिक शब्दावली मुस्लिम संस्कृति से पर्याप्त अंशों में प्रभावित है।

आज का कथक नृत्य शृंगार रस प्रधान सुकुमार श्रेणी का नृत्य है। ठुमरी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गाने के साथ कथक नृत्य शैली में भावाभिनय प्रदर्शन की परंपरा रही है। अतः ठुमरी गान और कथक नृत्य ये दोनों एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से संबद्ध रहे हैं।

कथक नृत्य की जयपुरी शैली का नृत्त भाग यद्यपि अत्यंत विकसित है, तथापि लखनवी शैली, नृत्त के साथ ही उच्च कोटि के भावाभिनय के लिए भी विशेष रूप से प्रसिद्ध रही है। लखनवी शैली की इन विशेषताओं से आकृष्ट होकर ही जयपुर घराने के अनेक नर्तकों ने लखनऊ घराने के महाराज बिंदादीन जी का शिष्यत्व ग्रहण किया। जिनमें से जयपुर घराने के स्व० जयलाल और उनके भाई स्वर्गीय सुन्दर प्रसाद विशेष उल्लेखनीय हैं। महाराज बिंदादीन अपने युग के अप्रतिम नर्तक और ठुमरी वाग्गेयकार थे।

संगीतज्ञों की मान्यता है कि पहले महफ़िलों में अधिकतर वेश्याएँ ही भावाभिनय सहित ठुमरी गाती थीं।[75] ठुमरी का विकास लखनऊ के नवाबी युग में होने के कारण स्वभावतः कथक नृत्य की लखनवी शैली से ठुमरी का विशेष संपर्क रहा है और इन दोनों का प्रसार उत्तर भारत में एक साथ ही हुआ।

नृत्त, गतभाव तथा अभिनय कथक नृत्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं। अभिनय में मुख्यतः गीत में निहित भावों का प्रदर्शन किया जाता है। इसलिए कथक नृत्य में 'भाव' शब्द अभिनय का ही प्रतीक माना जाता है।[76] कथक नृत्य में गीत के साथ भाव-प्रदर्शन का विशेष महत्त्व है, जिसे बोलचाल में 'भाव बताना' और गीत में निहित अर्थ की अभिव्यंजना को 'अर्थभाव' कहते हैं।[77]

शास्त्रों में 'पदार्थाभिनय' को नृत्य का प्रधान गुण कहा गया है। गीत में प्रयुक्त होने वाले शब्दों को 'बोल' कहा जाता है, जो कि 'पद' का ही पर्याय है। यद्यपि 'बोल' का यौगिक अर्थ 'शब्द' होता है, परंतु गीतों में 'रंजक-स्वर-समूह-युक्त शब्द' के अर्थ में इसका व्यवहार किया जाता है। अतः गीतों में बोलों का बहुत महत्त्व है।

ठुमरी में 'बोल' केवल महत्त्वपूर्ण वस्तु ही नहीं वरन् उसका जीवन व प्राण है।[78] ठुमरियों के 'बोल बनाव' और 'बोल बांट' पर आधारित भेद भी इसी तथ्य के परिचायक हैं। ठुमरी गाने के साथ उसके 'बोलों' का 'अर्थभाव' अर्थात् 'पदार्थाभिनय' कथक नृत्य की अन्यतम विशेषता है। कथक नृत्य में यह पदार्थाभिनय दो प्रकार से किया जाता है—खड़े होकर और बैठकर। दोनों प्रकारों में आंगिक और वाचिक अभिनय की प्रधानता रहती है।

खड़े होकर ठुमरी के भाव-प्रदर्शन में नृत्य भी सम्मिलित रहता है। अतएव यहाँ नृत्य की विधा पूर्ण रहती है। बैठकर भाव बताते समय केवल गीताभिनय ही प्रदर्शित होता है। अक्सर ऐसा देखा गया है कि बैठकर भाव बताते समय नर्तक या नर्तकी आहार्याभिनय के लिए शाल, दुपट्टा या ओढ़नी का व्यवहार कर लेते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ठुमरी स्त्रियोचित गीतभेद है। नृत्य के साथ इसका गान व भाव-प्रदर्शन पहले वेश्याओं द्वारा महफ़िलों में हुआ करता था।[79] लखनऊ ठुमरी का केंद्र समझा जाता था।[80] श्री कृष्णधन बनर्जी ने सन् 1885 में प्रकाशित अपने ग्रंथ गीतसूत्र-सार में बताया है कि ठुमरी का गान, नृत्य व्यवसायिनी स्त्रियों (तवायफ़ों) से संबंधित है।[81] श्री सौरीन्द्र मोहन ठाकुर ने भी 1896 ई० में छपे अपने ग्रंथ यूनिवर्सल हिस्ट्री ऑफ़ म्यूज़िक में इसी तथ्य की पुष्टि की है।[82] संगीत सुदर्शन के लेखक पंडित सुदर्शनाचार्य ने उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य, सैनी वंश के सुप्रसिद्ध सितार-वादक रहीमसेन के साथ लखनऊ में घटी घटना का उल्लेख किया है, जिसमें एक संगीत की महफ़िल में उनके साथ प्रतिस्पर्धा की भावना से एक वेश्या ने "मोरा पिया जोगिया हो गया।" यह ठुमरी गाते समय भाव प्रदर्शन में स्वाभाविकता लाने के लिए आवेश में अपनी दो सौ रुपए की मूल्यवान (आज की तुलना में अत्यधिक मूल्यवान) ज़री की ओढ़नी फाड़ डाली।[83] इन उल्लेखों से विदित होता है कि ठुमरी, नृत्य की श्रृंगारात्मक सुकुमार या ललित विधा के साथ गाया जाने वाला एक गीतभेद है, जिसका गान व भाव-प्रदर्शन कैशिकी वृत्ति के अंतर्गत आता है।

प्राचीन काल में विशेष पर्व के अवसर पर और राजसभाओं में नृत्य किए जाने का विधान बताया गया है।[84] उत्तर भारत में राजदरबारों; विवाह, पुत्र-जन्मोत्सव आदि सामाजिक संस्कारों तथा अन्य मांगलिक पर्वों पर वेश्याओं के गान और नृत्य की परंपरा रही है। वेश्या का एक नाम 'मंगलामुखी'[85] भी है। यह नाम मांगलिक पर्वों पर उनके कला-प्रदर्शन की ओर संकेत करता है। इन अवसरों पर समाज के विभिन्न वर्गों के सुसंस्कृत और साधारण सभी लोगों के समक्ष वेश्याओं के गान व नाच का प्रदर्शन होता था। इन लोगों की विभिन्न रुचि की तुष्टि के लिए वेश्याओं को अपने कला-प्रदर्शन में शास्त्रीय संगीत के साथ लोक-संगीत का व्यवहार भी करना पड़ता था। अतएव लोकाश्रित होने के कारण वेश्याओं का गान व नृत्य, संगीत के परंपरागत शास्त्रीय रूप के साथ-साथ लोक तत्त्वों से भी प्रभावित रहा है।

नर्तकियों को गान और नृत्य की शिक्षा प्राचीन काल से ही संगीत और नृत्य के आचार्यों द्वारा दी जाती रही है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी इसका पता चलता है। कौटिल्य का कथन है "गणिका, दासी तथा अभिनयजीवी नटियों को गान, वादन, अभिनय, लेखन, चित्रकारी, वीणा-वेणु-मृदंग वादन, परचित्त परिज्ञान, गंध तथा माल्यनिर्माण, शरीर के अंगों को दबाना, श्रृंगार करना इत्यादि वैशिक कलाओं की शिक्षा देने के लिए योग्य आचार्यों का प्रबंध राज्य की ओर से होना चाहिए।[86] कालिदास के **मालविकाग्निमित्र** नाटक में मालविका की गान व नृत्य शिक्षा के प्रसंग में गणदास तथा हरदत्त नामक दो आचार्यों द्वारा गान व नृत्य-शिक्षा देने तथा उनकी पारस्परिक स्पर्धा का उल्लेख है।[87]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उत्तर भारत की वेश्याएँ गान और नृत्य की शिक्षा संगीतजीवी वर्ग के गायकों वादकों, और कथकों द्वारा प्राप्त करती रही हैं।[88] उत्तर भारतीय वैशिक संस्कृति के विकास में नट, डोम, गंधर्व, रामजनी, डेरेदार, वक्सरिये, कटेसर, बँगरहे, गौरराधे, कथकिन, कंजर इत्यादि विभिन्न जातियों की स्त्रियों का योग रहा है।[89] इनकी संस्कृति एक ओर जहाँ नगरों से संबद्ध है, वहां ग्रामों से भी संबद्ध रही है, जिसकी पुष्टि उत्तर प्रदेश के सीतापुर ज़िले में स्थित 'नटनिनपुरवा' तथा 'पतुरियन पुरवा' इत्यादि ग्रामों के नामों से होती है।[90] नटिनी और पतुरिया ये दोनों शब्द वेश्या के पर्याय हैं। नट, डोम तथा कंजर इत्यादि जातियों का संबंध विशेषकर ग्रामों से ही रहा है। इनकी स्त्रियों का मुख्य व्यवसाय गाना और नाच था। अमरकोष में भी शैलूषों (नटों) को 'जायाजीवी' अर्थात् स्त्रियों की कमाई खाने वाला कहा गया है।[91]

आगे चलकर जब वेश्याओं की श्रेणी में नटिनी, डोमिनी तथा कंजरी इत्यादि का समावेश हुआ तो स्वभावतः वे अपने साथ गान और नृत्य के लोक-रूपों को भी लाईं। परिणामतः उत्तर भारतीय वेश्याओं के नृत्यों में कथक नृत्य के परंपरागत रूप के साथ लोक-नृत्य के तत्वों का भी समावेश हुआ। इसीलिए उत्तर भारतीय वेश्याओं का नृत्य साधारणतया कथक नृत्य-प्रधान होते हुए भी कथक नर्तकों के नृत्य से किंचित भिन्न है। साधारण बोलचाल में उत्तर भारत में इस नृत्य को 'नाच' और वेश्याओं को 'नाचने वाली' कहा जाता है।[92]

वेश्याओं को ठुमरी के गेयपक्ष की शिक्षा प्रायः गायकों द्वारा दी जाती थी। इसमें स्वरों की सजावट, बोलों का लहजा या कहन (भावपूर्ण उच्चारण) तथा काकु प्रयोग की शिक्षा का भार इन्हीं गायकों पर था। ठुमरी के साथ अभिनय और नृत्य की शिक्षा वेश्याओं को कथक नर्तकों द्वारा दी जाती थी। नृत्त तथा आंगिकाभिनय के साथ ठुमरी के अर्थ-भावाभिव्यक्ति की शिक्षा इन कथक नृत्य के आचार्यों पर निर्भर थी। स्वर-संगति के लिए सारंगी-वादकों और लय, ताल के लिए तबला-वादकों का सहयोग अपेक्षित था। इस प्रकार वैशिक संगीत में ठुमरी को बनाने, सँवारने व सजाने में गायक, वादक तथा नर्तक इन तीनों का ही योगदान था। आगे चलकर ठुमरी का स्वतंत्र विकास होने पर इन गायकों, वादकों व नर्तकों ने ठुमरी को अपने-अपने ढंग से ग्रहण कर उसे विकसित किया।

गीताभिनय युक्त नृत्य में भावाभिव्यक्ति का माध्मय गात्र-विक्षेप (अंग-संचालन) और कंठ-ध्वनि दोनों हैं, जबकि गाने में केवल कंठ ही माध्यम है। अतएव ठुमरी की भावाभिव्यक्ति में जहाँ नर्तक या नर्तकी को आंगिक और वाचिक दोनों प्रकार के अभिनय की सुविधा रहती है, वहाँ गायक को केवल वाचिकाभिनय पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इसीलिए कालांतर में गायकों द्वारा अपनाए जाने पर ठुमरी के 'बोलों' में अंतर्निहित भावों की अभिव्यक्ति के लिए स्वरसंदर्भों और काकु-प्रयोग की आवश्यकता पर अधिक ज़ोर दिया जाने लगा। बाद में भाषा-प्रयोग की असमर्थता के कारण 'बोल' के अभाव में वादकों ने स्वर-संदर्भों की ओर विशेष ध्यान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दिया और वाद्य ध्वनि के माध्यम से ही ठुमरी की भावभिव्यक्ति का आभास देने का प्रयत्न किया। इसीलिए नर्तकों की ठुमरी में हावभाव, गायकों की ठुमरी में काकु-प्रयोग और वादकों की ठुमरी में स्वरसमूहों के विविध और वैचित्र्यमय प्रयोगों की प्रधानता दिखाई पड़ती है। व्यापक दृष्टिकोण से विचार करने पर ठुमरी-गान के समष्टिगत स्वरूप के अंतर्गत ये सभी विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं और इन सभी का मूल लक्ष्य, गीत के अंतर्गत निहित 'पदार्थ' की अभिव्यक्ति है। इसीलिए श्री सुदामा प्रसाद दुबे 'क्षितिज' कहते हैं, "ठुमरी के बोल, मुरकियाँ व स्वर-संगतियाँ सब हृदय के भिन्न-भिन्न भावों के प्रदर्शन की सामग्री मात्र हैं"।[93] डॉ० विश्वम्भरनाथ भट्ट का भी कथन है "भाव-प्रदर्शन के लिये ठुमरी बहुत ही उपयुक्त माध्यम है"।[94] "ठुमरी शैली भाव प्रदर्शन के दृष्टिकोण से नृत्य के बहुत निकट पहुँच जाती है। नृत्य द्वारा एक ही बात को कई भावों द्वारा व्यक्त किया जाता है।"[95] "नृत्यकार नाच कर, भावभंगी दिखाकर, जो कुछ व्यक्त करता है, वही ठुमरी गायक अपने गले के लोच, हल्की मुरकियों और छोटे-छोटे स्वर-समुदायों से व्यक्त कर जाता है"।

ललित कलाओं का आनंद मनुष्य दो प्रकार से ग्रहण करता है—1. देखकर, और 2. सुनकर। इसीलिए ललित कलाएँ दृश्य और श्रव्य दो प्रकार की होती है। इनमें से वास्तु, मूर्ति, चित्र, नृत्यादि कलाएँ दृश्य और काव्य, गान, वादन, आदि श्रव्य हैं। श्रव्य कलाएँ, अमूर्त होने के कारण दृश्य की अपेक्षा सूक्ष्म और श्रेष्ठ समझी जाती हैं।[97]

नृत्य के साथ ठुमरी के गान और भाव प्रदर्शन में श्रव्यत्व व दृष्टत्व दोनों का समन्वय रहने के कारण नर्तकों व नर्तकियों की ठुमरी में 'पदार्थाभिनयी नृत्य' तो प्रत्यक्ष रहता ही है, किंतु ठुमरी प्रस्तुतीकरण के समय गायकों और वादकों की भंगिमाओं और मुखमुद्रा से भी सहज ही यह अनुमान होता है कि उनके अंतर्मन में ठुमरी के 'पदार्थाभिनयी नृत्य' की कल्पना रहती है, जिसका प्रतिबिंब उनके विभिन्न स्वर सन्निवेशों के काकु समन्वित विविध प्रयोगों द्वारा ठुमरी के 'बोलों' की भावाभिव्यक्ति के प्रयत्न में दिखाई पड़ता है। श्री सुदामा प्रसाद दुबे 'क्षितिज' का कथन है, "ठुमरी गायक अपने हृदय-चित्र का चित्रण स्वर-शब्द-तूलिका से चित्रित करने में जितना सफल होता है, वैसा अन्य गायक नहीं"। "भावाभिनय ठुमरी की सूक्ष्म और मार्मिक शक्ति है। ठुमरी में निहित विभिन्न भावों का सूक्ष्म प्रतिबिंब गायक के शब्दोच्चारण और स्वरोच्चार के साथ-साथ उसके मुखमंडल पर होना ही उसकी भावुकता का द्योतक है"।[98]

ठाकुर जयदेवसिंह का कथन है कि ठुमरी सम्राट भैया गनपतराव अक्सर उनसे कहा करते थे "ठुमरी के जिन भावों को एक नर्तक जैसे हावभाव (आंगिकाभिनय) से अदा (अभिव्यक्त) करता है; उन्हीं भावों को हम वैसे ही गले से अदा (अभिव्यक्त) करते हैं; जो कि ज्यादा मुश्किल काम है"।[99] महाराष्ट्र के प्रसिद्ध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नाट्यकार व संगीतज्ञ स्वर्गीय गोविन्दराव टेम्बे से तत्कालीन सुप्रसिद्ध ठुमरी गायक मौजुद्दीन ख़ाँ ने भी यही मत व्यक्त किया था।[100] 'दृश्य' होने के कारण आंगिकाभिनय द्वारा ठुमरी के भावों को साकार करना अपेक्षाकृत सरल है, परंतु 'श्रव्य' और अमूर्त होने के कारण शब्द व स्वरों द्वारा ठुमरी के उन्हीं भावों की अनुभूति कराना बहुत कठिन है अतएव ठुमरी को गाते हुए, केवल कंठध्वनि के माध्यम से, बोल और स्वर-सन्निवेश के प्रयोग द्वारा भावों को साकार रूप में अभिव्यक्त करना वास्तव में अधिक सूक्ष्म और उच्चकोटि की कला है। लखनऊ के सुप्रसिद्ध ठुमरीकार संगीतज्ञ स्वर्गीय अली क़दर 'बब्बन' साहब अपने शिष्यों को तालीम देते समय प्रायः कहा करते थे "बेटा ! ठुमरी गाते समय मन में निरत (नृत्य) का भाव (कल्पना) होना चाहिए।[101] इन प्रसिद्ध ठुमरीकारों की उक्तियों से भी सिद्ध होता है कि ठुमरी गान मूलतः 'पदार्थाभिनयी नृत्य' से घनिष्टतया संबद्ध है। पदार्थाभिनय की यह विशेषता आज भी ठुमरी की गायकी में बोलों के भाव प्रकाशन के रूप में विद्यमान है।

संदर्भ-संकेत

1. द्विवेदी, हजारीप्रसाद और द्विवेदी, पृथ्वीनाथ, "भारतीय नाट्यशास्त्र की परंपरा और दशरूपक", पृ० 4 व 5.
2. वही पुस्तक, पृ० 5.
3. वही पुस्तक, पृ० 7.
4. वही पुस्तक, पृ० 8 व 9.
5. भरत, "नाट्यशास्त्र", प्रथम अध्याय, श्लोक संख्या 8 से 40.
6. "ऋग्यजुः सामवेदभ्यो वेदाच्चथर्वण क्रमात् ॥7॥
पाठ्यं चाभिनयं गीतं रसान् संगृह्य पद्मजः।
व्यरीरचच्छास्त्रमिदं धर्मकामार्थमोक्षदम् ॥8॥"
(नन्दिकेश्वर, 'अभिनयदर्पणम्)
7. "नाट्यवेदं ददौ पूर्वम् भरताय चतुर्मुखः।
ततश्च भरतः सार्धम् गन्धर्वाप्सरसां गणैः ॥2॥
नाट्यं नृत्तं तथा नृत्यमग्रे शम्भोः प्रयुक्तवान्। (वही)
8. "एतच्चतुर्विधोपेत नटनं त्रिविधं स्मृतम्।
नाट्यं नृत्तं नृत्यमिति मुनिभिर्भरतादिभिः।" (वही)
9. "नाट्यं तन्नाटकं चैव पूज्यं पूर्वकथायुतम्।
भावाभिनय हीनं तु नृत्तमित्यभिधीयते ॥15॥
रसभावव्यंजनादियुक्तं नृत्यमितीर्यते।" (वही)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

10. "अवस्थानुकृतिर्नाट्यं............ ।
.... दशधैवरसाश्रयम् ॥7॥

अन्यद्भावाश्रयं नृत्यं नृत्तं ताललयाश्रयम् ।
आद्यं पदार्थाभिनयो मार्गो देशी तथा परम् ॥9॥"

(दशरूपक, प्रथमप्रकाश)

11. "काव्योपनिबद्धधीरोदात्तापवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यं ।" (अवलोक)

12. "रसाश्रयन्नाट्याद्भावाश्रयंनृत्यमन्यदेव तत्र भावाश्रयमिति विषयभेदान्नृत्यमिति नृतेगात्रविक्षेपार्थत्वेनांगिकबाहुल्यात्तत्कारिषु च नर्तकव्यपदेशाल्लोकेऽपि च 'अत्र प्रेक्षणीयकम्' इति व्यवहारान्नाटकादेरन्यन्नृत्यं तद्भेदत्वाच्छ्रीगदितादेरवधारणांपपत्तिः । नाटकादि च रसविषयम्, रसस्य च पदार्थीभूतविभावादिकसंसर्गात्मकवाक्यार्थहेतुकत्वाद्वाक्यार्थाभिनयात्मक रसाश्रयमित्यनेन दर्शितम् । नाट्यमिति च 'नट अवस्पन्दने' इति नटेः किञ्चिच्चलनार्थत्वात्सात्विकबाहुल्यम्, अत एव तत्कारिषु नटव्यपदेशः । यदा च गात्रविक्षेपार्थत्वेसमानेऽप्यनुकारात्मकत्वेन नृत्तादन्यन्नृत्यं तथा वाक्यार्थाभिनयात्मकान्नाट्यात्पदार्थाभिनायात्मकन्यदेव नृत्यमिति ।" (अवलोक)

13. "तालश्चंचत्पुटादिः, लयो द्रुतादिः, तन्मात्रापेक्षोऽङ्गविक्षेपोऽभिनयशून्यो नृत्तमिति ।"

(अवलोक)

14. *Natya, Nritta and Nritya*, p. 8 and 9.

15. Varma, K.M., *Natya, Nritta and Nritya*, p. 8 and 9.

16. "नाट्यमिति च नट अवस्कन्दन इति नटेः किंचित् चलनार्थत्वात् सात्विकबाहुल्यम् ।
नृत्यमिति नृतेर्गात्रविक्षेपार्थत्वेनाऽऽङ्गिकबाहुल्यात् तत्कारिषु च नर्तकव्यपदेशात् ।"

(अवलोक)

17. "वाक्यार्थाभिनयात्मकान् नाट्यात् पदार्थाभिनयात्मकन्यदेव नृत्यमिति ।" (अवलोक)

18. द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद व द्विवेदी, पृथ्वीनाथ. "भारतीय नाटयशास्त्र की परंपरा और दशरूपक", पृ० 54.

19. वही पुस्तक, पृ० 54.

20. वही पुस्तक, पृ० 56.

21. "गीतप्रयोगमाश्रित्य नृत्तमेतत् प्रवर्त्यताम् ॥272॥
प्रथमं त्वभिनेयं तु गीतके सर्ववस्तु तत् ।
तदेव च पुनर्वस्तु नृत्तेनापि प्रदर्शयेत् ॥299॥"

(भरत : नाट्यशास्त्र)

22. "नृत्यं गीताभिनयनं भावतालयुतं भवेत् ॥35॥"

(नन्दिकेश्वर : अभिनयदर्पणम्)

23. "आस्येनालम्बयेद्गीतं हस्तेनार्थम् प्रदर्शयेत् ।
चक्षुर्भ्यां दर्शयेद्भावं पादाभ्यां तालमाचरेत् ॥36॥"

(वही)

24. Thakur, Jaideva Singh; The Evolution of Thumari, "कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका" (1965), पृ० 34.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

25. "सन्ध्यायां नृत्यत: शम्भोर्भक्तयाऽऽद्रों नारद: पुरा ।
गीतवांस्त्रिपुरोन्माथं तच्चित्तस्त्वथगीतके ॥
चकाराभिनयं प्रीतस्ततस्तण्डुं च सो ब्रवीत् ।
नाट्योक्ताभिनयेदं वत्स योजय ताण्डवम् ॥"

26. Thakur, Jaideva Singh, The Evolution of Thumari, 'कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका', 1965, पृ० 35.

27. वही पुस्तक, पृ० 35.

28. "दृष्टव्ये नाट्यनृत्ये च पर्वकाले विशेषत: ॥12॥
एतन्नृत्यं महाराज सभायां कल्पयेत् सदा ॥"
(नन्दिकेश्वर : 'अभिनयदर्पणम्)

29. "मधुयोद्धतदेभेनत्सद्द्वयं द्विविधं पुन: ।
लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम् ॥10॥"
(धनंजय, 'दशरूपक', प्रथम प्रकाश)

30. "रेचकैरंगहारैश्च नृत्यन्तं वीक्ष्य शंकरम् ।
सुकुमार प्रयोगेण नृत्यति स्म च पार्वती ॥254॥"
"रेचकाश्चांगहाराश्च पिण्डीवन्धास्तथैव च ।
सृष्ट्वाभगवता दत्तास्तण्डवे मुनये तदा ॥264॥
....
नृत्तप्रयोग: सृष्टी य: स ताण्डव इति स्मृत: ॥265॥"
(भरत, 'नाट्यशास्त्र' चौथा अध्याय)

"प्रयोगमुद्धतं स्मृत्वा स्वप्रयुक्तं ततो हर: ॥3॥
तण्डुना स्वगणाग्रण्या भरताय न्यदीदिशत् ।
लास्यमस्याग्रत: प्रीत्या पार्वती समदीदिशत् ॥4॥"
(नन्दिकेश्वर, 'अभिनयदर्पणम्)

31. "बुध्वाथ ताण्डवं तण्डोर्मर्त्येभ्यो मुनयोऽवदन् ।
.... ॥5॥"
(नन्दिकेश्वर, 'अभिनयदर्पणम्)

2. (अ) "वीरेरसे महोत्साहो पुरुषो यत्र नृत्यति ।
रौद्रभावरसोत्पत्तिस्तत्तांडवमितिस्मृतम् ॥
यौवनस्त्रीविलासिन्य: कामभावविचक्षणा: ।
यदङ्गहारवैदग्ध्यात् कुर्युर्लास्यमुदीरितम् ॥"

(आ) "ताण्डव: पुरुषोज्ञेयलास्यञ्चस्त्रीरीरिता ।"
(व्यास, कृष्णानंददेव:, 'संगीत रागकल्पद्रुम' स्वराध्याय, पृ० 23 व 24)

33. "यत्र शृंगारसम्वद्धं गानं स्त्रीपुरुषाश्रयम् ।
देवी कृतैरङ्गहारैर्ललितैस्तत् प्रयोजयेत् ॥321॥"
(भरत, 'नाट्यशास्त्र', चतुर्थ अध्याय)

"शृंगाराकार चेष्टात्वं सहजं ललितं मृदु ।
.... ॥14॥"
"सुकुमाराङ्गविन्यासो मसृणो ललितं भवेत् ॥41॥"
(धनंजय, 'दशरूपक', द्वितीय प्रकाश)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

34. "………वृत्तिश्चतुर्धा तत्र कैशिकी ।
गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुः शृंगारचेष्टितैः ॥47॥"
(धनंजय, 'दशरूपक', द्वितीय प्रकाश)

35. "भारतीं सात्वतीं चैव वृत्तिमारभटीं तथा ।
……………………………… ॥41॥"
"दीयतां भगवन् द्रव्यं कैशिक्याः संप्रयोजकम् ।
मृद्वंगहारसंयुक्ता रसभावक्रियात्मिका ॥44॥"
(भरत, 'नाट्यशास्त्र', प्रथम अध्याय)

36. "याश्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंयुक्ता या बहुनृत्तगीता ।
कामोपभोगप्रभवोपचारा तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति ॥47॥"
(वही, बाईसवाँ अध्याय)

37. "तन्वी रूपवती श्यामा पीनोन्नतपयोधरा ॥22॥
प्रगल्भा सरसा कान्ता कुशला ग्रहमोक्षयो ।
विशाललोचना गीतवाद्यतालानुवर्तिनी ॥24॥
परार्ध्यभूपासम्पन्ना प्रसन्नमुखपङ्कजा ।
एवंविधगुणोपेता नर्तकी समुदीरिता ॥25॥"
(नन्दिकेश्वर, 'अभिनयदर्पणम्)

38. "गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते ।"

39. "गीतवादित्रनृत्यानां त्रयं संगीतमुच्यते ।
गानस्यात्र प्रधानत्वात्तच्छंगीतमितीरितम् ॥20॥"
(अहोबल, 'संगीत-पारिजात)

40. "It may be further pointed out that almost all the time music is essential in Nritya, which is comparatively quite unimportant and optional too in the case of Natya."
(Varma, K.M., *Natya*, *Nritta & Nritya*, p. 70)

41. Thakur Jaideva Singh, Evolution of Thumari.
"कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका" (1965), पृ॰ 36.

42. "मार्गदेशीविभागेन संगीतं द्विविधं मतम् ।
मार्गो देशीति तद्द्वेधा तत्र मार्गः स उच्यते ।
यो मार्गितो विरिञ्च्याद्यैः प्रयुक्तो भरतादिभिः ॥22॥
देवस्य पुरतः शम्भोर्नियताभ्युदयप्रदः ।
देशे देशे जनानां यद्रुच्या हृदयरंजकम् ॥23॥
गीतं च वादनं नृत्यं तद्देशीत्यभिधीयते ॥"
(शार्ङ्गदेव, 'संगीत रत्नाकर', प्रथम स्वरगताध्याय)

43. "मालविकाग्निमित्र", द्वितीय अंक, पृ॰ 282 व 283.

44. Thakur Jaideva Singh, Evolution of Thumari, "कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका" (1965), पृ॰ 36.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

45. (8) "भगवतो नारायणस्य भवने मदनसेनया मदनाराधने संगीतके यथारसमभिनीयमाने।"
('उभयाभिसारिका', श्लोक संख्या 3)

(7) "भगवतो प्रतिहतशासनस्य कुसुमपुरपुरन्दरस्य भवने पुरंदरविजयं नाम संगीतकं यथारसाभिनयभिनेतव्यमिति देवदत्तया सह मे पणित संवृतः।"
('उभयाभिसारिका, श्लोक संख्या 28)

46. (5) "प्रेक्षायामुपनिमन्त्रितस्तत्र च मयूरसेनाया लास्यवारो बुद्धिपूर्वक इत्यवगच्छामि।

(6) ततः प्रताड़ितेष्वातोद्येषु देवतामङ्गलम् पूर्वमुपोह्य प्रस्तुते गीतके प्रनृत्तायां नर्तक्यां प्रथमवस्तुन्येव मयूरसेनायाः खलु नृत्ते प्रयोगदोपा गृहीताः।"
('पादताडितकम्', श्लोक संख्या 97)

47. "स्थानस्थानेपु च मन्दमन्दमस्फाल्यमानालिंग्यकेन शिञ्जानमञ्जुवेणुना झणझणायमानझल्लरीकेण ताड्यमानतन्त्रीपटहिकेन वाद्यमानानुत्तालावुवीणेन कलकांस्यकोशीक्वणितकाहलेन समकालदीयमानानुत्तालतालिकेनातोद्यवाद्येनानुगम्यमानाः, पदे पदे झणझणितभूपणरवैरपि सहृदयैरिवानुवर्तमानताललयाः, कोकिला इव मदकलकाकलीकोमलालापिन्योविटानां कर्णामृतान्यश्लीलरासकपदानि गायन्त्यः; ......कोपाभिनयेपु ताडयन्त इव भ्रूलताविभागैः, प्रणयसम्भापणेपु वर्पन्त्य इव सर्वरसान्, चतुरचङ्क्रमेपु विकिरन्त्य इव विकारान्, पण्यविलासिन्यः प्रानृत्यन्।"
('संकेत' व्याख्या—अश्लीलानि, ग्राम्याणि)
बाणभट्ट, 'हर्पचरितम्' (शंकरकविविरचितं 'संकेत' व्याख्योपेतम्), चतुर्थ उच्छ्वास, पृ० 217 व 218.

48. "तुल्यशिशुतरुणवृद्धं समगुप्तागुप्तयुवति सविचेष्टम्।
अगणितवाच्यावाच्यं क्रीडन्ति जनाः प्रवृद्धहर्षेण ॥899॥
पिष्टातर्कपिजरितं सुचिरोच्छ्रितविविधकुसुमनिर्यूहम्।
गात्रायाससमुत्थितवहुनिः श्वासप्रकीर्णपटवासम् ॥890॥
तूर्यरवव्यामिश्रकरतालैरुद्भुजं प्रनृत्यम्।
मुहुरुपजातस्खलनं सर्दाशदार्ढ्यसौष्ठवं स्थविरं ॥891॥
अस्तु वसंतः सततं स्वाधीनामीष्टजनसमाश्लेषः।
इति गायन्ती रसभालिंगति मदवशात्तरुणी ॥892॥
क्रीडन्त्या श्रमरहितं शृंगकसलिलेन ताडिस्तरुणः।
सीमन्तिन्या गणयति हृष्टारमा सुभगमात्यानम् ॥892॥"
(दामोदर गुप्त, 'कुट्टनीमतम् काव्यम्')

49. अबुल फ़ज़्ल : आइने अकबरी (अनुवादक—फ्रांसिस ग्लैडविन), पृ० 734.

50. देखिए :—(अ) 'संगीत रत्नाकर', चतुर्थः प्रबन्धाध्यायः, श्लोक सं० 175 से 179 (सिंहभूपाल की टीका सहित, रास, रासक) तथा श्लोक 352 से 355 पर्यन्त; श्लोक सं० 290 से 292 पर्यन्त; पञ्चमस्तालाध्यायः श्लोक सं० 261 व 266.

(आ) राजशेखर, 'कर्पूरमञ्जरी', चतुर्थ जवनिकान्तरम् 12-15.

(इ) "तेतिगिध इति शब्देन नर्त्तनं रासतालतः।
अथवा चर्चरीतालाच्चतुरावर्तनैर्नटैः।
क्रियते नर्त्तनं तत्स्याच्चर्चरी नर्त्तनं वरम्।" (वेद)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

51. "लघ्वादितालो लोकेऽसौ रासः" ('संगीत रत्नाकर', पञ्चमस्तालाध्याय, श्लोक सं० 261)—रासताल का स्वरूप। ("चतुरक्षरोच्चारमितया कालसाम्यम्—कल्लिनाथ ॥237॥)

52. देखिए—ओझा, डॉ० दशरथ व शर्मा, डॉ० दशरथ, "रास और रासान्वयी काव्य", भूमिका, पृ० 41.

53. "रासकस्य प्रभेदास्तु रासक, नाट्यरासकं। चर्चरीत्रितयः प्रोक्ताः।" (वेम)

54. ओझा, डॉ० दशरथ व शर्मा, डॉ० दशरथ : "रास और रासान्वयी काव्य", भूमिका पृ० 52 (पाद टिप्पणी 2); चर्चरी, पृ० 15.

55. (i) "धिगरि धिग चाँचरि करैं"

('सूरसागर', पद संख्या 3475)

(ii) "चाँचरि झूमक कहँ सरस राग"

(तुलसीदास, 'गीतावली', 7/22)

56. महाराणा कुंभा, 'संगीतराज' (चतुर्थ परीक्षणम्), श्लोक सं० 97, 98, 99, 100, पृ० 618.

57. Vyas, D. G., Background of Kathak, *Marg*, Volume XII, September, 1959, Number 4, p. 7.

58. (अ) बन्दोपाध्याय, कृष्णधन, 'गीतसूत्रसार', पृ० 170 व 171.
(आ) शर्मा, भगवतशरण, 'तालप्रकाश', पृ० 83.

59. Apte, V.S., *The Student's Sanskrit-English Dictionary*, p. 130.

60. परांजपे, डॉ० शरच्चन्द्र श्रीधर, "भारतीय संगीत का इतिहास", पृ० 199 व 200.

61. दिनमान (साप्ताहिक), 7 सितंबर 1969, "कथक शैली के स्रोत", पृ० 29.

62. मीतल, प्रभुदयाल, "ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास", पृ० 169, 162 व 163.

63. ओझा, डॉ० दशरथ व शर्मा, डॉ० दशरथ : "रास और रासान्वयी काव्य", भूमिका, पृ० 43.

64. मीतल, प्रभुदयाल : "ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास". पृ० 170 से 194.

65. वही पुस्तक, पृ० 206.

66. जैन, के० एस० : "कत्थक नटवरी नृत्य", भूमिका, पृ० 1.

67. वही पुस्तक, पृ० 60.

68. वही पुस्तक, भूमिका, पृ० 1 व 12.

69. गर्ग, लक्ष्मीनारायण, "कथक नृत्य", प्रथम अध्याय, पृ० 23 व 26.

70. वही पुस्तक, पृ० 27.

71. मीतल, प्रभुदयाल, "ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास", पृ० 190.

72. वही पुस्तक, पृ० 194 से 198 पर्यन्त.

73. (अ) जैन, के० एस०, "कत्थक नटवरी नृत्य", पृ० 12.
(आ) गर्ग, लक्ष्मीनारायण, "कथक नृत्य", पृ० 23 व 24.

74. दिनमान (साप्ताहिक), सितंबर 1969, कथक : शैली के स्रोत, पृ० 29.

75. Tagore, Sir Saurindra Mohan, *Universal History of Music*, p. 60.

76. *Marg*, Volume XII, September 1959, Number 4, p. 7.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

77. गर्ग, लक्ष्मीनारायण : कत्थक नृत्य, पृ० 58.

78. अन्यद्भावाश्रयं नृत्यं नृत्तं ताललयाश्रयम् ।
आद्यं पदार्थाभिनयो मार्गो देशी ततः परम् ॥9॥
(धनंजय, 'दशरूपक', प्रथय प्रकाश)

"वाक्यार्थाभिनयात्मकान् नाट्यात् पदार्थाभिनयात्मकमन्यदेव नृत्यमिति ।"
(धनिक, 'अवलोक')

78. (i) "Bol is the very life of the Tumari." (Chaubey, Dr. S.K., The Luckhnow Thumri, *Uttar Pradesh* 1957, p. 28).

(ii) "The 'Bol' or the actual word or expression, which is to be interpreted by the singer in all its emotive shades, is the soul of the Thumari." (Pant, Chandra Shekhar, "Literary Aspect of Thumari", 'कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका' (1965), पृ० 41.

79. (अ) भातखण्डे संगीत शास्त्र (प्रथम भाग). पृ० 62.

(आ) भातखण्डे, श्री विष्णु नारायण, "क्रमिक पुस्तक मालिका" (चौथी पुस्तक), पृ० 40.

80. (अ) बन्दोपाध्याय, कृष्णधन, "गीतसूत्रसार" प्रथम भाग), तृतीय संस्करण, पृ० 86.

(आ) Pant, C. S., Literary Aspects of Thumari, 'कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका, (1965), पृ० 42.

81. बन्दोपाध्याय, कृष्णधन, "गीतसूत्रसार" (प्रथम भाग), पृ० 86.

82. Tagore, Sir Sourindra Mohan, *Universal History of Music*, p. 60.

83. पंडित सुदर्शनाचार्य, "संगीत सुदर्शन," पृ० 62 से 64 तक.

84. "द्रष्टव्ये नाट्यनृत्ये च पर्वकाले विशेषतः ॥12॥"
"...नृत्यं महाराज सभायां कल्पयेत् सदा ॥16॥"
(नन्दिकेश्वर, 'अभिनयदर्पणम्')

85, नागर, अमृतलाल, "ये कोठे वालियाँ", पृ० 56.

86. "गीतवाद्यपाठ्यनृत्त नाट्यक्षर चित्रवीणा वेणुमृदंग परिचित्तज्ञान गन्धमाल्यसंयूहन-सम्पादन-संवाहन-वैशिक कला ज्ञानानि गणिका दासी रंगोपजीवनीश्च ग्राह्यता राजमण्डलादाजीवं कुर्यात् ।"
(कौटिल्य, "अर्थशास्त्र", 41)

87. कालिदास, "मालविकाग्निमित्र", प्रथम अंक, पृ० 271.

38. (अ) गर्ग, लक्ष्मीनारायण, "कथक नृत्य", पृ० 22 व 24.

(आ) नागर, अमृतलाल, "ये कोठे वालियाँ", पृ० 88, 93, 98, 103, 108, 109, 118, 151, 156.

89. नागर, अमृतलाल, "ये कोठे वालियाँ", पृ० 76, 152, 164, 165, 169 व 178.

90. वही पुस्तक, पृ० 114.

91. "शैलालिनस्तु शैलूपा जायाजीवाः" (अमरकोष, द्वितीयकाण्ड, शुद्रवर्ग 20, श्लोक सं० 12).

92. (i) Baijnath, Nauch—Girls, *Marg*, Volume XII, September 1959, Number 4, p. 19 & 20.

(ii) Menon, Balkrishna, *Indian Classical Dances*, Kathak (Nach), p. 54, 55.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

93. 'क्षितिज'. सुदामाप्रसाद दुवे, "ठुमरी की लोकप्रियता", संगीत (मासिक पत्रिका), ठुमरी अंक, जनवरी-फरवरी 1947, पृ० 13.

94. भट्ट, विश्वम्भरनाथ : "ठुमरी की प्रेरणाशक्ति और उसकी विशेपतायें", संगीत (मासिक पत्रिका), ठुमरी अंक, जनवरी-फरवरी 1947, पृ० 3.

95. वही पुस्तक, पृ० 3.

96. वही पुस्तक, पृ० 3.

97. देखिए—श्यामसुन्दरदास, "साहित्यालोचन", पृ० 17 व 18.

98. 'क्षितिज', सुदामाप्रसाद दुवे, संगीत (मासिक पत्रिका), ठुमरी अंक, जनवरी फरवरी 1947, पृ० 13.

99. (अ) ठाकुर जयदेवसिंह द्वारा बताए गए संस्मरण के अनुसार।
(आ) Thakur Jaideva Singh, Evolution of Thumari, "कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका" (1965), पृ० 38.

100. स्वर्गीय गोविन्दराव टेम्बे के संस्मरणानुसार.

101. स्वर्गीय 'बब्बन' साहब के शिष्य श्री मोहनलाल के संस्मरण के अनुसार.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

3

ठुमरी की उत्पत्ति

ठुमरी की उत्पत्ति-संबंधी विभिन्न मान्यताएँ

ठुमरी के उद्भव के बारे में लोगों की विभिन्न मान्यताएँ हैं। ठुमरी का आविष्कार कब, कहाँ और किसके द्वारा हुआ ? इन प्रश्नों के समाधान में विद्वानों ने अलग-अलग मत व्यक्त किए हैं।

सामान्यतया लोगों की धारणा है कि उन्नीसवीं शताब्दी में अवध के शासक वाजिद अली शाह के समय लखनऊ दर्बार से ठुमरी गान शुरू हुआ। वाजिद अली शाह का जन्म सन् 1822 ई० में हुआ था और वे अवध की राजगद्दी पर सन् 1847 ई० में बैठे। परंतु अंग्रेज़ों ने सन् 1856 ई० में उन्हें राज्य छोड़ने को विवश किया और अवध की राजधानी लखनऊ से हटाकर मटियाबुर्ज, कलकत्ता में नज़रबंद कर दिया। वहाँ सन् 1887 ई० में उनकी मृत्यु हो गई।[1]

वाजिद अली शाह का उर्दू शायरी, नाट्य, संगीत, कथक नृत्य तथा ठुमरी के क्षेत्र में विशेष योगदान रहा है। उन्होंने 'अख़्तर' उपनाम से अनेक काव्य तथा संगीत रचनाएँ कीं और अपने दरबार के तत्कालीन प्रसिद्ध कथक नर्तक ठाकुर प्रसाद जी से कथक नृत्य सीखा, जोकि लखनऊ घराने के प्रख्यात कथक नर्तक महाराज बिंदादीन तथा कालिकाप्रसाद जी के चाचा और गुरु थे। हकीम मोहम्मद करम इमाम के अनुसार संगीत की प्रत्येक कला पर वाजिद अली शाह का उत्तम अधिकार था और उनके समय लखनऊ में संगीत तथा अन्य कलाओं के श्रेष्ठ विद्वान मौजूद थे।[2]

स्वर्गीय कन्हैयालाल मणिकलाल मुंशी ने भी अपने 'कुलपति के पत्र' में बताया है कि वाजिद अली शाह फ़ारसी और उर्दू भाषा के उत्तम ज्ञाता और शायर थे। वे अपने समय में नाटक, संगीत, नृत्य और ठुमरी के सबसे बड़े संरक्षक थे। वे आधुनिक उर्दू रंगमंच के जनक भी थे। लखनऊ के तत्कालीन प्रसिद्ध शायर 'अमानत' ने उनके आदेशानुसार इन्दरसभा नामक संगीत रूपक लिखा, जो आगे चलकर परवर्ती उर्दू नाटकों का आदर्श बन गया। अपने महल में संगठित स्त्रियों की संस्था 'परीख़ाना' के सहयोग से वाजिद अली शाह इन्दरसभा तथा संगीत-नृत्य-प्रधान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'रहस' का आयोजन कर उनमें क्रमशः राजा इन्दर (इन्द्र) और श्रीकृष्ण की प्रमुख भूमिका अभिनीत किया करते थे। 'रहस' शब्द संस्कृत 'रास' का ही अपभ्रंश है।[3]

अपने इन गुणों के कारण वाजिद अली शाह की प्रसिद्धि एक कुशल कवि, नाट्यकार, संगीतज्ञ तथा ठुमरी वाग्गेयकार के रूप में रही है। उनके समग्र लखनऊ में ठुमरी खूब फूली-फली। इसीलिए सामान्यतया लोगों की धारणा बन गई कि वाजिद अली शाह ही ठुमरी के आविष्कर्त्ता थे।

डॉ० सुशील कुमार चौबे के मतानुसार लखनऊ के उस्ताद सादिक़ अली खाँ ठुमरी के अन्वेषक समझे जाते हैं। एक शताब्दी पूर्व वे लखनऊ के श्रेष्ठ और अग्रगण्य संगीतज्ञों में से थे।[4] ठुमरी का संबंध लखनऊ से है और वहाँ यह एक सुकुमार कला के रूप में विकसित हुई। इसके पूर्व संगीत के इतिहास में ठुमरी का अस्तित्व किसी अविकसित गीतभेद के रूप में था।[5]

लखनऊ निवासी स्वर्गीय उस्ताद सादिक़ अली खाँ के प्रधान शिष्य स्वर्गीय खुर्शेद अली खाँ के सुपुत्र श्री इक़बाल अली उपनाम उस्ताद बल्लन खाँ के अनुसार उस्ताद सादिक़ अली खाँ का जन्म सन् 1800 और मृत्यु सन् 1910 के लगभग हुई। इस प्रकार उन्होंने लगभग 110 वर्ष की लबी आयु पाई। वे कव्वालबच्चे घराने के प्रसिद्ध संगीतज्ञ थे। उनकी प्रसिद्धि विशेषकर ठुमरी गायक के रूप में थी। वे वाजिद अली शाह के दरबारी संगीतज्ञ अलीबख्श खाँ के बहनोई थे। उनके प्रसिद्ध शिष्यों में अलीबख्श खाँ के सुपुत्र खुर्शेद अली खाँ, इनायत हुसैन खाँ (सहसवान), महाराज बिंदादीन, भैया गनपत राव, मौजुद्दीन खाँ तथा रामकृष्ण बुआ वज़े इत्यादि लोग थे। कहते हैं कि वाजिद अली शाह और नवाब वज़ीर मिर्ज़ा बाला क़दर उर्फ़ 'कदर पिया' ने भी सादिक़ अली खाँ से ठुमरी का ज्ञान प्राप्त किया था।

इसमें कोई संदेह नहीं कि वाजिद अली शाह और उस्ताद सादिक़ अली खाँ ठुमरी के प्रमुख उन्नायकों में से थे, किंतु ऐतिहासिक तथ्यों से ज्ञात होता है कि उनके पहले ही सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में ठुमरी का अस्तित्व प्रकाश में आकर लोकप्रिय गीतभेद के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। कैप्टेन एन० ऑगस्टस विलर्ड ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ए ट्रीटिज ऑन दि म्यूजिक ऑफ़ हिंदुस्तान को सर्वप्रथम सन् 1834 में प्रकाशित किया, जिसमें ठुमरी को 'ब्रजभाषा की मिश्रित बोली' का गीत बताया गया है।[6] सन् 1834 में प्रकाशित ठुमरी-संबंधी इस उद्धरण से स्वर्गीय चंद्रशेखर पंत ने, वाजिद अली या सादिक़ अली को ठुमरी आविष्कारक मानने वालों को सचेत करते हुए, इन मान्यताओं के प्रति शंका व्यक्त की है[7], क्योंकि सन् 1834, अर्थात् वाजिद अली शाह के शैशव और सादिक़ अली खाँ के यौवन काल में ही ठुमरी एक ऐसे गीत भेद के रूप में सर्वमान्य थी जिसमें अशुद्ध (मिश्रित) ब्रजभाषा का व्यवहार होता था।

कैप्टेन विलर्ड ने ठुमरी का वर्णन हिंदुस्तानी संगीत के तत्कालीन गीत-भेदों में क्रमशः ध्रुवपद, ख्याल और टप्पा के बाद किया है।[8] इससे ज्ञात होता है कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्कालीन संगीत-क्षेत्र में प्रतिष्ठा के क्रम से ठुमरी का स्थान ध्रुवपद, ख्याल और टप्पा के बाद समझा जाता था। आज भी यही स्थिति है। इसीलिए संगीत-सभाओं में अकसर ख्याल या टप्पा के बाद ही ठुमरी गाने का रिवाज है।

कला की किसी नई विधा को समाज में लोकप्रिय होकर अपना स्थान बनाने और सांस्कृतिक मान्यता प्राप्त करने में कम-से-कम पच्चीस से तीस वर्ष का समय लगना स्वाभाविक ही है। अतः हिंदुस्तानी संगीत के अंतर्गत ख्याल और टप्पा के बाद अपना स्थान निर्धारित करने में यदि ठुमरी को न्यूनतम अवधि भी लगी हो तो भी ठुमरी का अस्तित्व उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में अवश्य होना चाहिए। यह बात जोधपुर के महाराजा मानसिंह उपनाम 'रसराज' और किशनगढ़ के महाराज जवानसिंह उपनाम 'व्रजराज' तथा 'नगधर' कृत ठुमरियों से भी प्रमाणित होती है।

महाराजा मानसिंह का राज्यकाल सन् 1803 से सन् 1843 तक था[9], और महाराजा जवानसिंह का राज्याभिषेक 31 मार्च सन् 1828 को हुआ था।[10] महाराजा मानसिंह कृत ठुमरी का उदाहरण निम्नलिखित है :

राग कालिंगड़ो ठुमरी, आड़ो तितालो

अलबेले चंपा चीर में। असताई
बिजली सी चमके पियारी जी री,
पियरी घटा की भीर में।[11]

यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि कालिंगड़ा नामक राग व त्रिताल नामक ताल में आज भी ठुमरियाँ गाई जाती हैं। उक्त ठुमरी में निर्दिष्ट 'आडो तितालो' से संभवतः 'अद्धा तिताला' का तात्पर्य रहा होगा, जो कि त्रिताल का ही एक भेद और ठुमरी गान में व्यवहृत होने वाला एक प्रसिद्ध ताल है।

महाराजा जवानसिंह कृत ठुमरी का एक उदाहरण इस प्रकार है :

बटमारो तेरो मोहना री, मेरो गाँव लुटै माँ।
मोरे पास अछे अछे साल दुसाले, कर भर दीने
तौ हूँ गैल नाहिं छूटै माँ।[12]

इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि उस समय तक ठुमरी के प्रति शासक वर्ग की रुचि बहुत बढ़ चुकी थी और उसका प्रवेश राजदरबारों में हो चुका था इससे सिद्ध होता है कि अवध नरेश वाजिद अली शाह के पहले से ही कुछ अन्य राजदरबारों में ठुमरी गान को प्रोत्साहन मिल रहा था। महाराजा मानसिंह 'रसराज' कृत 'राग कालिंगडो' तथा 'आडो तितालो' की ठुमरी के उदाहरण से यह भी प्रमाणित होता है कि उस समय भी ठुमरी गान को रागसंगीत का ही एक अंग माना जाता था और उसकी रचना विशिष्ट रागों व तालों के अनुसार हुआ करती थी।

सन् 1834 में कैप्टेन विलर्ड की पुस्तक ए ट्रीटिज ऑन दि म्यूजिक ऑफ़ हिंदुस्तान प्रकाशित होने के आठ वर्ष बाद सन् 1842 में उदयपुर निवासी श्री

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कृष्णानंद देव व्यास ने संगीत रागकल्पद्रुम नामक एक विशाल ग्रंथ कलकत्ता से प्रकाशित कराया, जिसके 'रंगीन गान' या 'रंगीन गान मजमुवा' अध्याय में भैरवी, सिंधु भैरवी, सिंधु काफी, सिंधु मुलतानी, मुलतानी काफी, मुलतानी बरवा, सावनी बरवा, देस, पीलू, जँगला, गारा, बिहारी, कालिंगड़ा, खम्माइची (खमाज), झिंझोटी तथा परज इत्यादि रागों में विभिन्न ठुमरीकारों की सैंकड़ों ठुमरियाँ संग्रहीत हैं।[13] उनमें से अधिकतर ठुमरियाँ ब्रजभाषा में हैं और उनका काव्य-सौष्ठव बहुत उत्तम है। उत्तम काव्य से युक्त विभिन्न रागों व तालों में निबद्ध इन ठुमरियों की इतनी अधिक संख्या को देखते हुए, केवल तीस या चालीस वर्षों में इन ठुमरियों का रचना-कार्य संपन्न होकर समाज में प्रचलित हो जाना असंभवप्राय लगता है। अतः ठुमरी की परंपरा और अधिक पुरानी होनी चाहिए। डॉ० स्वर्गीय विश्वंभरनाथ भट्ट का भी यही मत है। वे कहते हैं "यों कहने को तो कहा ही जाता है कि अवध के नवाबों के दरबार में ठुमरी का उद्भव हुआ था, परंतु उक्त दरबार में जो ठुमरी गाई जाती थी उसका स्वरूप इतना प्रौढ़ था कि उसके आधार पर यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि उस समय से ठुमरी की नवीन परिपाटी प्रचलित हुई होगी। जिसे हम आरंभ मान रहे हैं वह शुरू में ही इतना प्रौढ़ रूप कैसे प्राप्त कर सकता है? अतः यही कहना पड़ता है कि यह परिपाटी जनता में बहुत पहले से चली आ रही है"।[14]

हकीम मुहम्मद करम इमाम ने सन् 1855 के लगभग उर्दू भाषा में मादनुल-मूसीक़ी नामक एक ग्रंथ लिखा। उसमें ग़ुलाम रज़ा ख़ाँ नामक सितारवादक की चर्चा करते हुए लेखक लिखता है "और तरीक़ए ग़ुलाम रज़ा में बजुज़ ग़ुलाम रज़ा और किसी को अच्छा न पाया। अव्वल तो ये बाज अताई पसंद व बेक़ायदा है। गतें उसकी तिताला में बरागिनी व धुन हा ब वजअ ठुमरी बँधी हैं"।[15] ग़ुलाम रज़ा द्वारा आविष्कृत सितार का यह बाज मूलतः त्रिताल मध्यलय की ठुमरियों पर आधारित था, जोकि आगे चलकर रज़ाख़ानी, लखनवी या पूरब बाज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस बाज की गतों का वर्तमान सितारवादन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ग़ुलाम रज़ा के विषय में मोहम्मद करम इमाम पुनः लिखते हैं "हाँ, ग़ुलाम रज़ा का हाथ के उस तरीक़े का वो मूजिद (आविष्कर्ता) था, बहुत बा मज़ा देखा। अब उस बाज के लोग गिरफ़्तारे ख़ब्त हैं"।[16] लेखक के अनुसार "ग़ुलाम रज़ा ने यह बाज फ़कत बराये उमराये लखनऊ ईजाद किया था"।[17] इन उद्धरणों से यह प्रकट होता है कि ग़ुलाम रज़ा के समय भी लखनऊ के समाज में ठुमरी बहुत लोक-प्रिय थी और उसे रईसों, सामंतों तथा शासक वर्ग का संरक्षण प्राप्त था।

ग़ुलाम रज़ा के बारे में अनुमान है कि वह लखनऊ के नवाब आसफ़ुद्दौला का समकालीन था। नवाब आसफ़ुद्दौला के समय लगभग सन् 1792 (हिजरी सन् 1209) में मीर सबिर अली शाह ने फ़ारसी भाषा में उसूलुन्नग़मात-अल-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आसफिया नामक संगीत-ग्रंथ की रचना की, जिसमें ग़ुलाम रज़ा का उल्लेख मिलता है।[18] नवाब आसफ़ुद्दौला का राज्यकाल सन् 1775 से सन् 1797 तक माना जाता है।[19]

मादनुल-मूसीक़ी के लेखक का यह कथन "ग़ुलाम रज़ा का हाथ, के उस तरीक़ का वो मूजिद (आविष्कर्त्ता) था, बहुत बा मज़ा देखा"[20] सिद्ध करता है कि कि हकीम मुहम्मद करम इमाम ने भी ग़ुलाम रज़ा का सितार वादन सुना था। अतएव ग़ुलाम रज़ा का समय साधारणतया अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश से उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के बीच माना जा सकता है। इससे अनुमान होता है कि नवाव आसफ़ुद्दौला के समय भी लखनऊ में ठुमरी का प्रचलन था। संभवतः इसीलिए, वाजिद अली शाह तथा उस्ताद सादिक़ अली के समकालीन कैप्टेन विलर्ड, कृष्णानंददेव व्यास तथा मोहम्मद करम इमाम आदि लेखकों ने यद्यपि अपने ग्रंथों में ध्रुवपद, ख्याल, तराना, टप्पा तथा सितार बाज के अविष्कारों के संदर्भ में क्रमशः ग्वालियर के राजा मानसिंह, दिल्ली के हज़रत अमीर ख़ुसरो, जौनपुर के सुल्तान हुसेन शर्क़ी, लखनऊ के मियाँ शोरी, दिल्ली के मसीत खाँ तथा लखनऊ के ग़ुलाम रज़ा खाँ का उल्लेख किया है,[21] किंतु ठुमरी-आविष्कर्त्ता के रूप में वाजिद अली शाह अथवा सादिक़ अली खाँ की चर्चा नहीं की है। इससे सिद्ध होता है कि लखनऊ के वाजिद अली शाह अथवा कव्वाल बच्चे उस्ताद सादिक़ अली खाँ द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी में ठुमरी के आविष्कार की धारणा भ्रामक और मिथ्या है।

कूचविहार निवासी श्रीयुत कृष्णधन वनर्जी द्वारा लिखित और सन् 1885 में प्रकाशित बँगला भाषा के गीतसूत्रसार नामक ग्रंथ में दी गई सूचना के अनुसार श्री क्षेत्रमोहन गोस्वामी ने अपने ग्रंथ संगीतसार में लखनऊ के शोरी मियाँ को ठुमरी का सृष्टिकर्ता लिखा है।[22]

मोहम्मद शाह रँगीले के युग में ताज खाँ क़व्वाल दिल्ली के प्रसिद्ध ख्याल-गायक थे। ताज खाँ के दो पुत्र, ग़ुलाम रसूल और जानी अपने समय के प्रख्यात ख्याल गायक हुए।[23] वे नवाब आसफ़ुद्दौला के समय लखनऊ में थे। ग़ुलाम रसूल के पुत्र ग़ुलाम नबी उपनाम 'शोरी' भी नवाब आसफ़ुद्दौला के समय लखनऊ के प्रसिद्ध संगीतज्ञों में से थे। संगीत क्षेत्र में ये अपने उपनाम 'शोरी' के नाम से अधिक प्रसिद्ध हुए। यद्यपि मियाँ शोरी को टप्पा का आविष्कारक समझा जाता है, तथापि टप्पा नामक गीत का उल्लेख इनके बहुत पहले ही सत्रहवीं शताब्दी के रागदर्पण तथा तोहफ़तुल-हिंद नामक ग्रंथों में मिलता है।[24]

वस्तुतः मियाँ शोरी का नाम ठुमरी से संवधित न होकर टप्पा से संबद्ध है। इसीलिए श्रीयुत कृष्णधन बनर्जी ने श्री क्षेत्रमोहन गोस्वामी के मत की प्रमाणिकता तथा विश्वसनीयता में संदेह प्रकट किया है और संगीतसार ग्रंथ में उल्लिखित, शोरी मियाँ द्वारा ठुमरी की उत्पत्ति संबंधी मान्यता की आलोचना करते हुए बताया है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कि लखनऊ अंचल में ठुमरी बहुत लोकप्रिय है और प्रसिद्ध संगीतज्ञ शोरी मियाँ भी वहीं के निवासी थे। इसलिए बहुतों की धारणा बन गई कि शोरी मियाँ ही ठुमरी के उद्‌भावक भी थे। किंतु वस्तुतः ऐसा नहीं है, क्योंकि शोरी कृत टप्पा से ठुमरी गाने की रीति बहुत ही अलग है।[25]

संगीतसार ग्रंथ के पृष्ठ 303 पर दी गई सूचना के अनुसार ग्रंथ रचना-काल से प्रायः 76 वर्ष पहले लखनऊ में मियाँ ग़ुलाम नबी 'शोरी' की मृत्यु पचास वर्ष की आयु में हुई।[26] इससे पता चलता है कि संगीतसार के ग्रंथकार श्री क्षेत्रमोहन गोस्वामी और मियाँ 'शोरी' के बीच सामान्यतः अर्ध शताब्दी का अंतराल था। अतएव ऐसा लगता है कि शोरी मियाँ को ठुमरी का आविष्कारक मानने की धारणा के पीछे संभवतः किसी ऐसे जनप्रवाद का आधार रहा होगा जो कि शोरी मियाँ के समय से ही उनके शिष्यों और प्रशंसकों द्वारा चल पड़ा होगा। श्री गोस्वामी द्वारा प्रस्थापित ठुमरी की उत्पत्ति से संबद्ध यह मत प्रामाणिक न होने पर भी, ठुमरी के संदर्भ में शोरी मियाँ के नामोल्लेख से यह संकेत अवश्य मिलता है कि नवाब आसफ़ुद्दौला के समय लखनऊ में टप्पा के साथ-साथ ठुमरी-गान का भी प्रचलन था।

श्रीयुत कृष्णधन बनर्जी ने उत्तर भारत के गीतों में ध्रुवपद, ख्याल तथा टप्पा को प्रमुख मानते हुए अन्य गीतों को इन्हीं तीनों में वर्गीकृत कर दिया है। उन्होंने प्रबंध तथा होरी गान को 'ध्रुवपद-वर्ग' के अंतर्गत; त्रिवट, चतुरंग, गुलनक़्श क़ौल, कल्वाना इत्यादि गीत भेदों को 'ख्याल-वर्ग' के अंतर्गत और ठुमरी, ग़ज़ल, खेमटा इत्यादि गीतों को 'टप्पा-श्रेणी' के अंतर्गत रखा है।[27]

इस वर्गीकरण का पर्यवेक्षण करने से ऐसा अनुमान होता है कि श्री बनर्जी ने प्राचीन भारतीय परंपरा से विकसित शास्त्राधारित गीतभेदों को ध्रुवपद वर्ग में और मुस्लिम युग में आविर्भूत गीतभेदों को ख्याल वर्ग में रखा है। इन दोनों वर्गों के गीतों में रागों के समसामयिक प्रचलित सर्वमान्य नियमों का पालन किया जाता है।

टप्पा वर्ग के गीतों में राग-नियमों के प्रति शैथिल्य और लोक-तत्त्वों की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि श्री बनर्जी के अंतर्मन में ठुमरी का मूल लोकसंगीत में निहित होने की धारणा विद्यमान थी।

ठुमरी की उत्पत्ति के विषय में श्री बनर्जी कहते हैं, "अवस्था देखने से ऐसा विश्वास होता है कि टप्पा को और भी संक्षिप्त करके गाने से ठुमरी गान का उद्‌भव हुआ है"।[28] श्री बनर्जी द्वारा किए गए टप्पा तथा ठुमरी-संबंधी विस्तृत वर्णन पर ध्यान देने से इस बात का पता चलता है कि उनके इस 'विश्वास' के पीछे मुख्य कारण टप्पा तथा ठुमरी इन दोनों का विषय शृंगार, रचना संक्षिप्त, प्रकृति क्षुद्र (चंचल या हल्की) तथा रागों और धुनों में समानता होना है। श्री बनर्जी के "अवस्था देखने से ऐसा विश्वास होता है" इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संभवतः कुछ ठुमरी रचनाओं और कुछ लोगों की ठुमरी-गायकी पर टप्पा शैली का प्रभाव देखकर उन्होंने टप्पा के संक्षिप्तीकरण से ठुमरी के उद्भव की कल्पना की होगी क्योंकि एक स्थान पर वे लिखते है, "शोरी कृत गान को ही उस्ताद लोग टप्पा कहते हैं; उससे भिन्न टप्पा को वे ठुमरी कहते हैं"।[29]

वास्तव में टप्पा और ठुमरी इन दोनों गान-शैलियों को लखनऊ क्षेत्र में बहुत प्रोत्साहन मिला और वहाँ इनका प्रचार और प्रसार लगभग एक साथ रहा। शोरी मियां के कारण लखनऊ में टप्पा का प्रचार अपेक्षाकृत कुछ पहले ही आरंभ हो गया था। अतः एक ही प्रदेश में दोनों के प्रचलित होने के कारण कुछ ठुमरियों और उनकी शैली पर टप्पा का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था क्योंकि भारतीय संगीत में कुछ अन्य गीत भेद भी इसी प्रकार दूसरी गान शैलियों से प्रभावित हुए हैं। उदाहरण के तौर पर ख्याल पर ध्रुवपद का प्रभाव पड़ा। विलंबित अर्थात् कलावंती ख्याल पर यह प्रभाव आज भी दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार ख्याल पर टप्पा शैली का प्रभाव भी पड़ा। ऐसे ख्यालों को कालांतर में 'टपख्याल' भी कहा जाने लगा। संभवतः ठुमरी भी इसी प्रकार टप्पा से प्रभावित हुई होगी, जिसके परिणामस्वरूप कुछ संगीतज्ञ ठुमरी में टप्पा शैली के खटके, जमजमा और स्वरोच्चारों का प्रयोग करने लगे होंगे। जैसा कि आज भी कुछ लोगों के ठुमरी गान में टप्पा शैली का प्रभाव कुछ अंश में दिखाई पड़ता है। ठुमरी पर टप्पा का यह प्रभाव कुछ संगीतज्ञों की निजी और क्षेत्रीय विशेषता तो हो सकती है, परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि ठुमरी का संपूर्ण कलेवर ही टप्पा से उद्भूत हुआ है।

श्रीयुत कृष्णधन बनर्जी ने एक ओर तो "शोरी कृत गान को ही टप्पा" और उससे भिन्न "अन्यान्य टप्पों" को ठुमरी[30] बताकर "शोरी कृत टप्पा से ठुमरी गान की रीति" को बहुत ही पृथक[31] माना है। दूसरी ओर वे "शोरी कृत टप्पा को और भी संक्षिप्त कर लेने से ठुमरी गान के उद्भव"[32] का विश्वास भी करते हैं। अतः उनके इन परस्पर विरोधी और भ्रामक कथनों से ऐसा प्रतीत होता है कि ठुमरी की उत्पत्ति के संबंध में उनके विचार स्पष्ट नहीं थे।

वास्तव में उद्गम, रचना और शैली की दृष्टि से मूलतः टप्पा और ठुमरी नितांत भिन्न हैं। टप्पा का उद्गम स्थल पंजाब है और ठुमरी का उत्तर प्रदेश है। टप्पा मूलतः पंजाब का लोकगीत है जिसे वहाँ के ऊँट-चालक गाया करते थे। बाद में लखनऊ के प्रसिद्ध संगीतज्ञ गुलाम नबी "शोरी" ने उसे अपनी प्रतिभा से संशोधित कर संगीत जगत में प्रतिष्ठित किया।[33] अतः टप्पे की प्रकृति में पंजाब के दर्शन होते हैं, जबकि ठुमरी में उत्तरप्रदेशीय ग्राम्य वातावरण की झलक मिलती है। टप्पा के काव्य की भाषा मुख्यतः पंजाबी और ठुमरी की हिंदी है। इसीलिए टप्पे की बंदिशों में जहाँ पंजाब की क्षेत्रीय बोलियों तथा लोकधुनों का प्राधान्य है, वहाँ ठुमरी-रचनाओं में हिंदी की अवधी, भोजपुरी और विशेषकर ब्रजभाषा आदि बोलियों तथा उत्तर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रदेश और विहार की लोकधुनों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। टप्पा शैली में कण, खटका और ज़मज़मा युक्त तानों का बाहुल्य तथा ठुमरी शैली में मुर्की, वोलों के वाँट और बोलों के बनाव की ओर अधिक प्रवृत्ति रहती है। इसके अतिरिक्त ठुमरी विधा में समाप्ति के पूर्व गाने के साथ द्रुत लय में 'लग्गी' (कहरवा ताल का प्रकार विशेष) का प्रयोग किया जाता है, जो कि टप्पा में नहीं होता। अतः ऐसी अवस्था में टप्पा और ठुमरी की इन विभिन्नताओं को देखते हुए किसी भी टप्पे को ठुमरी कहना अथवा टप्पा के संक्षिप्तीकरण से ठुमरी के उद्‌भव का अनुमान करना अस्वाभाविक और निराधार है।

ठुमरी संबंधी ऐतिहासिक तथ्य

उन्नीसवीं शताब्दी के हकीम मुहम्मद करम इमाम, श्री क्षेत्रमोहन गोस्वामी तथा कृष्णधन वनर्जी जैसे ग्रंथकारों द्वारा गुलाम रज़ा तथा मियाँ शोरी जैसे सुप्रसिद्ध संगीतज्ञों के संदर्भ में ठुमरी के उल्लेख से नवाब आसफ़ुद्दौला के समय अर्थात् सन् 1775 से सन् 1797 पर्यंत लखनऊ में ठुमरी के प्रचलन का आभास मिलता है। लगभग उसी समय, अर्थात् सन् 1779 से लेकर सन् 1803 के बीच जयपुर के महाराजा सवाई प्रतापसिंह के राज्यकाल और उनके संरक्षण में श्री **राधागोविन्द संगीतसार** नामक संगीत के एक वृहत् ग्रंथ की रचना हुई जिसमें ठुमरी का वर्णन एक राग विशेष के रूप में किया गया है।[34] अतः इससे भी ईसा की अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में ठुमरी गान के प्रचलित होने का पता चलता है। इतना ही नहीं, कुछ अन्य सूत्रों द्वारा तो उससे भी पूर्व दिल्ली के संगीत-रसिक वादशाह मोहम्मद शाह 'रँगीला' के समय भी ठुमरी के अस्तित्व का पता चलता है।

मोहम्मद शाह रँगीले का राज्यकाल सन् 1719 से सन् 1749 तक रहा। सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ नेमत खाँ 'सदारंग' इसी के दरबार में थे और इसी की प्रशंसा में उन्होंने अनेक ख्यालों की रचना की।

ड० शालिग्राम गुप्त ने "मोहम्मद शाह रँगीला की रचनाएँ" नामक अपने लेख में मोहम्मद शाह रँगीले कृत मुल्तानी राग में 'तिताल' की एक ठुमरी उद्धृत की है[35], जो इस प्रकार है:

मुलतानी-ठुमरी-तिताल

अब तो नेह नजर हो राखो ए बने प्यारे।
तुम्हरी दया ते जग जीवत नित,
महंमद सा रँगीले लाल सबको सुख देत न्यारे॥

तिताल, तिताला तथा तीनताल इत्यादि शब्द 'त्रिताल' के ही विभिन्न रूप हैं, जिनका सामान्य अर्थ 'तीन तालियों वाला ताल' होता है। ये सभी शब्द

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हिंदुस्तानी संगीत के सोलह मात्राओं व चार खंडों वाले एक बहुप्रचलित ताल विशेष के रूढ़ार्थ में प्रयोग किए जाते हैं, जिसमें तीन स्थानों पर तालियाँ दी जाती हैं।

मध्य युग से लेकर अभी कुछ समय पूर्व तक हिंदुस्तानी संगीत में तिताल या तिताला[36] आदि शब्दों का व्यवहार साधारणतः 'मध्यलय के त्रिताल' के अर्थ में किया जाता रहा है। विलंबित लय के त्रिताल को 'धीमा तिताला' और द्रुत लय के त्रिताल को 'जलद तिताला' कहने का रिवाज रहा है, जैसे "जलद तिताला धीमा कहिए पठ जत ताल बखान"।[37] आज भी केवल 'तीनताल' या 'त्रिताल' मात्र कहने से 'मध्यलय के त्रिताल' का तात्पर्य समझा जाता है। विलंबित लय के त्रिताल को 'विलंवित त्रिताल' या 'तिलवाड़ा' और द्रुतलय के त्रिताल को 'द्रुत त्रिताल' कहने का प्रचलन है।

हकीम मोहम्मद करम इमाम ने सितारवादक ग़ुलाम रज़ा के बाज (रज़ाख़ानी बाज) की चर्चा करते हुए बताया है कि "गतें उसकी तिताला व रागिनी धुन हा व वज-अ ठुमरी बँधी हैं"।[38] रज़ाख़ानी बाज की गतें आज भी मध्य या द्रुत लय में बजाई जाती हैं और इनमें अनेक पुरानी गतें तिताले में बँधी मध्यलय की बोल-बाँट की ठुमरियों पर आधारित हैं। इसी प्रकार आगे चलकर बहुत सी ठुमरियाँ सितार में बजने वाली तिताले की गतों के आधार पर भी रची गईं। इनमें से बरेली के तवक्कुल हुसेन ख़ाँ उपनाम 'सनदपिया' की ठुमरियाँ विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं।[39]

संभवतः सितार पर वजाई जाने वाली तिताले की इन ठुमरियों और गतों की संगत के लिए तवले पर बजाए जाने वाले एक विशेष प्रकार के ठेके को 'सितारख़ानी' कहा जाने लगा। आज भी बोलबाँट की अनेक ठुमरियों और रज़ाख़ानी गतों की संगत के लिए मध्य और द्रुत लय में 'सितारख़ानी' ठेके का व्यवहार किया जाता है 'सितारख़ानी' ठेके के आविष्कार का श्रेय अठारहवीं शताब्दी में हुए सत्तार ख़ाँ या सिधार ख़ाँ नामक तबलिये को दिया जाता है, जिसे लोग तबले का आविष्कारक भी मानते हैं। अतः 'सितारख़ानी' शब्द 'सत्तारख़ानी' या 'सिधारख़ानी' शब्द का अपभ्रंश प्रतीत होता है।

वयोवृद्ध संगीतज्ञों के अनुसार पहले ज़माने (मध्ययुग) में तिताला अर्थात् 'मध्यलय के त्रिताल' की ठुमरियों का ही अधिक प्रचलन था। यद्यपि अब इनका प्रचलन बहुत कम हो गया है, परंतु त्रिताल में निवद्ध बोलबाँट की ऐसी अनेक ठुमरियाँ पुरानी परिपाटी के संगीतज्ञों से अब भी यदा-कदा सुनने को मिल जाती हैं। अतएव डॉ० शालिग्राम गुप्त द्वारा उद्धृत मोहम्मद शाह रँगीले कृत **मुलतानी-ठुमरी-तिताल** से ज्ञात होता है कि मोहम्मद शाह के युग में भी तिताले अर्थात् मध्यलय की ठुमरियों का प्रचलन था।

दिल्ली पर नादिरशाह के आक्रमण के पश्चात् सन् 1739 में मोहम्मद शाह रँगीले के समकालीन नवाब दरगाह क़ुली ख़ाँ ने फ़ारसी भाषा में **मुरक्क़ए**

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देहली नामक एक पुस्तक लिखी, जिसमें उसने समसामयिक संगीत और संगीतज्ञों का उल्लेख किया है। लेखक ने इस ग्रंथ में यद्यपि ठुमरी शब्द का कहीं उल्लेख नहीं किया, किंतु तत्कालीन दिल्ली में प्रचलित 'जँगला' नामक एक लोकप्रिय धुन का उल्लेख अवश्य किया है। दरगाह क़ुली ख़ाँ के अनुसार तत्कालीन दिल्ली की प्रसिद्ध वेश्या नूरबाई डोमिनी और जानी नामक हज्जाम 'जँगला' गाने में अत्यंत निपुण थे[140]

'जँगला' फ़ारसी भाषा के 'जंगुल:' शब्द का अपभ्रंश है, जिसका अर्थ झाँझ या घुँघरू होता है।[41] अतएव शब्दार्थ के अनुसार ठुमरी की भाँति ही 'जँगला' भी नृत्य के अधिक निकट है। संभवत: इसीलिए दोनों में परस्पर घनिष्ठ संबंध है और आज भी ठुमरी की एक लोकप्रिय धुन के रूप में 'जँगला' प्रसिद्ध है।[42] मूलत: धुन होने के कारण ही इसकी गणना हिंदुस्तानी संगीत के अंतर्गत 'उपरागों' में की जाती है।[43] साधारणतया इसमें ध्रुवपद, ख्याल आदि गीत नहीं गाए जाते, केवल टप्पा, ठुमरी और ग़ज़ल जैसे हल्के समझे जाने वाले गीत ही अधिकतर गाए जाते हैं। श्रीयुत कृष्णधन बनर्जी के अनुसार 'जँगला' ठुमरी की एक ऐसी विशिष्टता है जिसमें दो-तीन रागों का संयोग होता है। यह कृत्य इतनी कुशलता पूर्वक किया जाता है कि सुनने में असंगत नहीं लगता और एक ही धुन जैसा सुनाई पड़ता है। इसमें अधिकतर खमाज, भैरवी, सिंध, पीलू, लूम और बिहाग आदि रागों का सम्मिश्रण होता है—अर्थात् 'जँगला' ठुमरी की एक ऐसी मिश्रित धुन है, जिसमें कई रागों के स्वर-समूहों का कुशलतापूर्वक व्यवहार किया जाता रहा है। अतएव दरगाह क़ुली ख़ाँ द्वारा नूरबाई डोमिनी और जानी हज्जाम के संदर्भ में 'जँगला' का उल्लेख इस बात का द्योतक है कि मोहम्मद शाह रँगीले के युग में भी ठुमरी का अस्तित्व था।

नवाब दरगाह क़ुली ख़ाँ द्वारा मुरक्क़ए देहली में 'ठुमरी' शब्द प्रयोग न किए जाने के कारण, ठुमरी को परवर्ती मानने वाले लोग यह शंका कर सकते हैं कि मोहम्मद शाह रँगीले के युग में भले ही 'जँगला' नामक धुन प्रचलित रही हो, परंतु 'ठुमरी' का अस्तित्व संदेहास्पद है। इस संबंध में डॉ० शालिग्राम गुप्त द्वारा उद्धृत मोहम्मद शाह रँगीले कृत 'मुलतानी-ठुमरी-तिताल'[44] का उद्धरण ध्यान देने योग्य है। यद्यपि इस पर भी, मोहम्मद शाह रंगीले कृत 'काव्य' को किसी परवर्ती संगीतज्ञ द्वारा 'मुलतानी-ठुमरी-तिताल' में निबद्ध किए जाने की संभावना व्यक्त की जा सकती है, परंतु उससे पूर्व औरंगज़ेब के युग में भी ठुमरी प्रचलित होने के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मोहम्मद शाह के युग में भी ठुमरी का प्रचलन था और उसने अपने 'काव्य' को स्वयं या उसके समकालीन किसी दरबारी संगीतज्ञ ने 'मुलतानी-ठुमरी-तिताल' की बंदिश का रूप दिया होगा।

औरंगज़ेब का राज्यकाल लगभग सन् 1658 से सन् 1707 तक रहा। उसके समय में काश्मीर के सूबेदार फ़क़ीरुल्लाह ने सन् 1665 के लगभग मान-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कुतूहल नामक ग्रंथ का फ़ारसी भाषा में रागदर्पण के नाम से अनुवाद किया। अनुवाद-ग्रंथ होते हुए भी रागदर्पण में फ़क़ीरुल्लाह ने अपने समकालीन प्रचलित संगीत का भी उल्लेख किया है। रागदपण की रचना के प्राय: दस वर्ष पश्चात् सन् 1675 के लगभग मिर्ज़ा ख़ान इब्नेफ़ख़रुद्दीन मोहम्मद ने फ़ारसी भाषा में तोहफ़्तुल-हिंद नामक ग्रंथ लिखा। इन दोनों ही ग्रंथों में टप्पा और ठुमरी का उल्लेख मिलता है।[45] इस संबंध में श्री राज्येश्वर मित्र का कथन है "मिर्ज़ा ख़ाँ और फ़क़ीरुल्लाह दोनों के वर्णनों से ज्ञात होता है कि टप्पा और ठुमरी अधिक पुरातन गीत हैं"।[46] अतएव रागदर्पण और तोहफ़्तुल-हिंद के ठुमरी-संबंधी विवरण ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

रागदर्पण ग्रंथ दस अध्यायों में विभक्त है। इसके दसवें अध्याय के अंतिम अंश में फ़क़ीरुल्लाह ने ग्यारह हिंदुस्तानी रागों और धुनों की फ़ारसी नग़मों (धुनों) से तुलना करते हुए बताया है "मजादात व नग़मा के दर आन बरव: मी ख़ानंद व बिल फ़ेल ज़वां ज़द रोज़गार वह बरवा व वाज़े ठुमरी गोयन्द"[47]—अर्थात् बरव: नामक नग़मा (धुन) को आजकल (उस समय) साधारण भाषा में बरवा कहा जाता है और उसी को कुछ लोग ठुमरी भी कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि फ़क़ीरुल्लाह के समय अर्थात् ईसा की सत्रहवीं शताब्दी में भी हिंदुस्तानी संगीत के अंतर्गत ठुमरी गाने का प्रचलन था।

इस संबंध में श्री राज्येश्वर मित्र कहते हैं, "इस अध्याय (रागदर्पण के बाबा दहम) के अंतिम अंश से ज्ञात होता है कि उस समय भी ठुमरी प्रचलित थी और वास्तव में ठुमरी, बरवा का ही रूपांतर था। इससे यह सिद्धांत प्रतिपादित होता है कि ये सभी गीतरूप मुग़लकाल से चले आ रहे हैं। कोई भी ऐतिहासिक दृष्टि से मुग़ल युग का परवर्ती नहीं है"।[48]

मिर्ज़ा ख़ाँ कृत तोहफ़्तुल-हिंद नामक ग्रंथ सात अध्यायों में विभक्त है। इसकी भूमिका में ब्रजभाषा के वर्णमाला तथा व्याकरण और शेष सात अध्यायों में छंद, गण, मात्रा, तुक (काफ़िया), रस, अलंकार, शृंगाररस, नायक-नायिका-भेद, संगीत विद्या, रतिशास्त्र तथा सामुद्रिक शास्त्रादि विषयों का वर्णन है। इनमें से पाँचवाँ अध्याय संगीत विद्या पर है। इस पाँचवें अध्याय को भी संगीत-संबंधी विभिन्न विषयों के अनुसार दस उपअध्यायों में विभक्त किया गया है।

तोहफ़्तुल-हिंद में रागों का वर्गीकरण हनुमान, कल्लिनाथ, सोमेश्वर और भरत इन चार मतों के अनुसार राग, रागिनी, पुत्र, पुत्रभार्यादि के रूप में किया गया है जिसमें ठुमरी को भरत मत की 'रागिनी' कहा गया है।[49]

भरत मत के अनुसार क्रमश: भैरव, मालकोष, हिंडोल, दीपक, श्री और मेघ ये छह प्रधान राग हैं। इनमें से श्री राग की तीसरी 'रागिनी' के रूप में ठुमरी का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि ठुमरी अधिकतर पूरब में गाई जाती है।[50]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मिर्ज़ा ख़ाँ के अनुसार राग-रागिनियों के शुद्ध, सालंक और संकीर्ण नामक तीन भेद हैं। शुद्ध वर्ग में एक राग के साथ अन्य किसी राग का मिश्रण नहीं होता है। सालक वर्ग के राग या रागिनी की संरचना में किसी एक मुख्य राग या रागिनी पर अन्य किसी राग या रागिनी की छाया रहती है। संकीर्ण वर्ग के राग या रागिनी दो शुद्ध रागों से मिलकर बनते हैं। दो से अधिक राग मिलकर भी संकीण राग बनते हैं। जिस तरह चूने की सफेदी और हल्दी का पीलापन, इन दोनों रंगों के परस्पर घुल मिल जाने पर एक तीसरा ही रंग, अर्थात् लाल रंग, बन जाता है, उसी तरह दो या अधिक रागों के आपस में मिलने से एक नया संकीर्ण राग बन जाता है।[51]

इस व्यवस्था से पता चलता है कि सालंक और संकीर्ण रागों में मुख्य भेद यह है कि सालंक राग रचना के मूलतत्त्व वाले रागों में से मुख्य राग का अनुपात अधिक और छाया डालने वाले राग का अनुपात कम रहता है; परंतु संकीर्ण राग रचना में मूल तत्त्व वाले सभी रागों का अनुपात बराबर रहता है।

तोहफ़तुल-हिंद में ठुमरी को संकीर्ण रागिनी मानते हुए उसमें शंकराभरण और मारू का मिश्रण माना गया है।[52] इसी प्रकार संकीर्ण वर्ग की एक अन्य रागिनी पहाड़ी में भी मारू और शंकराभरण का मिश्रण बताया गया है,[53] जिसका अर्थ यह हुआ कि पहाड़ी और ठुमरी के निर्माण-तत्त्व एक ही हैं।

ठुमरी के साथ ही, काफ़ी की गणना भी श्री राग की एक प्रमुख रागिनी के रूप में की गई है,[54] जिसमें शंकराभरण और गौरी का मिश्रण बताया गया है।[55] यह बात ध्यान देने योग्य है कि शंकराभरण तो ठुमरी का एक निर्माण-तत्त्व था ही, दूसरे निर्माणतत्त्व अर्थात् मारू से भी गौरी का घनिष्ठ संबंध था क्योंकि मारू राग का निर्माण गौरी, परज और सोरठ के मिश्रण से हुआ था।[56]

इस प्रकार रागदर्पण और तोहफतुल-हिंद के पर्यवेक्षण के आधार पर तत्कालीन प्रचलित ठुमरी के बारे में निम्नलिखित तथ्यों की जानकारी मिलती है :

1. फ़क़ीरुल्लाह के समय बरवा-धुन को ठुमरी कहा जाता था।
2. मिर्ज़ा ख़ाँ के समय ठुमरी को एक संकीर्ण रागिनी मानते हुए उसमें 'शंकराभरण तथा मारू' इन रागों का मिश्रण माना जाता था।
3. ठुमरी की ही भांति, संकीर्ण वर्ग की 'पहाड़ी' नामक रागिनी में भी 'मारू और शंकराभरण' रागों का सम्मिश्रण था।
4. भरत मत के राग-रागिनी-वर्गीकरण के अनुसार ठुमरी को श्री राग की प्रमुख रागिनी माना जाता था।
5. ठुमरी की भाँति 'काफ़ी' भी श्री राग की एक प्रमुख रागिनी थी, जिसके लक्षण ठुमरी से पर्याप्त मिलते-जुलते थे। काफ़ी भी संकीर्ण वर्ग की रागिनी थी और इसमें 'शंकराभरण तथा गौरी' का सम्मिश्रण था।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ठुमरी के निर्माणतत्त्व 'शंकराभरण तथा मारू' थे। इनमें से स्वयं मारू का निर्माण 'गौरी, परज तथा सोरठ' के सम्मिश्रण से हुआ था। अतः मारू में गौरी के तत्त्व भी समाविष्ट होने के कारण काफ़ी और ठुमरी में पर्याप्त समता थी।

6. पूरब, अर्थात् दिल्ली से पूर्व की ओर के क्षेत्र में ठुमरी गाने का रिवाज अधिक था।
7. तत्कालीन संगीतज्ञों के वर्णन में ठुमरी गाने वालों का उल्लेख नहीं है।
8. शासकों के दरबार में ठुमरी गाने का उल्लेख नहीं मिलता। वहाँ ध्रुव-पद, धमार इत्यादि गीतों का प्राधान्य था।

ठुमरी-संबंधी इन तथ्यों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि फ़क़ीरुल्लाह के समय बरवा-धुन के रूप में ठुमरी का प्रचलन था। मिर्ज़ा ख़ाँ के समय प्रचलित ठुमरी और पहाड़ी रागिनियों के लक्षणों में दोनों के निर्माणतत्त्व एक ही जैसे होने के कारण ऐसा विदित होता है कि उस समय पहाड़ी और ठुमरी संभवतः परस्पर पर्यायवाची रहे होंगे। इसका संकेत पंडित दामोदर कृत **संगीतदर्पण** और पुण्डरीक विट्ठल कृत **रागमाला** से भी मिलता है क्योंकि जहाँ **तोहफ़तुल-हिंद** में ठुमरी को भरत मत के अंतर्गत श्री राग की रागिनी बताया गया है, वहाँ **संगीतदर्पण** (शिवमतानुसार) और **रागमाला** में पहाड़ी को श्री राग की रागिनी (पत्नी) बताया गया है।[57] इससे अनुमान होता है कि कालांतर में पहाड़ी और ठुमरी एक ही समझी जाने लगी होगी।

फ़क़ीरुल्लाह का ठुमरी से आशय बरवा-धुन और मिर्ज़ा ख़ाँ का पहाड़ी रागिनी से होने का संभवतः यह कारण हो सकता है कि फ़क़ीरुल्लाह के समय जन-साधारण में ठुमरी के रूप में बरवा-धुन गाए जाने का बहुत रिवाज रहा होगा और कुछ वर्षों के बाद धीरे-धीरे जनरुचि का झुकाव पहाड़ी-ठुमरी के प्रति बढ़ जाने के कारण मिर्ज़ा ख़ाँ के समय तक समाज में पहाड़ी-ठुमरी बहुत लोकप्रिय और प्रचलित हो गई होगी। यह भी संभव है कि ठुमरी का रूप किसी एक क्षेत्र में बरवा और दूसरे क्षेत्र में पहाड़ी जैसा प्रचलित रहा हो। जो कुछ भी हो, इतना तो निश्चित है कि औरंगज़ेबकालीन उत्तर भारत में बरवा और पहाड़ी की धुन में ठुमरी गाए जाने का प्रचलन था। आज भी इन रागों में विशेषकर ठुमरी और ठुमरी शैली के गीत ही अधिकतर गाए जाते हैं। अतः कहा जा सकता है कि यह परंपरा उस समय भी थी। तत्कालीन उच्च श्रेणी के संगीतज्ञों और दरबारों में ध्रुवपद, धमार का प्राधान्य भले ही रहा हो, किंतु जनसाधारण में ठुमरी बहुत लोकप्रिय थी और इस लोकप्रियता के कारण ही ठुमरी की स्थिति उस समय तक संगीत के क्षेत्र में इतनी सुदृढ़ हो गई थी कि उसका वर्गीकरण भरत मत के प्रमुख छह रागों में से पाँचवें राग श्री की एक प्रमुख रागिनी के रूप में किया जाने लगा था।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तोहफतुल-हिंद में दिए गए राग-लक्षणों के अनुसार ठुमरी में 'शंकराभरण और मारू' तथा काफ़ी में 'शंकराभरण और गौरी' का सम्मिश्रण था।[58] इनमें से स्वयं मारू का निर्माण गौरी, परज और सोरठ के मिश्रण[59] से होने के कारण उसमें गौरी के तत्त्व भी समाविष्ट थे। अतः तत्कालीन ठुमरी और काफ़ी के लक्षणों का विश्लेषण करने पर उनमें पर्याप्त समानता और पारस्परिक निकटता दृष्टिगोचर होती है।

ठुमरी एक श्रृंगार-रस-पूर्ण प्रेमगीत है। रागदर्पण के अनुसार कापी (काफ़ी) भी सिंधु प्रदेशीय प्रेमप्रधान लोकगीत है।[60] अतः प्रतीत होता है कि ऐसे ही लोक-गीतों से काफ़ी नामक धुन या रागिनी का विकास हुआ होगा। रागदर्पण में उल्लिखित बरवा-धुन (ठुमरी) की काफ़ी से बहुत समता भी है।[61] आजकल बरवा को काफ़ी मेल के अंतर्गत काफ़ी अंग का राग माना जाता है।[62] वर्तमान समय में, वसंत ऋतु में गाए जाने वाले ठुमरी शैली के वसंत, होली या चाँचर इत्यादि श्रृंगार रसात्मक गीत भी अधिकतर काफ़ी राग में ही गाए जाते हैं, जो कि मूलतः लोक परंपरा के गीत हैं। कहा जाता है कि अमीर खुसरू के पूर्व वसंत राग काफ़ी से मिलते-जुलते स्वरों में गाया जाता था।[63] आज भी काफ़ी में वसंत, होली, चाँचर आदि गीतों के अतिरिक्त ठुमरी, दादरा इत्यादि श्रृंगारात्मक गीत गाए जाते हैं। हकीम मोहम्मद करम इमाम ने बताया है कि यमनी पहाड़ी में काफ़ी और सिंध रागिनियों के स्वर लगते हैं।[64] इस संकेत के अनुसार उस समय की पहाड़ी और काफ़ी रागिनियों में परस्पर संबंध और पर्याप्त समता का आभास मिलता है। अतएव मिर्ज़ा खाँ के समय भी ठुमरी, पहाड़ी, और काफ़ी में पारस्परिक संबंध रहा हो, तो क्या आश्चर्य ?

मिर्ज़ा खाँ के अनुसार उस समय पूरब अर्थात् दिल्ली से पूरब की ओर के क्षेत्र में ठुमरी गाए जाने का अधिक प्रचलन था। उस समय की धारणा के अनुसार पूर्व में जौनपुर तक का क्षेत्र पूरब कहा जाता था।

मनुस्मृति (2/11), गरुड़पुराण (1/15) और विनयपिटक महाबग्ग (5/13/12) के उल्लेखों के आधार पर ज्ञात होता है कि 'मध्यदेश' सदैव से भारत का केंद्र रहा है।[65] केंद्र में स्थित होने के कारण समय-समय पर मध्यदेशीय भाषा कला और संस्कृति संपूर्ण भारत देश को प्रभावित करती रही है। विक्रम की तेरहवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी तक व्रजभाषा भारत के 'मध्यदेश' की प्रमुख भाषा रही है,[66] और इसी के माध्यम से संपूर्ण भारत में मध्यदेशीय कला और संस्कृति का प्रचार एवं प्रसार हुआ।[67] अतः इस मध्यदेश के अंतर्गत बोली जाने वाली व्रजभाषा के गीतों का व्यापक प्रसार पूरबी क्षेत्रों में भी था। संभवतः इसीलिए आगे चलकर सन् 1834 में कैप्टेन विलर्ड ने ठुमरी को अशुद्ध (मिश्रित) व्रजभाषा का गीत बताया है।[68] 'ठुमरी' शब्द स्वयं भी व्रजभाषा का ही शब्द है। इससे ज्ञात होता है कि व्रजभाषा से ठुमरी का घनिष्ठ संबंध है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रागदर्पण का ठुमरी-संबंधी उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से अभी तक सबसे पुराना है। यद्यपि इसके पूर्व ठुमरी का कोई उल्लेख अभी तक नहीं मिला है, परंतु आइने अकबरी में श्री राग की रागिनियों में विहारी का उल्लेख है।[69] इसी प्रकार व्रजभाषा के प्रसिद्ध कृष्णभक्त कवि सूरदास कृत गेयपदों के संदर्भ में जँगला का उल्लेख मिलता है।[70] विहारी और जँगला यह दोनों ठुमरी की प्रसिद्ध धुनें हैं। अतएव इसके आधार पर कहा जा सकता है कि ठुमरी का अस्तित्व तो मुग़ल काल में था ही, अनुमानतः इसे गाने की परंपरा लोक में उससे भी पहले से चली आ रही है।

सत्रहवीं, अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी की ठुमरी का सिंहावलोकन करने पर ज्ञात होता है कि अधिकतर बरवा, पहाड़ी, काफ़ी, जँगला, मुलतानी, भैरवी, सिंधु भैरवी, सिंधु काफ़ी, सिंधु मुलतानी, मुलतानी काफ़ी, मुलतानी बरवा, सावनी बरवा, देस, पीलू, गारा, बिहारी, कालिंगड़ा, खम्माइची (खमाज), झिंझोटी, परज, धानी, सिंधु, लूम, विहाग इत्यादि रागों में ठुमरी गाई जाती रही है।[71] इनमें से अधिकांश रागों का विकास लोक-धुनों से हुआ है जिनमें से बरवा और पहाड़ी को सत्रहवीं शताब्दी में ठुमरी के रूप में गाने का खूब रिवाज था। आज भी इनमें अधिकतर ठुमरियाँ ही गाई जाती हैं। इसी प्रकार सत्रहवीं शताब्दी से लेकर वर्तमान ठुमरी की रचनाओं तक में व्रजभाषा का आधिपत्य दृष्टिगोचर होता है। इससे पता चलता है कि समय-समय पर जनरुचि-परिवर्तन के कारण यद्यपि वर्तमान ठुमरी का स्वरूप स्वभावतः तत्कालीन ठुमरी से अनेक अंशों में भिन्न हो चुका है, तथापि लोकधुन और लोकभाषा का प्रयोग ये दो मूल तत्त्व ठुमरी के अंतर्गत अब भी अक्षुण्ण रूप से चले आ रहे हैं। इससे सिद्ध होता है कि ठुमरी मूलतः लोकसंगीत से संबद्ध विधा है।

ठुमरी और लोक संगीत

मानव संस्कृति का विकास प्राचीन काल से ही दो मुख्य धाराओं में विभक्त रहा है। इनमें से पहली जनसाधारण की, अर्थात् लोक-संस्कृति और दूसरी विशिष्ट जनों की, अर्थात् अभिजात-संस्कृति है। यद्यपि मानव-संस्कृति के ये दोनों ही रूप जन-जीवन से संबद्ध हैं, फिर भी लोक-संस्कृति, स्वाभाविक उन्मुक्त वातावरण में विकसित होने के कारण, मानव-प्रकृति के अधिक निकट है। इसीलिए मानव-जाति के अभ्युदय काल में केवल लोक-संस्कृति ही प्रधान थी। बाद में समय-समय पर इसी लोक-संस्कृति का कुछ भाग परिमार्जित होकर विशिष्ट-जन-सम्मत अभिजात-संस्कृति का अंग बनता गया। यह प्रक्रिया आदिम युग से चली आ रही है। अतः स्वाभाविक गुणों के आधार पर इन संस्कृतियों को क्रमशः प्रकृत और परिष्कृत कहा जा सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मानव-संस्कृति के उपादान होने के कारण भाषा, कला, धर्म तथा रीति-नीति इत्यादि का विकास भी आरंभ से प्रकृत और परिष्कृत इन दो रूपों में होता आया है। कला के ये प्रकृत और परिष्कृत रूप ही आगे चलकर संगीत में क्रमशः 'देशी' और 'मार्ग' विभेद के कारण बने।

डॉ० शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे लिखते हैं, "संगीत कला का प्रवाह सदैव दो धाराओं में प्रवाहित होता रहा है—1. मार्ग तथा 2. देशी। प्रथम में शास्त्र के अनुगमन के द्वारा कला की परिष्कृतता तथा अभिजातता पर ध्यान दिया जाता है, दूसरे में लोकाभिरुचि नियामक तत्त्व होता है तथा शास्त्र-पक्ष गौण होता है। प्रथम के लिए विशिष्ट संस्कार एवं शिक्षा-दीक्षा की आवश्यकता होती है, दूसरी संपर्क तथा सहज संस्कारों से प्रसूत होकर सर्वजनबोध्य होती है। दोनों में कलाकार की सौंदर्यानुभूति का विशिष्ट स्थान रहता है, केवल अंतर यह है कि 'मार्ग' में वह नियमों की सीमा में आबद्ध रहती है तथा 'देशी' में उसकी अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत स्वच्छंद रूप से रहती है।[72]

शास्त्रसम्मत नियमबद्ध 'मार्ग संगीत'[73] में शास्त्रपक्ष और लोकानुरंजक कामचारप्रवर्तित 'देशी संगीत'[74] में लोकपक्ष प्रधान रहता है। किंतु समय-समय पर परिमार्जन और संस्कार होने पर 'देशी' का भी अंतर्भाव 'मार्ग' में होता रहा है। इस संबंध में डॉ० शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे का कथन है, "भारतीय संगीत की जान्हवी आरंभ से द्विविध धाराओं में प्रवाहित होती रही है—एक वह, जिसका प्रयोग धार्मिक समारोहों पर पारमार्थिक दृष्टि से किया जाता रहा है तथा दूसरी वह, जिसका लौकिक समारोहों पर केवल मनोरंजन की दृष्टि से प्रयोग किया जाता रहा। वैदिक काल में इन दोनों धाराओं का प्रचलन समानांतर रूप में उपलब्ध होता है। मध्यकालीन परिभाषा के अनुसार एक मार्ग है तथा दूसरा देशी। दोनों का उद्गम लोक में प्रचलित संगीत से हुआ है, केवल अंतर यह है कि एक में गंगाधारा की गंभीरता एवं संयतता रही तथा दूसरी में यमुनाधारा की चंचलता तथा उन्मुक्तता। प्रथम ने 'सामगान' का स्वरूप धारण कर लिया तथा दूसरी 'गांधर्व' के नाम से ग्रथित हुई। इसी गांधर्व को रामायण तथा महाभारत काल तक शिष्टजन-सम्मत 'मार्ग' का स्वरूप प्राप्त हुआ"।[75]

"यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि मार्ग तथा देशी दोनों परस्पर सापेक्ष संज्ञाएँ हैं। प्रत्येक कला जन-जीवन से संबद्ध होने के कारण उसका देशीत्व निर्विवाद है। कालक्रम से जब उसका अपना व्याकरण बन जाता है, वही कला 'मार्ग' कहलाती है। साम तथा गांधर्व दोनों का मूलाधार लोकसंगीत रहा है और इस दृष्टिकोण से दोनों मूलतः देशी का प्रतिनिधित्व करते हैं। संस्कार एवं परिष्कार से संयुक्त होने पर इसी का अंतर्भाव 'मार्ग' में किया जाता रहा है"।[76]

संगीत का प्रकृत लोक रूप परिष्कृत होकर 'शास्त्रीय' रूप में परिणत हो जाने की यह प्रक्रिया समय समय पर होती रही है। इसीलिए परवर्ती युग में ध्रुवपद,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धमार, ख्याल, टप्पा आदि गान-भेद मूलतः लोकसंगीत के अंग होने पर भी परिमार्जन के कारण कालांतर में क्रमशः 'शास्त्रीय' स्वरूप प्राप्त करते गए। किंतु ठुमरी की परिस्थिति इससे सर्वथा भिन्न रही। समय-समय पर परिष्कृत होते रहने पर भी अपने उन्मुक्त स्वभाव के कारण यह शास्त्रीयता की परिधि में अधिक सीमित न हो सकी। अतएव शास्त्र की नियमबद्धता ठुमरी में पूर्णतया न आ पाई। समय-समय पर संगीत के लोक और शास्त्रीय दोनों रूपों का उसमें समन्वय होता रहा और दोनों से ही उसका संबंध बना रहा। इसीलिए ठुमरी को शास्त्रीय और लोकसंगीत के बीच की कड़ी मानते हुए उसे प्रायः 'उपशास्त्रीय' या 'अर्धशास्त्रीय' (Light Classical) गीतभेद के रूप में वर्गीकृत किया जाता है।

लोक-कलाओं की परंपरा जनसाधारण में आदिम युग से चली आ रही है। इनके परिमार्जन अर्थात् शास्त्रीय स्वरूप ग्रहण करने की प्रक्रिया धीरे-धीरे, क्रमानुसार और नियमपूर्वक संपन्न होती है। अतः इनके शास्त्रीय स्वरूप ग्रहण करने पर इनमें क्रम और नियमबद्धता परिलक्षित होने लगती है। शिष्ट जन-सम्मत इन शास्त्रीय विधाओं के संबंध में समय-समय पर लिखित साहित्य का निर्माण भी होता रहता है। अतएव इनके विकास का क्रमबद्ध इतिहास अधिकांशतः मिल जाता है। किंतु परिमार्जनावस्था के पूर्व, लोकपरंपरा में शताब्दियों से चलते आए कला-विधाओं के उन्मुक्त प्रकृत रूपों के इतिहास और उद्गम को लिखित प्रमाणों के अभाव में खोज निकालना अत्यंत कठिन होता है।

ठुमरी का उद्गम खोजने में भी यही कठिनाई है। यद्यपि देशी संगीत के अंतर्गत ठुमरी गाने की परंपरा लोक में पर्याप्त समय से चली आ रही है, परंतु फ़क़ीरुल्लाह कृत रागदर्पण के पूर्व ठुमरी-संबंधी कोई लिखित उल्लेख न मिलने के कारण, इसके अज्ञात उद्गम को ढूंढ़ निकालना अत्यंत दुष्कर प्रतीत होता है।

यद्यपि ठुमरी के उद्गम को सरलतापूर्वक नहीं खोजा जा सकता तथापि युक्ति और ठुमरी के लक्षणों से साम्य रखने वाले प्रमाणों के आधार पर किसी निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास करना अनुचित न होगा। अतः ऐसी अवस्था में जिस प्रकार नदी के अज्ञात उद्गम को खोजने के लिए नदी की मुख्य धारा के सहारे प्रवाह की विपरीत दिशा में खोज करना लक्ष्य-प्राप्ति में सहायक होता है, उसी प्रकार ठुमरी के ज्ञात लक्षणों और उनसे साम्य रखने वाले प्रमाणों के आधार पर युक्तिपूर्वक विचार करते हुए ठुमरी के उद्गम को ढूंढना श्रेयस्कर और लक्ष्य प्राप्ति में सहायक होगा।

ठुमरी विधा के गीतों में विशेषकर ठुमरी, होली और दादरा की गणना की जाती है। एक दूसरे से कुछ अंशों में भिन्न होते हुए भी समष्टिगत रूप में इनका वर्गीकरण ठुमरी शैली के अंतर्गत ही होता है। इन गीतों के अतिरिक्त यद्यपि रसिया, चैती, सावन, कजरी, पुरबी जैसे लोकगीतों और ठुमरी की गान शैली में भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परस्पर कुछ एकरूपता है, और कुछ अंशों में ठुमरी पर इनका प्रभाव भी है, परंतु उनका स्थान लोकसंगीत के अंतर्गत माना जाता है। उन्हें अभी तक संगीत क्षेत्र में परिष्कृत और शिष्टजन-सम्मत स्थान नहीं मिल सका है।

ठुमरी शैली के इन सभी गीतों का मुख्य विषय प्रेम और शृंगार है। लोक-तत्त्व की प्रधानता के कारण ठुमरी रचनाओं में लोकगीतों और उनसे साम्य रखने वाली निम्नलिखित विशेषताओं का दिग्दर्शन होता है :

1. लोकभाषाओं (ग्राम्य बोलियों) का प्रयोग। इनमें ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदि बोलियाँ प्रमुख हैं।
2. ग्राम्यजीवन और वहाँ के वातावरण की झलक, जैसे पनघट और उससे संबंधित कार्यकलाप; पारिवारिक जीवन की झाँकी; वन, उपवन, अमराई, कुंज आदि का वर्णन; चैत, सावन, वसंत आदि ऋतुओं में ग्राम्यजीवन और होली आदि पर्वों के उमंगपूर्ण उन्मुक्त वातावरण का वर्णन; संयोग शृंगार तथा द्विरागमन (गौना) व प्रिय के विदेश-गमन से संबद्ध वियोग शृंगार का वर्णन इत्यादि।
3. गीतों का प्राय: संक्षिप्त होना।
4. गेय रचनाओं में 'स्थायी' व 'अंतरा' इन दो प्रकार के गीतखंडों का का प्रयोग होना। स्थायी व अंतरा खंडों की यह व्यवस्था लोकगीत व ठुमरी दोनों विधाओं में मिलती है—लोकगीतों में एक स्थायी और एक या एक से अधिक अंतरे होते हैं। ठुमरी में प्राय: एक स्थायी व एक अंतरा होता है। परंतु कभी-कभी एक से अधिक अंतरों का प्रयोग भी दिखाई पड़ता है।
5. अधिकतर लोकधुनों और उनसे विकसित या तादात्म्य रखने वाले रागों का प्रयोग, जैसे काफ़ी, बरवा, सिंदूरा, पीलू, माँड, बिहारी, पहाड़ी, खमाज, तिलककामोद, झिंझौटी, भैरवी, सिंधु भैरवी, जँगला इत्यादि।

अनेक गीतों की धुनों का विस्तार प्राय: एक सप्तक तक ही सीमित रहता है। गाँव के लोगों को संगीत का विधिवत ज्ञान तो होता नहीं। वे मन की उमग में आकर जो कुछ गाते हैं वही आगे चलकर लोकगीत बन जाता है। इनमें कई गीत ऐसे होते हैं जो कि पर्याप्त ऊँचे स्वर से प्रारंभ किए जाते हैं। अत: कंठ-स्वर को और ऊँचा ले जाने की सुविधा नहीं रहती। साथ ही मन की मौज से निकले ये गीत एक या दो विशेष स्वरसमूहों तक ही सीमित रहते हैं। इन कारणों से इन गीतों की धुनें विशेषकर एक सप्तक में ही सीमित रह जाती हैं। लोकधुनों की यह विशेषता अनेक ठुमरियों और उनकी धुनों व रागों में भी पाई जाती है, जैसे गारा, बिहारी पहाड़ी इत्यादि।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

6. चाँचर (दीपचंदी), जत, रूपक, त्रिताल, अद्धा, कहरवा और दादरा इत्यादि तालों का प्रयोग। इनमें से अधिकतर तालों का प्रयोग लोकगीतों में मिलता है, जिनमें चाँचर (दीपचंदी), कहरवा, दादरा और रूपक तो विशेषरूप से लोकसंगीत के ही ताल माने जाते हैं और लोकगीतों में इनका प्रयोग बहुत अधिक होता है। इनमें से चाँचर (दीपचंदी) का प्रयोग अपेक्षाकृत कुछ विलंबित लय में होता है। शेष तालों का प्रयोग मध्यलय में होता है। द्रुतलय के लोकगीतों में प्रायः दादरा और कहरवा तालों का उपयोग किया जाता है।

रचना के अतिरिक्त ठुमरी विधा की गान शैली का विश्लेषण करने पर, उसमें लोकगीतों की गायकी की निम्नलिखित विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं :

1. स्थाई की पहली पंक्ति अर्थात् 'टेक' और अंतरे की पहली पंक्ति को बार-बार गाते हुए बीच-बीच में गीत के बोलों को विभिन्न स्वर-समूहों से सजाकर 'बोलबनाव' करते हुए बार-बार गाना।

2. बोलों के गाने में भावपक्ष की प्रधानता और रागनियमों में शिथिलता होना।

लोकगीतों में हृदयपक्ष प्रधान होता है। अतः मन की उमंग से स्वतःस्फूर्त ये गीत विश्लेषण करने पर स्वीकृत राग-नियमों की दृष्टि से प्रायः खरे नहीं उतरते। इनकी धुनों में प्रायः अनेक रागों की छाया दिखाई पड़ती है। बोल और भावपक्ष की प्रधानता के कारण ही ठुमरी-गान में भी लोकगीतों की इस उन्मुक्त प्रवृत्ति का दर्शन होता है। अतः ठुमरी गाते समय भी प्रायः कई रागों की छाया दिखाई पड़ती रहती है।

3. चाँचर (दीपचंदी) तथा जत ताल में निबद्ध गीतों को मध्य और द्रुत लय में गाना।

संगीतज्ञों का कहना है कि पहले ठुमरियाँ अधिकतर मध्यलय में गाई जाती थीं। लोकगीत भी बहुधा मध्य और द्रुत लय में ही गाए जाते हैं। इनमें भी मध्य लय के गीतों की संख्या बहुत अधिक है। केवल चाँचर में निबद्ध रचनाएँ यद्यपि अपेक्षाकृत विलंबित लय में गाई जाती हैं, परंतु उतनी विलंबित नहीं, जितनी कि एक योग्य संगीतज्ञ द्वारा चाँचर की ठुमरी में आज व्यवहार की जाती है। अतएव लोकसंगीत में प्रयुक्त चाँचर की लय को 'मध्य' या अधिक-से-अधिक 'मध्यविलंबित' कहा जा सकता है। कहा जाता है कि पुराने संगीतज्ञ भी चाँचर की ठुमरी इसी लय में गाते थे।

4. अंतरा गाने के बाद गीत समाप्ति के पूर्व 'टेक' को थोड़ी देर तक द्रुत-लय के कहरवा ताल में गाने का रिवाज है। कभी-कभी तो यह क्रिया

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अंतरे की अंतिम पंक्ति से ही प्रारंभ कर दी जाती है। इस समय गायक के साथ तालवाद्य में कहरवा ताल का लघु रूप 'लग्गी' बजाते हुए संगति की जाती है।

यद्यपि 'लग्गी' का रूप सुनने में कहरवा ताल की चार मात्राओं के आवर्तन के समान ही लगता है, परंतु प्रयोग की दृष्टि से लग्गी को चार आवर्तनों में बजाकर एक चक्र पूरा करते हैं और यह चक्र त्रिताल के एक आवर्तन अर्थात् सोलह मात्राओं के बराबर होता है। इस प्रकार लग्गी की संगति वस्तुतः त्रिताल के आवर्तनों के आधार पर की जाती है, क्योंकि गायक इस समय ठुमरी को त्रिताल की सोलह मात्राओं के अनुसार ही गाता रहता है।

हिंदुस्तानी संगीत में आदिताल का ही लोक रूप आज कहरवा ताल के नाम से विख्यात है।[77] 'कहरवा' शब्द की व्युत्पत्ति 'कहार' नामक एक लोक-जाति से संबद्ध है, जिसका प्रमुख व्यवसाय उच्चवर्गीय लोगों के पाकशाला और बर्तनों को स्वच्छ रखना है। कहारों के जातीय उत्सवों में गीत और नृत्य के साथ प्रयोग होने वाला आदिताल ही कालांतर में कहरवा ताल कहा जाने लगा।

अंतरे के बाद 'टेक' को द्रुतलय में कहरवा ताल के साथ गाने की यह प्रथा लोकसंगीत की प्रमुख विशेषता है। उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, पंजाब, राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र के अनेक लोकगीतों में यह प्रथा स्पष्टतया देखी जा सकती है।

'लग्गी' वादन का विकास, नगाड़ा, नक्कारा, ढोलक आदि लोकवाद्यों से माना जाता है। आज भी इन वाद्यों में दादरा, कहरवा और लग्गी का वादन जितना उत्तम होता है, उतना अन्यत्र सुनने को नहीं मिलता।

नगाड़ा और ढोलक आदि अवनद्ध वाद्यों का प्रयोग लोकसंगीत में गान और नृत्य के साथ अपेक्षित होता है। नृत्य के साथ गाए जाने वाले गीतों की पहली 'कड़ी' अर्थात् 'टेक' को नगाड़े या ढोलक की 'लग्गी' के साथ द्रुतलय में बार-बार गाना और उसके साथ नृत्य होना, लोकसंगीत की एक प्रमुख विशेषता है। इसका दिग्दर्शन उत्तरप्रदेश के कहारों के नाच, होली-नृत्य, रासलीला, स्वाँग, नौटंकी, बिहार के बिदेशिया नाटक, पंजाब के भाँगड़ा नृत्य, गुजरात के डाँडिया रास, महाराष्ट्र के लावणी और तमाशा तथा राजस्थान के घूमर नृत्य और ख्याल नामक संगीतनाट्य में स्पष्ट रूप से होता है। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि गीत के 'टेक' को द्रुतलय में 'लग्गी' के साथ गाने की यह प्रथा संभवतः लोकसंगीत के नृत्यगीतों से विकसित हुई होगी।

इस प्रकार रचना और शैलीगत विशेषताओं के अनुसार ठुमरी का स्थान देशी संगीत में लोकतत्त्वों से संबद्ध, ललित, सुकुमार तथा भावप्रधान गीतभेदों की श्रेणी में आता है। इसलिए उत्तरभारत में बहुत समय तक वेश्याओं और संगीत-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यवसायी जाति के लोगों द्वारा ठुमरी और ठुमरी शैली के होली, दादरा आदि गीतों का गान और अभिनय-सहित प्रदर्शन होता रहा है।

उत्तर भारत में 'होली' या 'होरी' नामक गीतों का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह गीत वसंत ऋतु के फाल्गुन मास में होने वाले होली के त्यौहार से संबद्ध है और इनका नामकरण भी इसी आधार पर हुआ है। हिंदुस्तानी संगीत में इस नाम से दो गीत-विधाएँ प्रचलित हैं—पहली ध्रुवपद शैली की और दूसरी ठुमरी शैली की। इनमें से पहली धमार ताल में और दूसरी प्रायः चाँचर (दीपचंदी) ताल में गाई जाती है। इसलिए लोग पहली को धमार और दूसरी को चाँचर भी कहते हैं। इन दोनों में परस्पर कई बातों में साम्य भी है, जैसे

1. दोनों का मूल लोक संगीत में मिलता है।[78]
2. दोनों का व्यवहार आज भी लोकसंगीत के अंतर्गत गान और नृत्य के रूप में होता है।[79]
3. दोनों में गीत, ताल और नृत्य का एक ही नाम हैं, जैसे धमार—गीत ताल, नृत्य; चाँचर—गीत, ताल, नृत्य।
4. दोनों में व्यवहृत होने वाले तालों में पर्याप्त समता है। धमार और चाँचर (दीपचंदी) दोनों में चौदह मात्राएँ होती हैं और सम, खाली तथा तीसरी ताली के स्थान समान हैं। धमार और चाँचर (दीपचंदी) दोनों में ठेके के बोलों की रचना का वज़न एक समान है। यह वज़न मूलतः रूपक ताल के वज़न के अनुसार है, जैसे

मूल वज़न ——	1	2	3	1	2	1	2	1	2	3	1	2	1	2
रूपक ताल (सात मात्रा)—	1	2	3	4	5	6	7	1	2	3	4	5	6	7
ठेका — — —	ती	ती	ना	धी	ना	धी	ना	ती	ती	ना	धी	ना	धी	ना
ताल चिह्न — —	⊗			2		3		⊗			2		3	
धमार ताल (चौदह मात्रा)	1	2	3,	4	5	6	7	8	9	10	11	12,	13	14
ठेका — — —	क	धि	ट,	धि	ट	धा	ऽ	ग	ति	ट	ति	ट,	ता	ऽ
ताल चिह्न	×					2		0			3			
चाँचर (दीपचंदी) ताल (चौदह मात्रा)	1	2	3	4	5,	6	7	8	9	10	11	12,	13	14
ठेका — — —	धा	धिं	ऽ	धा	गे,	तिं	ऽ	ता	तिं	ऽ	धा	गे,	धिं	ऽ
ताल चिह्न —	×			2				0			3			

5. इन दोनों के लोकरूपों में एक समानता और भी मिलती है। धमार का लोकरूप कहरवा ताल जैसा है[80] और गीत समाप्ति के समय चाँचर भी कहरवा (लग्गी) के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धमार और चाँचर की होली में इतनी समता होते हुए भी दोनों की वर्तमान गान-प्रणाली नितांत भिन्न है। धमार वाली होरी में ध्रुवपद शैली की गायकी और रागों की नियमबद्धता का पूर्ण पालन किया जाता है। होरी के इस रूप को शास्त्रीय, ओजपूर्ण और पुरुषोचित माना जाता है। चाँचर की होली ठुमरी शैली की विशेषताओं और उन्मुक्तता से परिपूर्ण है। ठुमरी की ही भाँति उसमें भी रागनियमों की शिथिलता बरती जाती है। चाँचर लोकसंगीत की एक ललित, सुकुमार, और स्त्रियोचित गीतविधा है। यद्यपि 'रलयोरभेद:' के अनुसार होरी और होली शब्दों में कोई अंतर नहीं है, किंतु संगीतज्ञ धमार के लिए प्राय: 'होरी' और चाँचर के लिए 'होली' शब्द का प्रयोग करते हुए दोनों में अंतर रखते हैं। साधारणतः व्यवहार में धमार की होरी को 'धमार' और चाँचर की होली को प्राय: 'होली' कहने का प्रचलन है।

होली-गीतों में 'वसंत' और 'फाग' नामक गीतों की भी गणना होती है, जिनका नामकरण क्रमश: वसंत ऋतु और फाल्गुन मास पर हुआ है। स्वर-रचना और गान-शैली की दृष्टि से 'ठुमरी' और 'होली' में कोई भेद नहीं है। दोनों में काफ़ी, बरवा, सिंदूरा, पीलू, घानी, खमाज, बिहारी, तिलककामोद, भैरवी, सिंधु-भैरवी, जँगला आदि रागों और चाँचर (दीपचंदी), जत, त्रिताल, दादरा तथा कहरवा इत्यादि तालों का व्यवहार होता है। दोनों का काव्य प्रेम-विषयक और शृंगारात्मक होते हुए भी 'होली' का वर्ण्य विषय केवल वसंत ऋतु और होलिकोत्सव तक ही सीमित रहता है। अतएव ठुमरी और होली गीत के भिन्नत्व का एक मात्र आधार काव्य में वर्णित विषय ही है, अन्यथा रचना और शैली की दृष्टि से दोनों एक हैं।

उत्तर भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में होली, वसंत और फाग आदि गीतों को बहुधा 'चाँचर' या 'चाँचरि' कहने का रिवाज है। इन गीतों में प्रयुक्त होने वाले एक विशेष ताल का नाम भी चाँचर या चाँचरि है। विलंबित लय की ठुमरियों में भी प्राय: चाँचर ताल का ही व्यवहार होता है। इसीलिए ग्रामीण क्षेत्रों में ठुमरी को भी प्राय: 'चाँचर' के नाम से संबोधित कर दिया जाता है।

चाँचर नामक ताल का प्रयोग विशेषकर लोकगीतों में ही मिलता है, जैसे चैती, सावन, सोहर, बधावा, घाटो, पुरबी इत्यादि। अतः इसे मूलतः लोकसंगीत का ताल माना जाता है। चाँचर ताल को दीपचंदी भी कहते हैं। इसमें चार खंड होते हैं। त्रिताल की भाँति इसमें पहले, दूसरे तथा चौथे खंड में भरी और तीसरे खंड में खाली होती है। चाँचर के दो भेद हैं—पहला चौदह मात्राओं का और दूसरा सोलह मात्राओं का। चौदह मात्राओं वाले चाँचर में पहले और तीसरे खंड में तीन-तीन मात्राएँ तथा दूसरे और चौथे खंड में चार-चार मात्राएँ होती हैं। सोलह मात्राओं वाले चाँचर में चारों खंड समान अर्थात् चार-चार मात्राओं के होते हैं, जैसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चाँचर (दीपचंदी) ताल

(चौदह मात्राओं वाला प्रकार)

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14
धा	धिं	ऽ	धा	गे	तिं	ऽ	ता	तिं	ऽ	धा	गे	धिं	ऽ
×			2				0			3			

(सोलह मात्राओं वाला प्रकार)

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
धा	ऽ	धिं	ऽ	धा	धा	तिं	ऽ	ता	ऽ	तिं	ऽ	धा	धा	धिं	ऽ
×				2				0				3			

चाँचर के दोनों भेदों में खंड, भरी और खाली की संख्या तथा ठेके के बोल एकसमान हैं। केवल सोलह मात्राओं वाले चाँचर के पहले और तीसरे खंड में एक-एक मात्रा अधिक है। कुछ लोगों की राय में चौदह मात्राओं वाला भेद दीपचंदी और सोलह मात्राओं वाला भेद चाँचर है। परंतु अधिकतर दोनों को ही चाँचर कहा जाता है। लोकगीतों में चौदह मात्राओं वाला चाँचर ही अधिक प्रचलित है। लोगों की धारणा है कि चाल में वक्र और कठिन होने के कारण चौदह मात्राओं वाले चाँचर के पहले और तीसरे खंड में क्रमशः एक-एक मात्रा बढ़ाकर उसे सम-विभागीय और सरल बना लिया गया। आजकल चाँचर के दोनों भेदों में अंतर दिखाने के लिए सोलह मात्राओं वाले भेद को प्रायः जत ताल कहा जाने लगा है।

भारत के विभिन्न भागों में यद्यपि और भी अनेक लोकगीत चाँचर ताल में गाए जाते हैं, जैसे चैती, सावन, बारहमासा, सोहर, घाटो, पुरबी, बधावा इत्यादि, तथापि उन्हें चाँचर गीत नहीं कहा जाता। गीत के अर्थ में चाँचर शब्द का व्यवहार प्रायः होली या कहीं कहीं ठुमरी के लिए होता है।

गीत और ताल के अतिरिक्त होली के अवसर पर किए जाने वाले एक लोकनृत्य को भी चाँचर कहा जाता है। चाँचर नृत्य का आयोजन फागुन मास तथा वैवाहिक अवसरों पर किया जाता है।[81] ब्रज में होली के दिनों में होली और रसिया आदि लोकगीतों के साथ इस नृत्य का प्रदर्शन किया जाता है।[82] इन दिनों ब्रज की गलियों में स्त्रियों की मंडली ढोलक की ताल पर चाँचरि का गान और नृत्य करती हैं।[83] ब्रज के अहीरों के विवाह के अवसर पर वरयात्रा में भी चाँचरि नृत्य करने की प्रथा है।[84] उत्तर भारत में ब्रज, बुंदेलखंड, मध्यप्रदेश तथा हिमाचल प्रदेश के क्षेत्रों में चाँचरि नृत्य का व्यापक प्रचार है।[85] इसका एक भेद, छोटे-छोटे डंडों को परस्पर बजाते हुए मंडलाकार सामूहिक नृत्य के रूप में प्रचलित है, जिसकी तुलना 'दंडरास' अर्थात् गुजरात के 'डांडिया रास से की जा सकती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस प्रकार उत्तर भारतीय लोकसंगीत के अंतर्गत चांचर का प्रयोग एक विशेष प्रकार के गीत, ताल और नृत्य के रूप में मिलता है। अतएव लोकभाषाओं में चाँचरि या चाँचर शब्द विशिष्ट गीत, ताल और नृत्य इन तीनों अर्थों में प्रयुक्त होता है।

ठुमरी और चाँचर (चर्चरी)

चाँचरि या चाँचर शब्द, संस्कृत के चलनार्थक 'चर' धातु के द्वित्व से निर्मित 'चर्चर' शब्द के स्त्रीलिंग रूप 'चर्चरी' या 'चर्चरिका' का तद्भव रूप है।[86] चर्चरी या चर्चरिका शब्द का अर्थ आनंदसूचक किलकारी, हर्षक्रीडा, कापटिकानाम सादर वचनम्, वसंतक्रीड़ा, अभिनय तौर्यत्रिक, गीतभेद,[87] ताल, छंद[88], नृत्य[89] इत्यादि होता है। प्राकृत में 'चर्चरी' शब्द का रूप 'चच्चरी' होता है। अतः 'चर्चरी' शब्द के तद्भव रूप का विकास इस प्रकार है:

चर्चरी (सं०)[90]>चच्चरी (प्रा०)[91]>चंचरी (लोकभाषा)[92]>चाँचरी (या चाचरी)>चाँचरि[93]>चाँचर[94]>चाचर[95]

रहस्यवादी संत कबीर, प्रेममार्गीय सूफ़ी कवि मलिक मोहम्मद जायसी, रामभक्त संत कवि तुलसीदास और कृष्णभक्त संत कवि सूरदास प्रभृति संतों ने अपने काव्य में चाँचरि या चाँचर का उल्लेख किया है।[96] व्रजभाषा के कृष्णभक्त काव्य में तो गीत, नृत्य और ताल के अर्थ में चर्चरी, चाँचरि या चाँचर शब्दों का प्रयोग अनेक स्थलों पर मिलता है, जैसे

1. दोउ मिलि 'चाँचर गावत' गौरी राग अलापि।
   (हितहरिवंश)

2. वृषभान नंदिनि मधुर कल गावैं।
   विकट अवघर तान 'चर्चरी ताल' सों, नन्दनन्दन मनसि मोद उपजावैं॥
   (हितहरिवंश)

3. श्रीराग में कान्ह मुरली बजावैं............... ।
   बजत नूपुर चरन धरत अवनी चतुर 'ताल चर्चरी' सो मन लावैं॥
   (छीतस्वामी)

4. रसिक सुन्दरि बनी रास रंगे।
   'चरचरी ताल' में तिरप बाँधति बनी, तरकि टूटी तनी, बर सुघंगे॥
   (व्यासजी)

5. करत हरि नृत्य नवरंग राधा संग लेत नव गति भेद 'चर्चरी ताल' के॥
   (गदाधर)

6. श्याम नटवा नटत राधिका संगे।
   × × × × × ।
   रतन कंकन क्वनित किंकिनि नूपुरा, 'चर्चरी ताल' मिलि मनि मृदंगे॥
   (व्यासजी)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

7. सूरदास सब 'चाँचर' खेलैं, अपने अपने टोलैं।

(सूरदास)

8. धिगरि धिग 'चाँचरि' करैं, मोहि बुलावति साखि।

(सूरदास)

9. उमंग आनंद की रास लागी झरी।
उत सजे लाल इत नवल नागरि सजी, अपूरब लेत गति ताल दै 'चर्चरी'॥

(वृन्दावनदास)

इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि चर्चरी के गान व नृत्य की परंपरा व्रज में बहुत समय पूर्व से चली आ रही है।

मलिक मोहम्मद जायसी का समय लगभग पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक और कबीर का समय लगभग पंद्रहवीं शताब्दी है। इसी शताब्दी में सन् 1456 में मेवाड़ के महाराणा कुंभा के तत्त्वावधान में संगीतराज ग्रंथ परिपूर्ण हुआ। संगीतराज के "गीतरत्न-कोश" नामक द्वितीय अध्याय के चतुर्थ प्रबंधोल्लास के अंतर्गत प्रकीर्ण नामक चतुर्थ परीक्षण में चच्चरी (चर्चरी) का उल्लेख गीत (प्रबंध), छंद व ताल के रूप में किया गया है।[97] इसके पूर्व चौदहवीं शताब्दी में आंध्र के महाराजा वेम ने रास के एक भेद के रूप में चर्चरी की चर्चा की है।[98] तेरहवीं शताब्दी में शार्ङ्गदेव कृत संगीतरत्नाकर में भी चच्चरीप्रबंध, चच्चरीताल और चच्चरीछंद का उल्लेख मिलता है।[99] बारहवीं शताब्दी में आचार्य जिनदत्त सूरि द्वारा अपभ्रंश भाषा में रचित 'चर्चरी काव्य' मध्यकालीन जैन साहित्य की महत्वपूर्ण कृति है।[100]

मध्यकालीन अपभ्रंश तथा डिंगल काव्य के अतिरिक्त प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी चर्चरी नृत्य व गीत का वर्णन मिलता है। श्री हर्ष कृत रत्नावली नाटिका के प्रथम अंक में और राजशेखर कृत कर्पूरमंजरी सट्टक (चतुर्थ जवनिकान्तरम्) में चर्चरी गान व नृत्य का उल्लेख है।

रत्नावली नाटिका के मदनमहोत्सव नामक प्रथम अंक में चर्चरी का उल्लेख इस प्रकार किया गया है:

वसंतोत्सव के दृश्य में मदनिका और लतिका नामक चेटियाँ द्विपदी खंड गाने के साथ अभिनय और नृत्य द्वारा राजा का मनोरंजन करती हैं। बीच में विदूषक दोनों नर्तकियों से चर्चरी सिखाने का अनुरोध करता है। दोनों उसका उपहास करती हैं और मदनिका उसे बताती है कि यह चर्चरी (चच्चरी) नहीं वरन् द्विपदी खंड है।[101]

कर्पूरमंजरी में चर्चरी का वर्णन इस प्रकार है:

(चर्चरी नृत्य करने वाली नर्तकियाँ रंगमंच में प्रवेश करती हैं)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुक्तालंकार धारण किए हुए वे नर्तकियाँ, जिनके वस्त्र हवा में उड़ रहे थे, नृत्य समाप्ति पर यंत्र से निकले जल से युक्त माणिक्य पात्रों से एक-दूसरे को भिगो रही हैं।

इधर तो—

ये बत्तीस नर्तकियाँ विचित्र बंध बना कर घूम रही हैं, इनके पैर ताल के अनुसार पड़ रहे हैं। इसलिए तुम्हारे आँगन में दंडरास-सा दिखाई पड़ रहा है।[102]

इसके उपरांत दंडरास और चर्चरी का विशद वर्णन इस प्रकार मिलता है :

कुछ नर्तकियाँ कंधे और सिर बराबर किए हुए तथा भुजाएँ और हाथों को भी एक-सी स्थिति में रखे हुए और ज़रा भी भूल न करते हुए दो पंक्तियों में लय और ताल के मेल के साथ चलती हैं और एक दूसरे के सामने आती हैं।

कुछ नर्तकियाँ रत्न जड़े हुए कवच उतारकर यंत्रों से पानी की धारें छोड़ती हैं। पानी की वे धारें उनके प्रेमियों के शरीर पर कामदेव के वरुणास्त्र के समान पड़ती हैं।

स्याही और काजल की तरह कृष्ण शरीर वाली, धनुष की तरह तिरछी नज़रों वाली और मोर के पंखों के आभूषणों से युक्त ये विलासिनी स्त्रियाँ शिकारी के रूप में लोगों को हँसाती हैं।

कुछ स्त्रियाँ हाथ में नरमाँस को ही उपहार रूप में धारण किए हुए और हुंकार रूप से सियारों का सा शब्द करती हुई तथा रौद्ररूप बनाकर राक्षसियों के चेहरे लगाकर श्मशान का सा अभिनय करती हैं।

कोई हरिणी जैसे नेत्रोंवाली नर्तकी मर्दल बाजे के मधुर शब्द से द्वार विष्कंभ को जोर-जोर से बजाती हुई अपनी चंचल भौहों से चेटीकर्म करने में लगी हुई है।

कुछ स्त्रियाँ क्षुद्र घंटिकाओं से रणज्झण शब्द करती हुई, अपने कंठों के गीत के लय से ताल को जमाती हुई, परिव्राजिकाओं के रूप में वलयाकार नाचती हुई, ताल से अपने नूपुरों को बजाती हैं।

कुछ स्त्रियाँ कुतूहलवश चंचल वेश बनाकर, वीणा बजाती हुई और मलिन वेश से लोगों को हँसाती हुई पीछे हटती हैं, प्रणाम करती हैं और हँसती हैं।[103]

रत्नावली और कर्पूरमंजरी के चर्चरी-संबंधी इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि (1) चर्चरी विशेषकर वसंतोत्सव से संबद्ध थी; (2) चर्चरी गान के साथ नृत्य भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होता था; (3) चच्चरी गान व नृत्य के साथ अभिनय भी सम्मिलित था और (4) चर्चरी गान व नृत्य में स्त्रियों की प्रधानता थी।

श्री हर्ष का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध (सन् 606 से सन् 648 तक) और राजशेखर का समय नवीं शताब्दी का अंत माना जाता है। इससे प्रमाणित होता है कि चच्चरी गान व नृत्य की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। प्राकृत भाषा के सुपासनाहचरिय नामक ग्रंथ के अनुसार वाराणसी चर्चरी गायिकाओं की नगरी थी।[104]

संगीतरत्नाकर में प्रबंधों के सूड, आलि तथा विप्रकीर्ण ये तीन भेद बताते हुए चच्चरी प्रबंध की गणना विप्रकीर्ण प्रबंधों के अंतर्गत की गई है।[105] सूड तथा आलि प्रबंध समूहों में लक्षणों की एकरूपता मिलती है, किंतु विप्रकीर्ण समूह के प्रबंधों में अनेकरूपता दृष्टिगोचर होती है।

संगीतरत्नाकर में चच्चरी प्रबंध के लक्षण इस प्रकार बताए गए हैं :

रागो हिन्दोलकस्तालश्चच्चरी बहवोऽङ्घ्रयः।
यस्यां षोडशमात्राः स्युर्द्वौ द्वौ च प्राससंयुतौ ॥290॥
सा वसन्तोत्सवे गेया चच्चरी प्राकृतैः पदैः।
चच्चरीच्छन्दसेत्यन्ये क्रीडातालेन वेत्यपि ॥291॥
घत्तादिच्छन्दसा वा स्याच्छन्दोलक्ष्मोदिताभिधा।
इति चच्चरीप्रबन्धः। (चतुर्थ प्रबन्धाध्यायः)

(अर्थात् चच्चरीप्रबंध, हिंदोल राग व चच्चरी ताल में निबद्ध होता है; जिसमें सोलह मात्राएँ होती हैं और उसमें प्रासयुक्त (तुकांत) दो-दो पंक्तियों के अनेक चरण होते हैं। चच्चरी प्राकृत भाषा में उपनिबद्ध होती है। कुछ लोग इसे चच्चरी नामक छंद में और कुछ लोग क्रीड़ाताल में घत्तादि छंदों से युक्त भी बताते हैं। अन्य छंदों में उपनिबद्ध चच्चरी के साथ उन छंदों का नाम भी संयुक्त हो जाता है।)

संगीतराज ग्रंथ में गीतरत्नकोश के प्रबंधोल्लास के प्रकीर्णप्रबंध परीक्षण में वर्णित चच्चरी प्रबंध के निम्नलिखित लक्षण भी प्रायः संगीतरत्नाकरोक्त चच्चरी प्रबंध के ही समान हैं, जैसे

चच्चरी (च्) छंदसा बद्धा घत्ता ध्रुवपदान्विता।
क्रीडातालेन बहवश्चरणा यत्र संगताः ॥72॥
गीयन्ते चच्चरी सा स्यादिति केचिदवादिषुः।
बहवश्चरणा यत्र समाः षोडशमात्रिकाः ॥73॥
गीताः प्राकृतभाषाभिः पादयोः स्युर्द्वयोर्द्वयोः।
अनुप्रासाः सुललितास्तालश्चच्चरिकाभिधः ॥74॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चच्चरी सा निगदिता गीतशास्त्रविशारदैः ।
ज्ञे (गे) या वसन्तरागेण वसन्तादिमहोत्सवे ॥75॥
॥ इति चच्चरी ॥36॥

इस प्रकार संगीतरत्नाकर व संगीतराज में वर्णित चच्चरी प्रबंध के लक्षणों से तत्कालीन चच्चरी गान के विषय में निम्नलिखित जानकारी मिलती है :

1. चच्चरी की गणना विप्रकीर्ण प्रबंधों में की जाती थी ।
2. यद्यपि चच्चरी का गान मुख्यतः वसंतोत्सव से संबंध था, किंतु संगीतराज के 'वसंतादिमहोत्सव' शब्दों से प्रतीत होता है कि अन्य सुअवसरों पर भी चच्चरी गाई जाती थी ।
3. वसंत ऋतु के अनुकूल हिंदोल राग और उसके भेद 'देशीहिंदोल' या 'पूर्ण-हिंदोल' अर्थात् 'वसंत' राग में चच्चरी गाई जाती थी ।
4. चच्चरी का काव्य, प्राकृत अर्थात् तत्कालीन जनभाषा में होता था ।
5. उस समय लोक में कई प्रकार के चच्चरीप्रबंध गाए जाते थे, जिनके साधारणतया पाँच भेद प्रचलित थे, जैसे
   (i) चच्चरी ताल में निबद्ध चच्चरीप्रबंध ।
   (ii) सोलह मात्राओं वाले चच्चरीप्रबंध, जिनमें प्रासयुक्त दो-दो पंक्तियों के अनेक चरण होते थे ।
   (iii) चच्चरी छंदोबद्ध चच्चरीप्रबंध ।
   (iv) क्रीड़ाताल व उसके अनुकूल धत्तादि छंदोबद्ध चच्चरीप्रबंध ।
   v) अन्य छंदों में निबद्ध चच्चरीप्रबंध, जिन्हें उन विशेष छंदों के नाम से जाना जाता था ।

संगीतरत्नाकर व संगीतराज में वर्णित चच्चरीप्रबंध के लक्षणों का विश्लेषण करने पर उनमें और आज के चाँचर (होली) व ठुमरी के लक्षणों में बहुत समता दिखाई पड़ती है । संगीतरत्नाकर व संगीतराज ग्रंथों में चच्चरी का प्रकीर्ण प्रबंधों में परिगणित होना यह सिद्ध करता है कि प्राचीन चच्चरी गान में आलि और सूड प्रबंधों-जैसी एकरूपता व सुनियमितता न होकर अनेकरूपता की विशेषता विद्यमान थी । यह अनेकरूपता प्रकीर्ण प्रबंधों की स्वाभाविक उन्मुक्तता का परिचायक है । इसीलिए तत्कालीन चच्चरीप्रबंध के अनेक प्रभेद दृष्टिगोचर होते हैं । उन्मुक्तता और अनेकरूपता लोकसंगीत का स्वाभाविक गुण है । अतएव चच्चरी गान की अनेक-रूपता या स्वाभाविक उन्मुक्तता उसे लोकसंगीत की परंपरा से संबद्ध करती है । आज भी चाँचर (होली) और ठुमरी गान की प्रकृति में लोकसंगीत की स्वाभाविक उन्मुक्तता के दर्शन होते हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संगीतरत्नाकर व संगीतराज ग्रंथों में चच्चरी प्रबंधों की काव्यरचना को प्राकृत भाषा में होना बताया गया है। संगीतरत्नाकर की ग्रंथरचना के कुछ समय पूर्व सन् 1238 में आचार्य जिनपाल उपाध्याय ने चर्चरी व रासक को एक ही मानते हुए उसे प्राकृत भाषा का प्रबंध बताया है :

"चर्चरी-रासक प्रख्ये प्रबंधे प्राकृते किल"[107]

अतएव चर्चरी (चच्चरी) प्रबंधों की काव्यरचना संस्कृत युग की देशोपभाषा प्राकृत में होना इसे लोकपरंपरा की गीतविधा सिद्ध करता है। वर्तमान संदर्भ में यही नियम चाँचर (होली) और ठुमरी के लिए भी लागू होता है क्योंकि चाँचर (होली) और ठुमरी गीतों की काव्यरचना भी वर्तमान देशोपभाषाओं (बोलियों) में दृष्टिगत होती है।

प्राचीन भारतीय वैयाकरणों और अलंकारशास्त्र के आचार्यों ने प्राकृत भाषा को प्रकृति अर्थात् संस्कृत भाषा से आगत (विकासित) माना है, जैसे

"प्रकृतिः संस्कृतम्, तत्रभवम् तत आगतं वा प्राकृतम्।"

(हेमचन्द्र, प्राकृत व्याकरण, 8/1/1)

"प्रकृतेरागतं प्राकृतम् प्रकृतिः संस्कृतम्।"

(धनिक, अवलोक 2/60)

डॉ० दशरथ ओझा का मत है कि जिस काल में लोग संस्कृत बोलते थे, उसी काल में व्याकरणादि नियमों से अपरिचित व्यक्ति सहज भाव से प्राकृत बोलते थे। अतएव प्राकृत को केवल संस्कृत का ही विकृत रूप न मानकर उसे व्याकरणादि नियमों से विनिर्मुक्त सहज भाव से बोली जाने वाली प्राचीन जनभाषा मानना चाहिए।[108]

प्राकृत भाषाएँ कई हैं। प्राकृत भाषाओं के विद्वान स्वर्गीय डॉ० पिशल की मान्यता है कि प्राचीन जन बोलियों से विकसित इन प्राकृत भाषाओं का जितना घनिष्ठ संबंध वैदिक कालीन जनबोलियों से है, उतना ही मध्यकालीन व नवीन जनबोलियों से भी है।[109]

शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी और पैशाची मुख्य प्राकृत भाषाएँ थीं। इनमें से शौरसेनी और महाराष्ट्री की 'प्रकृति' अर्थात् आधारभूत भाषा संस्कृत होने से दोनों में बहुत समानता थी। इसलिए भाषाशास्त्रियों के मतानुसार शौरसेनी और महाराष्ट्री एक ही प्राकृत के दो भेद हैं।[110]

ब्रज का प्राचीन नाम शौरसेन प्रदेश था, जिसकी राजधानी मथुरा थी। शौरसेनी प्राकृत उसी शौरसेनी प्रदेश की जनबोली से विकसित भाषा थी। प्राकृत भाषाओं में शौरसेनी प्राकृत का महत्त्वपूर्ण स्थान था।[111] अश्वघोष के नाटकों में गणिका व विदूषक पात्रों के संवादों की भाषा प्राकृत का सबसे पुराना रूप है जो कि प्राचीन शौरसेनी प्राकृत से बहुत मिलती-जुलती है।[112]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भरत के अनुसार नाटक में नायिकाओं और सखियों आदि महिलाओं की बोली शौरसेनी होनी चाहिए, जैसे

(i) "शौरसेनीं समाश्रित्य भाषा कार्यां तु नाटके ॥ 45 ॥"
(ii) "नायिकानां सखीनां च शौरसेन्यविरोधिनी ॥ 50 ॥"

(भरत, नाट्यशास्त्र, अष्टादशोऽध्याय)

भरत ने प्रासादिकी के संदर्भ में बताते हुए, ध्रुवागीतों में शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग करने को कहा है, जैसे

भाषां तु शौरसेनीं हि ध्रुवाणां सम्प्रयोजयेत् ॥ 383 ॥"

(भरत, नाट्यशास्त्र द्वात्रिंशोऽध्याय)

स्वर्गीय कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का मत है कि प्राचीन काल में मध्यदेश के गेयपदों (गीतों) का आविर्भाव रासनृत्य की प्रेरणा से हुआ और उन गीतों की भाषा शौरसेनी प्राकृत थी ।[113]

लगभग चौथी शताब्दी तक तो जनभाषा और नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत भाषाओं में संबंध बना रहा, किंतु उसके बाद वे अपने सहज-स्वाभाविक रूप से दूर हटते हुए जनता में दुर्बोध होती गईं। डॉ० पिशल का मत है कि प्राकृत भाषाओं को काव्यानुकूल बनाने के लिए बाद में कवियों ने उनमें बहुत तोड़-मरोड़ की। जिसके कारण प्राकृत भाषाएँ कृत्रिम और काव्य-भाषाएँ मात्र होकर रह गईं ।[114] अतएव शौरसेनी प्राकृत के गेयपद, जो कि अपने सहज प्रसाद गुण और माधुर्य के कारण शताब्दियों तक लोकप्रिय रहे, बाद में धीरे-धीरे जनता में दुर्बोध और अप्रचलित होते गए।

इस समय तक जनभाषा का एक नवीन रूप अपभ्रंश के नाम से विकसित होकर लोक में प्रचलित हो चला था। पतंजलि ने अशुद्ध और भर्तृहरि ने संस्कार-हीन शब्दों के अर्थ में अपभ्रंश का प्रयोग किया है, जैसे

(i) एकस्यैव शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद् यथा गौरित्यस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः ॥"

(पतंजलि, महाभाष्य)

(ii) "शब्दसंस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम् ॥ 148 ॥"

(भर्तृहरि, वाक्यपदीयम्, काण्ड 1)

ईसा की छठी शताब्दी में दंडी ने आभीरादि जातियों की और काव्य की भाषा अपभ्रंश बतायी है :

"आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः।"

(दण्डी, काव्यादर्श)

इससे ज्ञात होता है कि जिस अपभ्रंश को प्रारंभ में भ्रष्ट और संस्कारहीन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बोली माना जाता था वही आगे चल कर छठी शताब्दी तक काव्योपयोगी जनभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

सरल और सुबोध होने के कारण अपभ्रंश भाषा के काव्य और गेयपद शताब्दियों तक जनप्रिय रहे। किंतु लगभग बारहवीं शताब्दी तक आते-आते अपभ्रंश साहित्य के भी शनैः-शनैः क्लिष्ट और दुर्बोध होते जाने के कारण उस समय से जनता में अपभ्रंशों से विकसित जनभाषाओं (बोलियों) के काव्य और गेयपदों की लोकप्रियता बढ़ने लगी।[115]

प्राकृत एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं के मध्य शृंखला जोड़ने में अपभ्रंश भाषाओं का बहुत बड़ा महत्त्व रहा है। आगे चलकर, इनमें से मध्यदेश की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश का समस्त उत्तर भारत में व्यापक प्रचार हुआ। आज की ब्रज, खड़ी बोली, और गुजराती आदि भाषाएँ इसी शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित हुईं।[116] अतः शौरसेनी प्राकृत से चली आ रही काव्य और गीतों की लोक-परंपरा ब्रज, गुजराती आदि भाषाओं को उत्तराधिकार मे मिली। इसके अनुसार अर्वाचीन चाँचर की पारंपरिक शृंखला भी प्राकृत भाषा के चच्चरी प्रबंधों से जुड़ती है। आधुनिक चाँचर तथा ठुमरी गीतों की समरूपता और दोनों में ब्रजभाषा की प्रधानता को देखते हुए यह सहज ही अनुमान होता है कि इनकी विकास-शृंखला का संबंध शौरसेनी प्राकृत के चच्चरी प्रबंधों से है।

तत्कालीन चच्चरी प्रबंध का गान वसंतोत्सव पर होता था। आज भी चाँचर का गान अधिकतर वसंतोत्सव तथा होली के अवसर पर होता है। ब्रज के गाँवों में वसंतोत्सव तथा होली के आस पास गाए जाने वाले गीतों में ठुमरी की भी गणना होती है।[117]

संगीतरत्नाकर में चच्चरी प्रबंध को चच्चरी ताल में गाए जाने का उल्लेख है। आज भी चाँचर (होली) और ठुमरी चाँचर ताल में गाए जाते हैं। यद्यपि तत्कालीन चच्चरी ताल और वर्तमान चांचर ताल के स्वरूप में बहुत अंतर है। किंतु उस समय के चच्चरी में गीत और ताल का एक ही नाम होना, दोनों के परस्पर संबंध की ओर संकेत करता है।

संगीतरत्नाकर के अनुसार देशी तालों के अंतर्गत चच्चरी ताल का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

> विरामान्तद्रुतद्वंद्वान्यष्टौ लघु च चच्चरी ।
> ०ऽ०ऽ०ऽ०ऽ०ऽ०ऽ०ऽ०ऽ।
> ....॥ 266 ॥[118]

संगीतरत्नाकर में विराम (अणुद्रुत), द्रुत और लघु का मान क्रमशः चौथाई आधा और एक मात्रा माना गया है। इस व्यवस्था के अनुसार चच्चरी ताल की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मात्राओं का योग ग्यारह मात्रा काल के बराबर होता है। इसे वर्तमान हिंदुस्तानी ताल व्यवस्थानुसार इस प्रकार लिखा जाएगा :

1 2	3 4 5	6 7	8 9 10	11 12	13 14 15
×	2	3	4	5	6
16 17	18 19 20	21 22	23 24 25	26 27	28 29 30
7	8	9	10	11	12
31 32	33 34 35	36 37	38 39 40	41 42 43 44	
13	14	15	16	17	

वर्तमान चाँचर ताल का स्वरूप निम्नलिखित है :

1 2 3	4 5 6 7	8 9 10	11 12 13 14
×	2	0	3

अथवा

1 2 3 4	5 6 7 8	9 10 11 12	13 14 15 16
×	2	0	3

अतएव तुलनात्मक दृष्टि से संगीतरत्नाकर में निर्दिष्ट चच्चरी ताल का स्वरूप वर्तमान चाँचर ताल से नितांत भिन्न है। यद्यपि वर्तमान समय में प्रचलित अनेक रागों और तालों के नाम संगीतरत्नाकर में मिलते हैं। किंतु उनके तत्कालीन और वर्तमान स्वरूपों में बहुत अंतर दिखाई पड़ता है। देशी संगीत की परिवर्तनशीलता के कारण ही तत्कालीन रागों और तालों के स्वरूप कालांतर में धीरे-धीरे परिवर्तित होते गए। इसीलिए नामों में पारस्परिक संबंध होते हुए भी रागों और तालों के तत्कालीन और अर्वाचीन रूप भिन्न दिखाई पड़ते हैं। उदाहरणार्थ—संगीतरत्नाकर में निर्दिष्ट हिंदोल राग में रे, ध स्वर वर्जित हैं,[119] जबकि वर्तमान हिंडोल राग में रे, प वर्जित हैं।[120] संगीतरत्नाकर में उल्लिखित देसी राग में पंचम वर्जित है,[121] जबकि आधुनिक देसी राग के आरोह में गांधार और धैवत वर्ज्य हैं।[122] तालों में संगीतरत्नाकरकालीन एकताली का शास्त्रीय स्वरूप एक द्रुत (0) है,[123] जबकि उत्तर भारतीय एकताल का शास्त्रीय स्वरूप लघु, लघु, द्रुत, द्रुत (।।00) होता है[124] और कर्नाटक एकताल का शास्त्रीय स्वरूप एक लघु (।) है।[125] संगीत रत्नाकर में वर्णित झंपा ताल का शास्त्रीय स्वरूप दो द्रुतविरामांत और एक लघु (δδ।) है,[126] जबकि आधुनिक उत्तर भारतीय झपताल का शास्त्रीय स्वरूप द्रुत, लघु विराम, द्रुतविराम (o ĭ δ)[127] बनता है और कर्नाटक झंप ताल का शास्त्रीय स्वरूप लघु, विराम, द्रुत, द्रुत (।‿00) है।[128] संगीतरत्नाकर में निर्दिष्ट गजझंपा ताल का शास्त्रीय स्वरूप गुरु, द्रुत, द्रुत, विरामांतद्रुत (ऽ o o δ) है,[129] किंतु उत्तर भारतीय गजझंपा ताल का स्वरूप लघु, गुरु, विरामांतद्रुत (। ऽ δ) बनता है।[130]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संगीतरत्नाकर के चच्चरी ताल व वर्तमान उत्तरभारतीय झपताल दोनों में मुख्य रूप से ० ८=12।123 इस छदगति अर्थात् वज़न की प्रधानता दिखाई पड़ती है। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए, जयपुर के सवाई महाराज प्रतापसिंह 'ब्रज-निधि' कृत 'राग सारंग, चर्चरी (जतताल)' में विरचित एक गेय-रचना[131] के स्वाभाविक छंदगति के विश्लेषण से भी इसका आभास मिलता है, जैसे

स्थायी

मुखहि अंबुज सुनी, तान अमृत स्रवी।

1	2	1	2	3	1	2	1	2	3
मु	ख	हि	अं	ऽ	बु	ज	सु	नी	ऽ
ता	ऽ	न	अ	ऽ	मृ	त	स्र	वी	ऽ
×		2			0		3		

उन्नीसवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध सितारिए अमृतसेन के शिष्य पं० सुदर्शनाचार्य शास्त्री ने सन् 1915 में प्रकाशित अपने ग्रंथ **संगीत सुदर्शन** में चाँचर (दीपचंदी) के एक दशमात्रिक स्वरूप का वर्णन किया है, जिसकी छंदगति (वज़न) बिलकुल आधुनिक उत्तरभारतीय झपताल के समान है।[132] अतः तुलनात्मक दृष्टि से संगीत-रत्नाकरोक्त चच्चरीताल, दशमात्रिक चाँचर (दीपचंदी) व षोडशमात्रिक चाँचर ताल में परस्पर क्रमिक विकास जैसा संबंध दिखाई पड़ता है; जैसे :

1. संगीतरत्नाकरोक्त चच्चरीताल

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
×		2			3		4		
11	12	13	14	15	16	17	18	19	20
5		6			7		8		
21	22	23	24	25	26	27	28	29	30
9		10			11		12		
31	32	33	34	35	36	37	38	39	40
13		14			15		16		
41	42	43	44						
17									

2. संगीतसुदर्शनोक्त दीपचंद (दशमात्रिक चाँचर) ताल

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
धा	धिं	धा	गे	तिं	ता	तिं	धा	गे	धिं
×		2			0		3		

3. वर्तमान चतुर्दश-मात्रिक चाँचर (दीपचंदी) ताल

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	1
धा	धिं	ऽ	धा	गे	तिं	ऽ	ता	तिं	ऽ	धा	गे	धिं	ऽ
×			2				0			3			

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
4. वर्तमान षोडश मात्रिक चाँचर (जत) ताल	धा	ऽ	धि	ऽ	धा	गे	ति	ऽ	ता	ऽ	ति	ऽ	धा	गे	धि	ऽ
	×				2				0				3			

अथवा

धा	ऽ	धि	ऽ	धा	धा	ति	ऽ	ता	ऽ	ति	ऽ	धा	धा	धि	ऽ
×				2				0				3			

इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि व्रज के चाँचरि गान में भी झपताल एक प्रमुख ताल है।[133] सूरदास ने भी अपने एक पद में कहा है—"नाचत कुँवर मिले झपतार"।[134]

इस प्रकार यद्यपि चच्चरी शब्द का चाँचर के रूप में भाषाशास्त्रीय शब्द व्युत्पत्तिक विकास यह प्रमाणित करता है कि चच्चरी और चाँचर ताल में परंपरागत संबंध है, परंतु संगीतरत्नाकर में निर्दिष्ट चच्चरी ताल और आधुनिक चाँचर ताल की स्वरूपगत विभिन्नता से ऐसा प्रतीत होता है कि यह परिवर्तन देशी संगीत की परिवर्तनशीलता के कारण ही हुआ होगा।

संगीतरत्नाकर में सोलह मात्राओं वाले चच्चरी प्रबंध का भी उल्लेख है, जिसमें दो-दो तुकांत पंक्तियों वाले अनेक चरण होते थे।[135] चच्चरी प्रबंध के इस प्रकार में केवल सोलह मात्राओं का उल्लेख है। किसी विशेष छंद का नाम नहीं दिया गया है। इसमे अनुमान होता है कि चच्चरी प्रबंध का यह प्रकार सोलह मात्राओं वाले किसी भी छद में निबद्ध होता होगा।

प्राकृत और अपभ्रंश काव्यों में रासा और पद्धडिका इत्यादि सोलहमात्रिक छंदों का बहुत प्रचलन मिलता है। विरहांक ने वृत्तजाति समुच्चय में रासा का लक्षण इस प्रकार दिया है :

रासा—मात्रावृत्तम्
चतुर्मात्रास्त्रयः ग ग

अथवा

पढमगइन्दणिऊइअएहिं। बीअअतइअ तुरंगम एहिं।
जाणसु कण्णविरामअएहिं। सुंदरि रासाअ पाअएहिं ॥ 85 ॥
(प्रथमगजेन्द्र नियोजितैः। द्वितीय तृतीय तुरंगमैः।
जानीहि कर्ण विरामैः। सुन्दरि रासां च पादैः ॥)

गजेन्द्र	=	4 मात्रा
तुरंग	=	4 मात्रा
तुरंग	=	4 मात्रा
कर्ण	=	— (चार मात्रा)

अर्थात् प्रत्येक चरण में 4 + 4 + 4 + 4 = 16 मात्रायें।[136]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संदेशरासक की टिप्पणी में पद्धडिका छंद का लक्षण इस प्रकार मिलता है :

सोलसमत्ताउ जहि पउ दीसइ, अक्खरु ग्रंतु न किं पि सालीसइ ।
पायउ पायउ जमक विसुद्धउ, पद्धडीअ इह छन्द विसुद्धउ ॥
चत्वारोऽपि पदाः षोडशमात्रिकाः । आद्यार्धे उत्तरार्धे च यमकम् ।[137]

संगीतरत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ ने पद्धडिका छंद का लक्षण इस प्रकार बताया है :

षोडश मात्राः पादे पादे यत्र भवन्ति निरस्त विवादे ।
पद्धडिका जनगणेन विमुक्ता चरमगुरुः सा सद्भिरिहोक्ता ॥[138]

अतएव अनुमानतः इस द्वितीय प्रकार के चच्चरी प्रवंध में रासा, पद्धडी प्रभृति षोडशमात्रिक छंदों का प्रयोग किया जाता रहा होगा ।

संगीतरत्नाकर में तृतीय प्रकार के एक अन्य चच्चरी प्रवंध का भी उल्लेख है, जो कि चच्चरी नामक छंद में ही निवद्ध होता था । कल्लिनाथ की टीका कलानिधि के अनुसार यह चच्चरी छंद षोडशमात्रिक होता था ।[139]

निवद्ध गान में प्रयुक्त काव्य, छंद और ताल का समन्वय ठीक होने के लिए दोनों की मात्राओं का पारस्परिक अनुपात समान अथवा सरल होना चाहिए अन्यथा दोनों का सामंजस्य ठीक न हो सकेगा । इसीलिए कल्लिनाथ ने चच्चरी प्रवंधों के लक्षणों की व्याख्या करते हुए क्रीडातालवद्ध चच्चरी में क्रीडाताल के उपयुक्त या उससे सादृश्य रखने वाले घत्ता तथा अन्य छंदों का प्रयोग बताया है । इससे ताल और छंद के आनुपातिक संवंध को पुष्टि होती है । आनुपातिक असरलता के कारण सोलह मात्राओं वाले छंदों से पूर्वोक्त ग्यारह मात्राओं वाले चच्चरी ताल का मेल ठीक नहीं वैठता । अतएव षोडशमात्रात्मक चच्चरी प्रवंध की संगति तदनुकूल दो, चार, आठ अथवा सोलह मात्राओं वाले तालों द्वारा होना ही स्वाभाविक है ।

संगीतरत्नाकर के प्रवंधाध्याय में षोडशमात्रिक व तुकांत युक्त पद्धडी इत्यादि छंदों में वँधे चर्या प्रवंध में द्वितीयादिक तालों के प्रयोग का निर्देश है,[140] जिनका सामंजस्य पद्धडी छंद की सोलह मात्राओं से ठीक वैठता है । द्वितीय ताल का लक्षण द्वौ लौ द्वितीयकः है ।[141] इसके अनुसान उसका स्वरूप 00। होता है ।[142] अतएव पद्धडी छंद और द्वितीय ताल के परस्पर सामंजस्य से भी यही सिद्ध होता है कि संगीत में प्रयुक्त काव्यछंदों और तालों में आनुपातिक अनुकूलता का होना आवश्यक है ।

वेद ने चर्चरी नृत्य को रासताल के चार आवर्तनों से युक्त बताया है ।[143] इनके अनुसार चर्चरी नृत्य के एक पूरे चक्र और रासताल की मात्राओं में 1 : 4 का अनुपात था । संगीतरत्नाकर के अनुसार आदिताल ही लोक में रासताल के नाम से प्रसिद्ध था, जिसका स्वरूप एक लघु । है ।[144]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्राचीन संगीतशास्त्रों में लघु का मान एक मात्रा माना गया है।[145] तत्कालीन मार्गतालों में लघु अर्थात् एक मात्रा का परिमाण पंच लघु अक्षरों का उच्चारकाल बताया गया है।[146] किंतु देशी तालों में 'यथाशोभा' के लिए 'देहलीप्रदीप' न्यायानुसार एक मात्रा का परिमाण चार लघु अक्षरों का उच्चारकाल बताया है।[147] कहीं-कहीं छह लघु अक्षरों के उच्चारकाल के प्रयोग का भी उल्लेख है।[148]

आदिताल या रासताल में लघु का परिमाण मूलतः चार लघु अक्षरों का उच्चारकाल होने की लोक-परंपरा रही है।[149] इसका प्रमाण वर्तमान कर्नाटक संगीत के आदिताल (त्रिपुट—चतस्रजाति) तथा एकताल (चतस्रजाति) से मिलता है।[150] हिंदुस्तानी संगीत का चतुर्मात्रिक कहरवा ताल भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है।

संगीतरत्नाकरोक्त आदिताल या रासताल के समान ही वर्तमान हिंदुस्तानी संगीत के कहरवा और कर्नाटक संगीत के एकताल (चतस्रजाति) में केवल एक ही ताली का प्रयोग किया जाता है। अतएव इन सभी तालों का स्वरूप एक जैसा ही है, जैसे

1. रास (आदि) ताल	1 ×	2	3	4	= । एक लघु
2. कहरवा	1 ×	2	3	4	= । ,, ,,
3. एकताल (कर्नाटक)	1 ×	2	3	4	= । ,, ,,

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि संगीतरत्नाकर में निर्दिष्ट देशी तालों में जिस लघु का मान एक मात्रा अर्थात् चतुर्लघ्वक्षरोच्चार काल है, उसकी मान्यता वर्तमान प्रयोग की दृष्टि से चार मात्रा है। इसके अनुसार चर्चरीनृत्य के एक पूरे चक्र में चार लघु अथवा वर्तमान हिंदुस्तानी संगीत के अनुपात के अनुसार सोलह मात्राओं का प्रयोग होता था। अतएव इन प्रमाणों के अधार पर संगीतरत्नाकर के द्वितीय और तृतीय प्रकार के षोडशमात्रिक चच्चरी प्रबंधों में भी एक, दो, चार, आठ अथवा सोलह मात्राओं वाले तालों के व्यवहार की परिपुष्टि होती है। सोलह और उसके अपवर्तकों के इस मात्राक्रम में संगीतरत्नाकर के एकताली (0), पंचम (00), रास (।), करणयति (0000), द्वितीयक (00।), करुण (ऽ), तथा उदीक्षण (।।ऽ) इत्यादि तालों की गणना होती है।[151]

वर्तमान समय में भी चाँचर गान के एक भेद और ठुमरी को सोलह मात्राओं में गाने की प्रथा है, जिसमें षोडशमात्रिक चाँचर ताल (जत) या त्रिताल का व्यवहार किया जाता है। ठुमरी और उसकी शैली में गाए जाने वाले चाँचर, होली तथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दादरा (कहरवा तालबद्ध) गीतों में कहरवा (चार या आठ मात्राएँ), ठुमरी ताल (आठ मात्राएँ), अद्धा (आठ मात्राएँ), सितारखानी (आठ या सोलह मात्राएँ) तथा त्रिताल (सोलह मात्राएँ) इत्यादि तालों का प्रयोग होता है, जो कि क्रमशः संगीत-रत्नाकर के एकताली, पंचम, करणयति, द्वितीयक, करुण और उदीक्षण इत्यादि तालों के समान हैं, जैसे

(अ) कहरवाताल = 1 2 3 4
(चतुर्मात्रिक) ×
(एकताली 0= 1 2 दो आवर्तन : पंचम 0 0=1 2 3 4)
1 1

(आ) कहरवाताल = 1 2 3 4 | 5 6 7 8
(अष्टमात्रिक) × | 0
(करुण ऽ= 1 2 3 4 5 6 7 8)
1

(इ) ठुमरीताल = 1 2 3 4 | 5 6 7 8
× | 2
(द्वितीयक 001 = 1 2 | 3 4 | 5 6 7 8)
1 | 2 | 3

(ई) अद्धा या सितारखानी (अष्टमात्रिक) = 1 2 | 3 4 | 5 6 | 7 8
× | 2 | 0 | 3
(करणयति 0000= 1 2 | 3 4 | 5 6 | 7 8)
1 | 2 | 3 | 4

(उ) सितारखानी या त्रिताल = 1 2 3 4 | 5 6 7 8 | 9 10 11 12 | 13 14 15 16
× | 2 | 0 | 3
(उदीक्षण ।।ऽ = 1 2 3 4 | 5 6 7 8 | 9 10 11 12 13 14 15 16)
1 | 2 | 3

अठारहवीं शताब्दी ईसवी के फ़ारसी ग्रंथ 'नग़माते सरोद' के अनुसार प्राचीन उदीक्षण ताल ही वर्तमान त्रिताल है।[152] उदीक्षण ताल का विश्लेषण करने पर यह बात सही सिद्ध होती है। उदीक्षण ताल को वर्तमान प्रणाली के अनुसार इस प्रकार लिखा जाएगा :

1 2 3 4 | 5 6 7 8 | 9 10 11 12 13 14 15 16
1 | 2 | 3

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रत्यक्ष प्रयोग करते समय इसमें प्रत्येक खंड का वज़न बराबर रखने के लिए तेरहवीं मात्रा पर 'खाली' अर्थात् निःशब्द क्रिया करनी पड़ेगी। अतः इसका स्वरूप निम्नलिखित होगा :

1 2 3 4	5 6 7 8	9 10 11 12	13 14 15 16
1	2	3	0

आज से लगभग तीस-चालीस वर्ष पूर्व अनेक पुराने संगीतज्ञ त्रिताल का यही रूप मानते हुए दूसरी ताली पर सम मानते थे। अंतर केवल इतना था कि वे त्रिताल की पहली ताली तेरहवीं मात्रा पर मानते थे, जबकि उदीक्षण ताल के अनुसार वह पहली मात्रा पर पड़ती है परंतु दोनों में तालियों का क्रम एक ही जैसा है। यदि उदीक्षण ताल की पहली मात्रा पर पुराने त्रिताल की तेरहवीं मात्रा मान ली जाय तो दोनों का स्वरूप एक-जैसा हो जाता है, जैसे

उदीक्षण ताल	1 2 3 4	5 6 7 8	9 10 11 12	13 14 15 16
तालचिह्न	1	2	3	0
पुराना त्रिताल	13 14 15 16	1 2 3 4	5 6 7 8	9 10 11 12
तालचिह्न	1	2 या ×	3	0

अतः इस तुलनात्मक विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि त्रिताल का विकास उदीक्षण ताल से हुआ है। कालांतर में सम को पहली ताली मान लेने के कारण त्रिताल का वर्तमान निम्नलिखित रूप प्रचलित हो गया :

मात्राएँ	1 2 3 4	5 6 7 8	9 10 11 12	13 14 15 16
तालचिह्न	×	2	0	3

संगीतरत्नाकर व संगीतराज के चच्चरीप्रबंध के भेदों में से क्रीडाताल में निबद्ध चच्चरी प्रबंध का भी उल्लेख है; जिसकी काव्यरचना क्रीड़ाताल के अनुकूल घत्ता इत्यादि छंदों में होती थी।[153] क्रीडाताल का लक्षण संगीतरत्नाकर के तालाध्याय में इस प्रकार वर्णित है :

क्रीडा द्रुतौ विरामान्तौ चण्डनिःसारुकश्च सः ॥ 281 ॥[154]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थात् क्रीडाताल में, जिसे चण्डनि:सारुक भी कहते हैं, दो विरामांत द्रुत हैं। इसका स्वरूप ऽऽ है। वर्तमान हिंदुस्तानी संगीत प्रणाली के अनुसार इसका रूप निम्नलिखित होगा :

1 2 3	4 5 6
×	2

यह क्रीडाताल ठुमरी शैली के दादरा नामक गीतभेद में व्यवहृत होने वाले दादरा ताल के सदृश्य है। दादराताल का स्वरूप इस प्रकार है :

1 2 3	4 5 6
×	0

क्रीडाताल के दोनों खंडों में 'भरी' अर्थात् ताली पड़ती है, जबकि दादरा ताल के केवल प्रथम खंड में 'भरी' और दूसरे खंड में 'खाली' पड़ती है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी दृष्टियों से दोनों ताल एक समान हैं। अतएव संगीतरत्नाकर-कालीन क्रीडाताल में निबद्ध चच्चरीप्रबंध और वर्तमान ठुमरी शैली के दादरा नामक गीत में तालों की समानता विशेष रूप से दृष्टिगत होती है।

संगीतरत्नाकर के समय में चच्चरी प्रबंध के इन चार भेदों के अतिरिक्त अन्य छंदों में निबद्ध चच्चरी प्रबंधों के गाए जाने का भी संकेत मिलता है। इससे अनुमान होता है कि उन छंदों के अनुकूल अन्य तालों का प्रयोग भी उन चच्चरी प्रबंधों में होता होगा। पूर्वोक्त चच्चरी प्रबंधों में प्रयुक्त तालों और वर्तमान चाँचर तथा ठुमरी में प्रयुक्त तालों की समानता को देखते हुए यह भी अनुमान होता है कि अन्य छंदों में निबद्ध चच्चरी प्रबंधों के साथ तृतीय[155] तथा अंतरक्रीड़ा[156] (० ० ऽ) हंसलील[157] तथा डोम्बुली[158] (ı̆ ı̆) और प्रति[159] (। । 0 0) इत्यादि तालों का भी व्यवहार होता रहा होगा, जो कि कुछ विशिष्ट ठुमरियों में प्रयोग होने वाले रूपक, झपताल और एकताल से तुलनीय हैं।[160]

वसंतोत्सव भारत का शृंगारप्रधान त्यौहार है। इसीलिए इसे संस्कृत ग्रंथों में मदनोत्सव या मदनमहोत्सव कहा गया है। इस अवसर पर शृंगारात्मक गान-नृत्य के प्रदर्शन की परंपरा भारत में बड़ी पुरानी है।[161] चर्चरी गान और नृत्य की गणना भी शृंगारप्रधान संगीत के अंतर्गत होती है। रत्नावली, कर्पूरमंजरी, कुट्टनीमतम् जैसे संस्कृत ग्रंथों;[162] अपभ्रंश तथा डिंगल भाषा के जैन रास तथा रासो काव्य-साहित्य;[163] संगीतरत्नाकर व संगीतराज जैसे संगीत ग्रंथों; कबीर तथा जायसी के काव्य, मध्यकालीन व्रजभाषा के वैष्णव साहित्य तथा गुजरात और उत्तर प्रदेश के लोक-संगीत से ज्ञात होता है कि चर्चरी या चाँचरि गान और नृत्य की परंपरा लोक में बहुत समय पूर्व से चली आ रही है। डॉ० दशरथ ओझा का मत है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कि नृत्य संगीत सहित किया जाने वाला एक लोकनाट्य चर्चरी कहलाता था, जिसका प्रदर्शन प्रायः वसंतोत्सव के अवसर पर होता था।[164] संभवतः चर्चरी नृत्य ही कालांतर में शृंगाररस की कथावस्तु के आधार पर अभिनेय गीत-नाट्य बन गया।[165]

विशिष्ट गीत, छंद, ताल, वाद्य और नृत्य के लिए चर्चरी शब्द का प्रयोग, यह सिद्ध करता है कि मूलतः ये सभी एक दूसरे से संबद्ध थे और इनका प्रयोग वसंतोत्सव के दिनों में किए जाने वाले चर्चरी गान व नृत्य के अंतर्गत होता था। आठवीं शताब्दी में, कश्मीर के राजा जयापीड़ (सन् 751 से 782 अथवा सन् 779 से 813) के मंत्री दामोदर गुप्त कृत, वैशिक संस्कृति संबंधी कुट्टनीमतम् नामक ग्रंथ में भी वसंतोत्सव के अवसर पर चर्चरी गान और नृत्य का उल्लेख है।[166] आज भी फागुन या वसंत के दिनों में होने वाले संगीत में चाँचरि गान, चाँचरि नृत्य और चाँचरि ताल की प्रधानता दिखाई पड़ती है।

कर्पूरमंजरी के उद्धरण से पता चलता है कि तत्कालीन चर्चरी नृत्य में स्त्रियों की प्रधानता थी। नर्तकियों द्वारा इसका प्रदर्शन अभिनयहीन और साभिनय दोनों रूपों में किया जाता था।[167] अभिनयरहित चर्चरीनृत्य 'डंडरास' के सदृश्य होता था, जिसकी परंपरा आज भी व्रज, गुजरात, बुंदेलखंड, हिमाचल तथा कुमायूँ प्रदेश में छोटे-छोटे डंडों को परस्पर बजाते हुए किए जाने वाले मंडलाकार सामूहिक नृत्य में दिखाई पड़ती है। गीताभिनय सहित चाँचरि का प्रदर्शन, होली के दिनों में स्त्रियों द्वारा व्रज की गलियों में, तथा संगीत महफ़िलों में वारांगनाओं द्वारा किए जाने वाले चाँचर के नृत्य-गान में दिखाई पड़ता है।

वर्तमान समय में चाँचर (होली), ठुमरी और दादरा आदि गीतों का अंतर्भाव ठुमरी शैली में होता है। तुलनात्मक दृष्टि से संगीतरत्नाकर में वर्णित चच्चरीप्रबंध और वर्तमान ठुमरी शली के इन गीतों के अधिकांश लक्षणों में बहुत समानता दिखाई पड़ती है। इतना ही नहीं, रत्नावली तथा कर्पूरमंजरी जैसे संस्कृत नाटकों में उल्लिखित चर्चरी गान के साथ नर्तकियों द्वारा किए जाने वाले नृत्याभिनय की परंपरा भी आधुनिक युग में वारांगनाओं द्वारा चाँचर, ठुमरी और दादरा आदि ठुमरी शैली के गीतों के साथ किए जाने वाले नृत्य और भावप्रदर्शन में दिखाई पड़ती है। अतएव इनके आधार पर ठुमरी गान, चर्चरी गीतों की विकास-शृंखला में आता है।

गीतरचना और नृत्याभिनय के अतिरिक्त, मध्यकालीन चर्चरी नृत्य में व्यवहृत होने वाले तालों और उनके साथ प्रयुक्त ठेकों के बोलों का विश्लेषण करने पर, उनमें तथा वर्तमान ठुमरी के साथ व्यवहृत होने वाले तालों और तबला, ढोलक, नगाड़ा आदि वाद्यों में व्यवहृत होने वाले उनके ठेकों में, परस्पर संबंध और क्रमिक विकास की अद्भुत समता दिखाई पड़ती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वेद ने चर्चरी नृत्य का लक्षण इस प्रकार वताया है :

> तेत्तिगिध इति शब्देन नर्त्तनं रास तालतः
> अथवा चर्चरी तालाच्चतुरावर्तनैर्नटैः ।
> क्रियते नर्त्तनं तत्स्याच्चर्चरी नर्त्तनं वरम् ।।[168]

अर्थात् 'ते ति गि ध' शब्दों के साथ रासताल में या चर्चरीताल में चार आवर्तनों सहित, नटों के द्वारा किया जाने वाला नर्तन चर्चरी नृत्य होता है ।

इस वर्णन के अनुसार 'ते ति गि ध' शब्दों का परिमाण आदिताल या रास-ताल के एक आवर्तन अर्थात् एक लघु के वरावर है । चार आवर्तनों में चार वार व्यवहृत होने पर यह चार लघु अर्थात् सोलह अक्षरकाल के बरावर होता है, जोकि वर्तमान त्रिताल की सोलह मात्राओं के समान होगा, जैसे

रासताल :	1	2	3	4	1	2	3	4	1	2	3	4	1	2	3	4
त्रिताल :	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
	×				2				0				3			
	ते	ति	गि	ध	ते	ति	गि	ध	ते	ति	गि	ध	ते	ति	गि	ध

वेद के पूर्वोक्त श्लोक से चर्चरी ताल के भी चतुरावर्तनीय और षोडशमात्रिक होने का संकेत मिलता है, जिसकी समता वर्तमान षोडशमात्रिक चाँचर ताल से की जा सकती है। षोडशमात्रिक चर्चरीताल की अनुकूलता संगीतरत्नाकर युगीन षोडशमात्रिक चच्चरी छंद से भी ठीक बैंठती है । चच्चरी छंदोपयोगी कोई विशिष्ट ताल ही कालांतर में चर्चरीताल कहा जाने लगा हो तो क्या आश्चर्य ? चर्चरी छंद, तथा चर्चरीतालगत षोडशमात्रिकता के परस्पर संबंध और चर्चरी शब्द से क्रमशः चच्चरी>चंचरी>चाँचरी>चाँचरि>चाँचर[169] इत्यादि शब्दों के भाषावैज्ञानिक विकास को देखते हुए, यह प्रतीत होता है कि आधुनिक सोलहमात्रिक चाँचर ताल की लोक परंपरा पूर्ववर्ती चर्चरी नामक किसी विशेष ताल से चली आ रही है ।

गुजरात के प्रसिद्ध संगीत विद्वान स्वर्गीय नरेन्द्रराय नानाभाई शुक्ल का कहना था कि गुजरात के परंपरागत लोकसंगीत में ताल के स्थान पर 'मान' शब्द व्यवहार करने की प्रथा रही है । गीतगोविंद की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'यतितालाभ्यां गीयते' के स्थान पर 'यतिमानाभ्यां गीयते' ऐसा उल्लेख भी मिलता है । इससे प्रतीत होता है कि यह परंपरा बहुत पुरानी है । गुजराती लोकसंगीत में व्यवहृत 'मान' के परिमाण की मूल प्रेरणा झूला झूलने की क्रिया से ली गई है क्योंकि गुजरात के जनजीवन में झूले का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है । प्रायः प्रत्येक गुजराती के घर में झूला अवश्य होता है ।

स्थिर रहने की अवस्था में झूले की पृथ्वी से निकटतम ऊँचाई रहती है । इस स्थिति में झूले के मध्यबिंदु और झूलते समय मध्यबिंदु से पीछे की ओर जाने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाले झोंके की अंतिम सीमा पर पृष्ठविंदु और मध्यविंदु से आगे की ओर जाने वाले झोंके की अंतिम सीमा पर अग्रविंदु की कल्पना की गई है, जैसा कि नीचे दिए गए रेखाचित्र से स्पष्ट है :

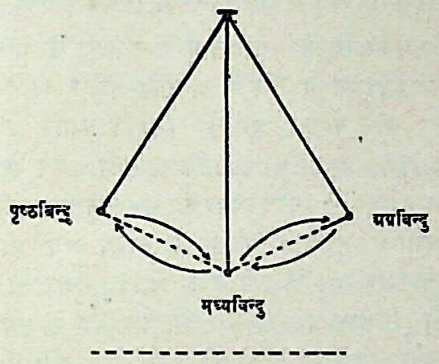

झूला झूलते समय स्वभावतः झूले का झोंका पहले मध्यबिंदु से पीछे और तत्पश्चात् आगे की ओर जाता है। इस स्वाभाविक प्रक्रिया के अनुसार पीछे और आगे झोंके लेकर पुनः मध्यविंदु पर झूले के लौट आने तक लगने वाले कुल समय को 'मान' का परिमाण माना गया है। झूले के मध्यविंदु से पृष्ठबिंदु तक जाने, पृष्ठविंदु से मध्यविंदु तक आने, फिर मध्यविंदु से अग्रबिंदु तक जाने और अग्रविंदु से मध्यविंदु तक आने की चार प्रक्रियाओं में से प्रत्येक में लगने वाले काल के अनुसार 'मान' का विभाजन भी चार 'खंडों' में किया गया है। इनमें से प्रथम कालखंड के प्रारंभ में सम और तृतीय कालखंड अर्थात् 'मान' के अर्धभाग पर खाली पड़ती है। प्रत्येक कालखंड में आवश्यकतानुसार पौने दो, दो, ढाई, तीन, साढ़े तीन अथवा चार मात्राओं का प्रयोग किया जा सकता है। गुजरात के लोकगीतों तथा गरबा, डाँडिया रास आदि नृत्यो में 'मान' का व्यवहार इन्हीं चार कालखंडों के अनुसार होता है, जिसमें आरंभिक चलन, झूले के समान, पीछे की ओर जाता हुआ प्रतीत होता है। गुजराती लोकसंगीत में कुल चार प्रकार के 'मान' व्यवहृत होते हैं। ये मान निम्नलिखित हैं :

1. तियमान अर्थात् स्त्रियों का मान—इसमें सात या चौदह मात्राओं का व्यवहार होता है।
2. यतिमान—इसमें आठ या सोलह मात्राओं का व्यवहार होता है।
3. देवमान – इसमें दस मात्राओं का व्यवहार होता है।
4. गणमान—इसमें बारह मात्राओं का व्यवहार होता है।

तुलनात्मक दृष्टि से तियमान, हिंदुस्तानी संगीत के रूपक या दीपचंदी; यतिमान, हिंदुस्तानी संगीत के कहरवा या त्रिताल; देवमान, हिंदुस्तानी संगीत के झपताल तथा गणमान, हिंदुस्तानी संगीत के एकताल के समान है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गुजरात के लोकसंगीत के अतिरिक्त ब्रज के संगीत में भी 'मान' का प्रयोग दिखाई पड़ता है। मथुरा के मंदिरों में पुष्टिमार्गीय वैष्णवों की सेवापद्धति के अनुसार भगवान कृष्ण के शयनोपरांत गाए जाने वाले पद 'मान के पद' कहलाते हैं जो कि त्रिताल व झूमरा आदि चतुष्खंडीय तालों में निबद्ध होते हैं।[170]

गुजरात और व्रजप्रदेश का अत्यंत पुरातन काल से घनिष्ट संबंध रहा है। द्वापर युग में भगवान श्रीकृष्ण के व्रज से द्वारिका जाकर वसने के कारण गुजरात प्रदेश में कृष्णोपासना और वैष्णव धर्म का व्यापक प्रसार हुआ। रासनृत्य का आरंभ श्रीकृष्ण द्वारा व्रज में हुआ था। उनके द्वारिका गमन के साथ-साथ गुजरात मे भी इसका प्रचलन हुआ।[171] नंदिकेश्वर के कथनानुसार श्रीकृष्ण की पौत्रवधू, वाणासुर की पुत्री उषा ने भगवती पार्वती स लास्य नृत्य सीखकर सौराष्ट्र की नारियों में उसका प्रचार किया।[172] यही नहीं, अपितु गुजराती और व्रजभाषा इन दोनों ही भाषाओं की विकास परंपरा शौरसेनी अपभ्रंश से संबद्ध है।[173] इन सब कारणों से गुजरात और व्रजप्रदेश, दोनों की लोक संस्कृतियों में समानताएँ मिलती हैं। अतएव दोनों के प्रादेशिक संगीत में भी ताल व मान का व्यवहार तथा उनका चतुष्खंडीय होना आश्चर्यजनक नहीं।

मान और ताल दोनों ही संस्कृत भाषा के शब्द हैं। मान का अर्थ है माप या परिमाण[174] और करतल पर प्रतिष्ठित आघातार्थक क्रिया ताल है।[175] संगीत में व्यवहृत 'मान' का तात्पर्य 'समय के माप' से है और समय के माप का ही क्रियात्मक रूप ताल है।[176] इससे ज्ञात होता है कि समय के माप का सैद्धांतिक स्वरूप मान और क्रियात्मक स्वरूप ताल है। इस प्रकार भारतीय संगीत में ताल और मान दोनों ही परस्पर घनिष्ठ रूप से संबद्ध और अन्योन्याश्रित शब्द हैं। प्राचीन गुर्जर काव्य सप्तक्षेत्रिरास में रासनृत्य संगीत के अंतर्गत 'तालमानु' शब्द का उल्लेख भी इसी अर्थ में मिलता है, जैसे

साविहू सरीषा सिणगार सवि तेवड तेवडा।
नाचइ धामीय रंभरे तउ भावइ रूडा।
सुललित वाणी मधुरि सादि जिण गुण गायंता।
तालमानु छंदगीत मेलु वाजित्र वाजंता॥[177]

अतएव मान और ताल के पारस्परिक संबंधों को देखते हुए दोनों को किसी सीमा तक पर्यायवाची भी माना जा सकता है।

वेद द्वारा वर्णित चर्चरी नृत्य में प्रयुक्त रासताल और चर्चरीताल, गुजरात के लोकगीतों में व्यवहृत 'मान' और व्रज के वैष्णवों की पुष्टिमार्गीय सेवा पद्धति में आराध्य के शयनोपरांत गाए जाने वाले 'मान के पदों' में व्यवहृत त्रिताल और झूमरा तालों का चतुरावर्तनीय या चतुष्खंडीय होना यह सिद्ध करता है कि गान और नृत्य के साथ तालमान को चार विभागों के अनुसार प्रयोग करने की प्रथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोक में बहुत पुराने समय से चली आ रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि चतुरावर्तनीय या चतुष्खंडीय तालों का विकास मंडलाकार नृत्य की संगति के आधार पर हुआ होगा। क्योंकि चार या उससे गुण्य संख्याओं के अनुसार मंडलाकार रूप में पदविन्यास क्रिया सुविधापूर्ण होती है। संभवतः इसीलिए हर्षचरित के टीकाकार शंकर ने आठ, सोलह और बत्तीस[178] तथा शारदा तनय ने सोलह, बारह और आठ[179] नर्तकियों द्वारा रास नामक नृत्य करने का विधान बताया है। मंडली नृत्यों में रास सबसे प्राचीन नृत्य है।

वर्तमान कथक नृत्य की विकास-परंपरा भी रास से संबद्ध बताई जाती है। ठुमरी का गान और भावप्रदर्शन बहुत समय तक कथक नृत्य से संबद्ध रहा है।[180] इस नृत्य में व्यवहृत तालों में त्रिताल एक सर्वप्रमुख ताल के रूप में प्रतिष्ठित है। त्रिताल एक समविभागीय चतुष्खंडीय ताल है, जिसे बोलों की पुनरावृत्ति की दृष्टि से आदि या रास ताल का चतुरावर्तनीय स्वरूप भी कहा जा सकता है।

ठुमरी गीतों में भी चाँचर (दीपचंदी तथा जत), त्रिताल, सितारखानी, पंजाबी इत्यादि चार खंडों वाले तालों के व्यवहार की प्रधानता दिखाई पड़ती है और इनमें 'लग्गी' का प्रयोग भी चार खंडों के अनुसार ही किया जाता है। ठुमरी शैली के दादरा नामक गीतों में व्यवहृत दादरा और कहरवा तालों में यद्यपि दो ही खंड होते हैं, किंतु इनमें निबद्ध गीतों के प्रत्येक चरण इन तालों के दो या चार आवर्तनों के बराबर होते हैं। अतएव क्रियात्मक रूप में दादरा नामक गीतों में भी ताल का व्यवहार चार खंडों के अनुसार होता रहता है। उदाहरणार्थ भैरवी में निम्नलिखित तीन प्रसिद्ध दादरों की प्रथम पंक्ति प्रस्तुत है:

1. ताल दादरा

प	–	प	प	ध	नि	ध	–	पम	प	ग	ग
छां	ऽ	ड़	दे	ग	ल	बां	ऽ	हींऽ	श्या	ऽ	म
×			0			×			0		

2. ताल दादरा

									,	सा	रे
									,	गु	ल
म	– –	ग	गम	प	म	ग	रे	ग	रे	सा	-रे
ला	ऽ	ऽऽ	लोंऽ	ऽ	में	रा	ऽ	ऽ	धा	ऽ	ऽऽ
×			0			×			0		

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग	रे	ग	सा	रे	नि	सा	–	–	–,	सा	रे
प्या	ऽ	ऽ	री	ऽ	ब	सें	ऽ	ऽ	ऽ,	गु	ल
×			0			×			0		

3. ताल कहरवा

						नि									
प	–	प	–	–	–	ध	प	म	ग	रे	ग	म	–	म	–
वं	ऽ	सी	ऽ	ऽ	ऽ	[illegible]	ऽ	ऽ	क	ऽ	ब	जा	ऽ	ये	ऽ
0				×				0				×			
	म	प													
सा	ग	म	ध	प	म	ग	रे	ग	सा	रे	नि	सा	–	–	सा
ज	इ	यो	ऽ	ऽ	ऽ	नं	ऽ	ऽ	द	ऽ	कु	मा	ऽ	ऽ	र
0				×				0							

कभी कभी ठुमरी गीतों में रूपक, एकताल व आड़ाचौताल जैसे अचतुर्विभागीय तालों का व्यवहार भी दिखाई पड़ता है, किंतु उनकी संख्या बहुत कम है। अतएव उन्हें अपवाद ही समझना चाहिए। प्रधानता चतुर्विभागीय तालों की ही है। तालार्ध के वाद तृतीय विभाग के प्रारंभ में 'खाली' का प्रयोग, इन तालों की विशेषता है।

वेद द्वारा वर्णित चर्चरी नृत्य में व्यवहृत तालों, गुजरात के लोकनृत्यों और गीतों में व्यवहृत 'मान', व्रज में गाए जाने वाले पुष्टिमार्गीय पद्धति के 'मान के पदों' में व्यवहृत तालों, कथक नृत्य में व्यवहृत त्रिताल और ठुमरी गीतों में नृत्यात्मकता व उसमें त्रिताल, दीपचंदी, जत, सितारखानी, पंजाबी इत्यादि चतुरावर्तनीय या चतुर्विभागीय तालों की प्रधानता के पर्यवेक्षण से प्रमाणित होता है कि ये सब एक ही शृंखला की कड़ियाँ हैं। इतना ही नहीं अपितु चर्चरी नृत्य के साथ प्रयुक्त होने वाले शुष्क पाटाक्षरों[181] और वर्तमान ठुमरी में व्यवहृत होने वाले चतुर्विभागीय तालों के ठेकों की संरचना में भी परस्पर संबंध दिखाई पड़ता है।

लोकसंगीत के साथ अवनद्ध तालवाद्यों में ढोलक, नगाड़ा और वारांगनाओं के नृत्य-संगीत तथा ठुमरी गान में तबले का प्रयोग बहुत समय से होता आ रहा है। ये सभी दोनों हाथों से बजाए जाने वाले तालवाद्य हैं। इनमें दाहिना भाग प्रमुख और वायाँ भाग सहायक रूप में बजता है। इन वाद्यों में बजने वाली गूंजदार ध्वनियों को खुले बोल और गूंजरहित ध्वनियों को बंद बोल कहा जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ढोलक, नगाड़ा इत्यादि अवनद्ध वाद्यों में बजने वाला भाग अर्थात् 'पुड़ी' एक ही खाल की होती है, जिसे किनारे और बीच, दो स्थानों पर बजाया जाता है। उन्नत वाद्य होने के कारण तबले की पुड़ी में, मृदंग की भाँति, क्रमशः किनार या चाँट, लव और बीच की स्याही यह तीन भाग होते हैं। दाहिने तबले में विभिन्न पाटाक्षरों (बोलों) के 'निकास' के लिए इन तीनों भागों का उपयोग होता है, किंतु बाएँ तबले (डग्गे) में केवल बीच की स्याही और उसके आसापस का भाग ही व्यवहृत होता है, जिसमें केवल एक खुला बोल (ग) और एक बंद बोल (क या कत्) बजता है। ताल में निःशब्द क्रिया (खाली) वाले खंड में प्रायः दाहिना तबला ही व्यवहृत होता है, बायाँ नहीं बजता।

वेद द्वारा वर्णित चर्चरी नृत्य में व्यवहृत होने वाले ते ति गि ध पाटाक्षरों के विकास की कल्पना तबला, ढोलक आदि ताल वाद्यों में साधारणतया इस प्रकार होगी :

ते — दाहिने हाथ की तर्जनी से दाहिनी पुड़ी की किनार या चाँट पर खुला आघात (ता की भाँति)।

ति — दाहिने हाथ की तर्जनी से दाहिनी पुड़ी पर स्याही के किनारे खुला आघात (ती की भाँति), अथवा उसी स्थान पर मध्यमा से बंद आघात।

गि — बाएँ हाथ की हथेली और उँगलियों को फणाकृति में रखते हुए, तर्जनी से, अथवा मध्यमा और अनामिका से एक साथ, बाईं पुड़ी के मध्य खुला आघात (ग की भाँति)।

ध — 1. दाहिने हाथ से ता और बाएँ हाथ से ग की संयुक्त ध्वनि (धा की भाँति)।

2. दाहिने हाथ से ति और बाएँ हाथ से ग की संयुक्त ध्वनि (धि या धिं की भाँति)।

सुविधानुसार उच्चारण की दृष्टि से इनमें ते को ता या ना, ति को तिं या ती, और गि को ग, गे, घ, घि, घिं या घे भी कहा जा सकता है। अंतिम बोल ध के विकास की कल्पना, विभिन्न परिस्थितियों में धा, धि अथवा धिं के रूप में की जा सकती है।

पाटाक्षरों के उच्चारण और निकास के इन नियमों के अनुसार मध्यकालीन चर्चरी नृत्य में व्यवहृत होने वाले ते ति गि ध शब्दों के चतुरावर्तनीय स्वरूप में केवल किंचित क्रमिक परिवर्तन मात्र करने से ही ठुमरी के साथ व्यवहृत होने वाले सितारखानी, त्रिताल, पंजाबी और चाँचर इत्यादि चतुष्खंडीय तालों के ठेकों का वर्तमान स्वरूप प्राप्त हो जाता है, जैसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

1	2	3	4	1	2	3	4	1	2	3	4	1	2	3	4
ते	ति	गि	ध	ते	ति	गि	ध	ते	ति	गि	ध	ते	ति	गि	ध
ता	ति	ग	धा	ता	ति	ग	धा	ता	ति	ग	धा	ता	ति	ग	धा
ना	ति	ऽग	धा	ना	ति	ऽग	धा	ना	ति	ऽग	धा	ना	ति	ऽग	धा
1				1				1				1			

सोलहमात्रिक रासा छंद और उदीक्षण या पुराने त्रिताल के अनुरूप भरी और खाली के खंडों में अंतर स्पष्ट करने के लिए इस ठेके के भरी वाले खंडों में या तो केवल ति, अथवा ना और ति दोनों बोलों को बाएँ के खुले बोल की ध्वनि से संयुक्त करके भर देने पर निम्नलिखित रूप हो जाता है :

रासा छंद	ग	जे	ऽ	न्द्र	तु	रं	ऽ	ग	तु	रं	ऽ	ग	क	ऽ	णं	ऽ
उदीक्षण ताल	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	13	15	16
पुराना त्रिताल	13	14	15	16	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12
सितार खानी	ना	धि	ऽग	धा	ना	धि	ऽग	धा	ना	धि	ऽग	धा	ना	ति	ऽग	ता

अथवा

,,	धा	धि	ऽग	धा	धा	धि	ऽग	धा	धा	धि	ऽग	धा	ता	ति	ऽग	ता
	1				2				3				0			

सितारखानी ठेके का वर्तमान स्वरूप इस प्रकार है :

मात्रा	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
ठेका	ना	धि	ऽग	धा	ना	धि	ऽग	धा	ना	ति	ऽग	ता	ना	धि	ऽग	धा

अथवा

ठेका (प्रकारांतर)	धा	धि	ऽग	धा	धा	धि	ऽग	धा	ता	ति	ऽक	ता	धा	धि	ऽग	धा

अथवा

द्रुत ठेका	धा	धिं	ऽ	धा	धा	धिं	ऽ	धा	ता	तिं	ऽ	ता	धा	धिं	ऽ	धा
ताल चिह्न	×				2				0				3			

सितारखानी ठेके में बजने वाले बाएँ के बोल ग के साथ दाहिने बोल तिं की ध्वनि संयुक्त कर देने पर धिं होकर त्रिताल का ठेका बन जाता है, जैसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
सितारखानी	धा	धि	ऽग	धा	धा	धि	ऽग	धा	ता	ति	ऽक	ता	धा	धि	ऽग	धा
त्रिताल	धा	धिं	धिं	धा	धा	धिं	धिं	धा	ता	तिं	तिं	ता	धा	धिं	धिं	धा
तालचिह्न	×				2				0				3			

सितारखानी ठेके को ही बाएँ के बोलों से यथोचित रूप में भरते हुए विलंबित लय में बजाने पर पंजाबी ताल का ठेका बन जाता है, जैसे

	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
सितार-खानी	धा	धि	ऽग	धा	धा	धि	ऽग	धा	ता	ति	ऽक	ता	धा	धि	ऽग	धा
पंजाबी	धा	ऽधि	ऽग	धा	धा	ऽधि	ऽग	धा	ता	ऽति	ऽक	ता	धा	ऽधि	ऽग	धा
,,	धा	गधि	ऽग	धा	धा	गधि	ऽग	धा	ता	कति	ऽक	ता	धा	गधि	ऽग	धा
तालचिह्न	×				2				0				3			

द्रुत सितारखानी ठेके की आठवीं और सोलहवीं मात्रा पूर्णतया हटा देने पर चौदहमात्रिक तियमान चाँचर (दीपचंदी) का ठेका बन जाता है, जैसे

मात्राएँ	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
द्रुत सितार-खानी	धा	धिं	ऽ	: धा	धा	धिं	ऽ	: धा	ता	तिं	ऽ	: ता	धा	धिं	ऽ	: धा
तालचिह्न	×		:		2		:		0		:		3		:	

मात्राएँ	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14
चाँचर (चौदह-मात्रिक)	धा	धिं	ऽ	धा	धा	धिं	ऽ	ता	तिं	ऽ	धा	धा	धिं	ऽ
तालचिह्न	×			2				0			3			

चतुर्दशमात्रिक चाँचर के इस ठेके में सम की धा को द्विमात्रिक और खाली की ता को द्विमात्रिक कर देने पर सोलहमात्रिक यतिमान चाँचर (जत) का वर्तमान ठेका बन जाता है, जैसे

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
धा	ऽ	धिं	ऽ	धा	धा	धिं	ऽ	ता	ऽ	तिं	ऽ	धा	धा	धिं	ऽ
×				2				0				3			

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ते ति गि गि ध शब्दों से सितारखानी, त्रिताल, पंजाबी और चाँचर तालों के ठेके ही नहीं अपितु ठुमरी के साथ बजाए जाने वाली लग्गियों का स्वरूप भी प्रस्फुटित होता है। ते ति गि ध शब्दों का चतुरावर्तनीय प्रयोग, सुनने में स्वतः लग्गी जैसा ही लगता है। अतएव इससे वर्तमान प्रचलित 'लग्गी' के संबंध और क्रमिक विकास का अनुमान इस प्रकार होता है :

1	2	3	4	1	2	3	4	1	2	3	4	1	2	3	4
ते	ति	गि	ध	ते	ति	गि	ध	ते	ति	गि	ध	ते	ति	गि	ध
ता	ति	ग	धि	ता	ति	ग	धि	ता	ति	ग	धि	ता	ति	ग	धि
ना	ति	ग	धि	ना	ति	ग	धि	ना	ति	ग	धि	ना	ति	ग	धि
ना	धि	ग	धि	ना	धि	ग	धि	ना	धि	ग	धि	ना	धि	ग	धि
×				×				×				×			

सोलहमात्रिक चतुष्खंडीय तालों की ठुमरी के साथ प्रयुक्त होने पर, लग्गी के बोलों में भी भरी और खाली के अनुसार भेद हो जाता है, जैसे

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
ना	धि	ग	धि	ना	धि	ग	धि	ना	ति	क	ति	ना	धि	ग	धि
×				2				0				3			

वर्तमान समय में यह लग्गी बहुत प्रचलित है। इसका प्रयोग लोकसंगीत में भी बहुत दिखाई पड़ता है मूलतः यह लग्गी चार मात्राओं की है, किंतु बोलों को उलट-पुलटकर बजाने पर यह आठ मात्राओं की हो जाती है, जैसे

1	2	3	4	5	6	7	8
ना	धि	ग	धि	ग	धि	ना	ति
×				2			

लोकवाद्य नगाड़े की वादन प्रक्रिया के अनुसार इस लग्गी का निम्नलिखित रूप होता है :

1	2	3	4	5	6	7	8
ना	धि	ग	धि	ग	धि	ना	ड़ा
×				2			

तबला वादन शैली का विकास प्रमुखतया दिल्ली से माने जाने के कारण 'दिल्ली बाज' प्रायः मूल बाज समझा जाता है। इसलिए तबला-वादन में इसका प्रमुख और महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस बाज के अनुसार 'ना ति' और 'ना ड़ा' में कोई भेद नहीं है और दोनों का 'निकास' एक जैसा ही है।

लग्गियों के प्रयोग में 'बनारसी बाज'-भी अत्यंत प्रसिद्ध है। 'बनारसी बाज'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में 'ना ड़ा' का 'निकास' 'ना ना' की भाँति होता है। 'ना ड़ा' का यह प्रयोग, संभवत: नगाड़ा आदि लोकवाद्यों की निकास-प्रक्रिया से प्रभावित है।

सोलहमात्रिक तालों में प्रयोग के अनुसार दूसरी लग्गी का रूप निम्नलिखित हो जाता है :

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
ना	धि	ग	धि	ग	धि	ना	ड़ा	ना	ति	क	ति	ग	खि	ना	ड़ा
×				2				0				3			

अथवा

धा	धि	ग	धि	ग	धि	ना	ड़ा	ता	ति	क	ति	ग	धिं	ना	ड़ा
×				2				0				3			

इस प्रकार वेद द्वारा वर्णित चर्चरी नृत्य में व्यवहृत अक्षरों, गुजराती लोक-नृत्यों और गीतों में व्यवहृत मान तथा व्रज के पुष्टिमार्गीय मान के पदों में व्यवहृत तालों से वर्तमान तालों के स्वरूप का परस्पर संबंध दिखाई पड़ता है। अतएव ऐसा ज्ञात होता है कि चर्चरी नृत्य-गीतों में व्यवहृत तालों का ही उत्तरोत्तर विकास लोक-संगीत की परंपरा में होते हुए वर्तमान चाँचर और ठुमरी में प्रयुक्त तालों तक पहुँचा है।

भारतीय संस्कृति में वसंतोत्सव शृंगार और आनंद का प्रधान पर्व है। इसीलिए इसे संस्कृत ग्रंथों में कुसुमायुधपर्व या मदनमहोत्सव भी कहा गया है। इस अवसर पर गाए जाने के कारण चर्चरी नृत्य-गीत भी स्वभावत: प्रेम और शृंगार से भरपूर होते हैं। प्राय: इनमें वसंतोत्सव और होली की क्रीड़ाओं का वर्णन रहता है। वर्तमान चाँचर में भी यह प्रथा दिखाई पड़ती है। परंतु ऐसे भी अनेक चर्चरी गीत मिलते हैं जिनमें वसंत या होली का वर्णन नहीं रहता। उदाहरणार्थ गुजरात प्रदेश में गरबा नृत्य के साथ गाया जाने वाला चर्चरी गीत प्रस्तुत है जिसमें वसंतोत्सव का कोई वर्णन नहीं है :

चर्चरी, तियमान (दीपचंदी)

स्थायी

गगने आज प्रेम नीं झलक छाई रे ॥

अंतरा

मन प्रेम देह प्रेम भक्ति प्रेम ब्रह्म प्रेम ।
प्रेम नीं भरति आवि रे ॥ गगने०[183]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वरलिपि

स्थायी

												धप	प
												गऽ	ग
													सा
म॒	ग	–	म	–	ग	म	मग	ग	–	रे	–	–ग	सा
ने	ऽ	ऽ	आ	ऽ	ज	ऽ	प्रे।	म	ऽ	नीं	ऽ	ऽऽ	झ
0			3				×			2			
रे	ग	–	म	–	प	म	प	–	–	ग	-म,	निप	प
ल	क	ऽ	छा	ऽ	ऽ	ई	रे	ऽ	ऽ	ऽ	ऽऽ,	गऽ	ग
0			3				×			2			

अंतरा

ग	म	–	प	–	ध	–	नी	नी	–	सां	–	सां	–
म	न	ऽ	प्रे	ऽ	म	ऽ	दे	ह	ऽ	प्रे	ऽ	म	ऽ
×			2				0			3			
नि	नि	–	सां	–	निसां	रें	सांनि	नि	–	धप	ध	प	–
भ	क्त	ऽ	प्रे	ऽ	मऽ	ऽ	ब्र ऽ	म्ह	ऽ	प्रेऽ	ऽ	म	ऽ
×			2				0			3			
ग	म	–	पध	निसां	–	नि	ध	प	–	प	–	ध	म
प्रे	म	ऽ	नीऽ	ऽऽ	ऽ	भ	र	ति	ऽ	आ	ऽ	ऽ	वि
×			2				0			3			
प	–	–	ग	-म,	नि	प	म	ग	–	म	–	ग	म
रे	ऽ	ऽ	ऽ	ऽऽ,	ग	ग	ने	ऽ	ऽ	आ	ऽ	ज	ऽ
×			2				0			3			

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसी प्रकार चर्चरी के एक भेद होरी (धमार) को भी यद्यपि होली-वर्णन से युक्त बताया जाता है, परंतु ऐसी भी अनेक पुरानी होरियाँ (धमारें) मिलती हैं जिनमें होली-क्रीड़ा का वर्णन आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिए परंपरागत रूप में राग नायकी कानड़ा में गाए जाने वाले एक प्रसिद्ध धमार के बोल इस प्रकार हैं :

स्थायी

ए मध मंडल निरतत कन्हैया।
ग्रीव डोले दृगन लोले कपोल गोले,
कुंडलन की झलक ।। ए मध मंडल...

अंतरा

जो देखे सो रीझि रहत है,
ताल तानन की झमक ।। ए मध मंडल[183]...

इससे प्रतीत होता है कि वसंतोत्सव या होली-क्रीड़ा वर्णन से युक्त चर्चरियों के गान और नृत्यादि का प्रदर्शन रूढ़ होकर केवल वसंतऋतु या होली पर्व तक ही सीमित रह गया और जिन चर्चरियों में ऐसा न था उनका प्रदर्शन प्रायः अन्य आनंदपूर्ण अवसरों पर भी होता रहा। ब्रज के अहीरों में विवाह के अवसर पर होने वाले चाँचरि नृत्य और गान से इसकी पुष्टि होती है। वर्तमान होली (चाँचर) और ठुमरी (चाँचर) की अनेक बंदिशों के विश्लेषण से यह बात सिद्ध होती है कि वर्ण्य विषय के अतिरिक्त दोनों का शेष स्वरूप एक समान है। उदाहरणार्थ होली (चाँचर) और ठुमरी (चाँचर) की तीन पुरानी, प्रचलित व प्रसिद्ध बंदिशें प्रस्तुत हैं जिनके काव्य में वर्ण्य विषय की भिन्नता होते हुए भी उनकी सांगीतिक रचना प्रायः एक समान है :

होली—राग खमाज (चाँचर-दीपचंदी, 14 मात्रा)

स्थायी

होरी खेलत मोसे नई रे नई अब।
का भयो ननदी अनोखे पिया सों ।।

अंतरा

बरजोरी कर मोरी बैयाँ गहत है।
अपनी कहत और कछु न सुनत है।
आज लाज मोरी गई रे गई रे ।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

स्वरलिपि

स्थायी

सा	–	–	ग	–	–	ग	म	म	–	ग	म	प	ध
हो	ऽ	ऽ	री	ऽ	ऽ	खे	ल	त	ऽ	ऽ	ऽ	मो	से
×			2				0			3			
													प
नि	नि	–	सां	–	–	-रें	सां	(सां)	–	नि॒	–	ध	ध
न	ई	ऽ	रे	ऽ	ऽ	ऽन	ई	ऽ	ऽ	अ	ऽ	व	ऽ
×			2				0			3			
							सां ध						
नि	–	–	सां	–	सा	–	ध	सां	–	नि॒	–	ध	प
का	ऽ	ऽ	भ	ऽ	यो	ऽ	न	न	ऽ	दी	ऽ	ऽ	अ
×			2				0			3			
							ध						
ग	–	म	प	–	–	ध	ग	–	म	ग	–	–	–
नो	ऽ	ऽ	खे	ऽ	ऽ	पि	या	ऽ	ऽ	सों	ऽ	ऽ	ऽ
×			2				0			3			

अंतरा

			म										
म	ग	म	नि॒	ध	–	नि	सां	सां	नि	सां	–	सां	–
ब	र	ऽ	जो	ऽ	ऽ	री	क	र	ऽ	मो	ऽ	री	ऽ
×			2				0			3			
नि	नि	–	सां	–	–	सां	सां	नि	सां	नि॒	–	ध	–
ब	हि	ऽ	यां	ऽ	ऽ	ग	ह	त	ऽ	हैं	ऽ	ऽ	ऽ
×			2				0			3			
म	ग	म	प	–	–	ध	नि	नी	–	सां	–	सां	–
अ	प	ऽ	नी	ऽ	ऽ	क	ह	त	ऽ	औ	ऽ	र	ऽ
×			2				0			3			
नि	नि	–	सां	–	–	सां	नि	सां	–	नि॒	–	ध	–
क	छु	ऽ	ना	ऽ	ऽ	सु	न	त	ऽ	हैं	ऽ	ऽ	ऽ
×			2				0			3			

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

								ध					
नि	–	–	सां	–	–	सां	ध	सां	–	नि̲	–	ध	प
आ	ऽ	ऽ	ज	ऽ	ऽ	ला	ऽ	ज	ऽ	मो	ऽ	री	ऽ
×			2				0			3			
ग	म	–	प	–	–	ध	ग	–	म	ग	–	–	–
ग	ई	ऽ	रे	ऽ	ऽ	ग	ई	ऽ	ऽ	रे	ऽ	ऽ	ऽ
×			2				0			3			

निम्नलिखित ठुमरी (चाँचर) भी उक्त स्वरावलियों में ही निबद्ध है :

ठुमरी-खमाज (चाँचर-दीपचंदी, 14 मात्रा)

स्थायी

जावो कदर नाहिं बोलो हम से।
हम से बहुतेरे तुमरे दम से॥

अंतरा

झूठी लगावत मोहे नाहीं भावत।
हो हरजाई तुमतो जनम से॥

स्वरलिपि

स्थायी

सा	–	–	ग	–	–	ग	म	म	–	ग	म	प	ध
जा	ऽ	ऽ	वो	ऽ	ऽ	क	द	र	ऽ	ऽ	ऽ	ना	हीं
×			2				0			3			
													प
नी	–	–	सां	–	–	-रें	सां	(सा)	–	नि̲	–	ध	ध
बो	ऽ	ऽ	लो	ऽ	ऽ	ऽऽ	ह	म	–	से	ऽ	ऽ	ऽ
×			2				0			3			
							सां	ध					
नि	–	–	सां	–	सां	सां	ध	सां	-	नि̲	–	ध	–
हम्	ऽ	ऽ	से	ऽ	ब	हु	ते	ऽ	ऽ	रे	ऽ	ऽ	ऽ
×			2				0			3			

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

प ग म —	प — — ध	ग म —	ग — — —
तु म ऽ	रे ऽ ऽ ऽ	द म ऽ	से ऽ ऽ ऽ
×	2	0	3

अंतरा

म ग म	नि̱ ध — नि	सां — नि	सां — सां —
झू ऽ ऽ	ठी ऽ ऽ ल	गा ऽ ऽ	व ऽ त ऽ
×	2	0	3
नि नि —	सां — सां —	सां नि सां	नि̱ — ध —
मो हे ऽ	ना ऽ ही ऽ	मा ऽ ऽ	व ऽ त ऽ
×	2	0	3
नि — —	सां — सां —	सां ध ध सां —	नि̱ — ध —
हो ऽ ऽ	ह ऽ र ऽ	जा ऽ ऽ	ई ऽ ऽ ऽ
×	2	0	3
प ग म —	प — — ध	ग म —	ग — — —
तु म ऽ	तो ऽ ऽ ज	न म ऽ	से ऽ ऽ ऽ
×	2	0	3

इसी प्रकार निम्नलिखित ठुमरी (चाँचर) भी इन्हीं स्वरावलियों में निबद्ध है :

ठुमरी-खमाज (चाँचर-दीपचन्दी, 14 मात्रा)

स्थायी

परदेशवा जिन जइयो रे,
पानन छाई पनवरिया भँवर ।

अंतरा

काहे की तेरी नाव नवरिया ।
काहे का तेरा बासा ।
तेरा राखनहार बताये भँवर ।।

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वरलिपि

स्थायी

[ग]सा	सा	–	ग	–	–	ग	म	–	–	ग	म	प	ध
प	र	ऽ	दे	ऽ	ऽ	स	वा	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	जि	न
×			2				0			3			
नि	–	–	सा	–	–	-रें	सां	(सां)	–	नि̲	–	ध	[प]ध
ज	ऽ	ऽ	ई	ऽ	ऽ	ऽऽ	यो	ऽ	ऽ	रे	ऽ	ऽ	ऽ
×			2				0			3			
नि	–	–	सां	–	सां	–	[सां]ध	[ध]सां	–	नि̲	–	ध	प
पा	ऽ	ऽ	न	ऽ	न	ऽ	छा	ऽ	ऽ	ई	ऽ	प	न
×			2				0			3			
ग	म	–	प	–	–	ध	ग	म	–	ग	–	–	ग
व	रि	ऽ	या	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	मँ	ऽ	व	ऽ	ऽ	र
×			2				0			3			

अंतरा

म	ग	म	नि̲	–	ध	नि	सां	–	नि	सां	–	सां	–
का	ऽ	ऽ	हे	ऽ	ऽ	ऽ	की	ऽ	ऽ	ते	ऽ	री	ऽ
×			2				0			3			
नि	–	–	सां	–	सां	–	सां	नि	सां	नि̲	–	ध	–
ना	ऽ	ऽ	व	ऽ	न	ऽ	व	रि	ऽ	या	ऽ	ऽ	ऽ
×			2				0			3			
म	ग	म	प	–	–	ध	नि	–	–	सां	–	सां	–
का	ऽ	ऽ	हे	ऽ	ऽ	ऽ	का	ऽ	ऽ	ते	ऽ	रा	ऽ
×			2				0			3			
नि	–	–	सां	–	–	–	नि	सां	–	नि̲	–	ध	[प]ध
बा	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	सा	ऽ	ऽ	ते	ऽ	रा	ऽ
×			2				0			3			

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

							सां	ध					
नि	–	–	सां	–	सां	–	ध	सां	–	नि	–	ध	प
रा	ऽ	ऽ	ख	ऽ	न	ऽ	हा	ऽ	ऽ	र	ऽ	ऽ	ब
×			2				0			3			
ग	–	म	प	–	–	ध	ग	म	–	ग	–	–	ग
ता	ऽ	ऽ	ये	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	मैं	ऽ	व	ऽ	ऽ	र
×			0				0			3			

उक्त ठुमरी को लोग सोलहमात्रिक चाँचर में भी गाते हैं, जिसमें स्वररचना की रूपरेखा पूर्वोक्त होली (चाँचर) के ही सदृश्य रहती है। केवल ताल और उसके अनुसार गीत के वज़न में परिवर्तन हो जाता है।

यद्यपि उपरोक्त तीनों बंदिशों में बोलों के उच्चारण के अनुसार स्वरलिपि में परस्पर कहीं-कहीं यत्किंचित परिवर्तन दिखाई पड़ता है, तथापि तीनों की मूल सांगीतिक संरचना बिलकुल एक ही है। अतएव इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि होली और ठुमरी में मुख्यभेद दोनों के काव्य में वर्णित विषय ही है, अन्यथा स्वर-रचना और गानशैली के अनुसार दोनों एक हैं। इस आधार पर यह सिद्ध होता है कि वसंत और होली-वर्णन से युक्त चर्चरी (चाँचर) गीत केवल वसंत ऋतु, फाल्गुन मास तथा होली पर्व तक ही सीमित रहकर होली या होरी नाम से अभिहित होते रहे और ठुमरी का उद्भव ऐसे चर्चरी नृत्य गीतों से हुआ, जिनका वर्ण्य विषय केवल वसंत और होली तक ही सीमित न रहा। अतएव इन गीतों का नृत्याभिनय सहित गान और प्रदर्शन हर्ष और उल्लास के अन्य अवसरों पर भी होता रहा।

चर्चरी और रास से ठुमरी का उद्गम्

चर्चरी का गान और नृत्य मूलतः रास से संबद्ध है। चौदहवीं शताब्दी में आंध्र के महाराजा वेम ने चर्चरी को रासक का एक भेद बताया है। उनका कथन है :

रासकस्य प्रभेदास्तु रासकं नाट्यरासकं चर्चरीत्रितयः प्रोक्ताः।[184]

इसी प्रकार तेरहवीं शताब्दी (सन् 1238) में उपदेश रसायन रास के वृत्तिकार जिनपालोपाध्याय के अनुसार चर्चरी और रासक एक ही है :

चर्चरी-रासकप्रख्ये प्रबन्धे प्राकृते किल।[185]

अतएव चर्चरी और रासक की इस संबद्धता से ठुमरी गान का मूल उद्गम् रासक तक पहुँचता है।

रासक शब्द रास में कन् प्रत्यय लगकर बना है, जो आगे चलकर रासक>रासअ>रासा और रासक>रासअ>रासउ>रासो के रूप में विकसित हुआ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अतएव मूलतः रास, रासक, रासा और रासो—ये सभी एकार्थवाची शब्द हैं। 'रास' शब्द के मूल में रस पोषक तत्त्व है। इसीलिए अधिकांश विद्वानों ने विष्णुयामल में दी गई रास की परिभाषा रसानां समूहो रासः को उपयुक्त मानते हुए स्वीकार किया है।

रास की परंपरा इस देश में बड़ी प्राचीन है। इसका प्रादुर्भाव आज से कई सहस्र वर्ष पूर्व एक मंडलाकार लोक-नृत्य के रूप में हुआ था। स्वर्गीय डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार तो ऋग्वेद के प्रस्तुत श्लोक से रासनृत्य की लोक-परंपरा का दर्शन संस्कृति के आरंभ से ही मिलता है :

यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरजायत॥
(ऋ० 10/72/6)

'अर्थात् सृष्टि के आरंभ में एक महान सलिल-समुद्र था। उसमें देवता एक-दूसरे से हाथ मिलाकर (सुसंरब्धा=शृंखला बांधकर) ठहरे हुए थे। उनके नृत्य या तालबंध चरणक्षोभ से जो तीव्र धूल छा गई, वही यह विश्व है।'—अर्थात् ऐसा नृत्य जिसमें कई नर्तक परस्पर छंदोमय भाव से नृत्य करते हुए चरणों के ताल से रेणु का उत्थापन करें। यह वर्णन रास संज्ञक मंडली नृत्य या सावर्तचरण-संचालन की ओर ही संकेत करता जान पड़ता है।[186]

इस पृथ्वी पर रासनृत्य का प्रारंभ भगवान श्रीकृष्ण से माना जाता है। स्वर्गीय कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का मत है कि 'रासनृत्य को आधृत मानकर भारोपीय काल का जनसाहित्य निर्मित हुआ। नरनारी शृंगारप्रधान उन काव्यों का गान करते हुए उपयुक्त ताल, लय एवं गति के साथ मंडलाकार नृत्य करते थे। कभी केवल पुरुष कभी केवल स्त्रियां इस नृत्य में भाग लेतीं। इस नृत्य के मूल प्रवर्तक श्रीकृष्ण मथुरा राज्य के निवासी थे। जिन्होंने ईसा से शताब्दियों पूर्व इस नृत्य को गोप समाज में प्रचलित किया। वृष्णि, सात्वत, आभीर आदि जातियों ने इस नेता की आराधना की और रास को धर्मोन्मुखी नृत्य के पद पर प्रतिष्ठित किया।[187]

रासनृत्य और उसके साथ व्यवहृत संगीत के स्वरूप का प्राचीनतम उल्लेख सर्वप्रथम हरिवंश पुराण में मिलता है। महाभारत का खिल पर्व ही हरिवंश पुराण है, जो कि महाभारत का परिशिष्ट अंश है। हरिवंश पुराण का समय ईसा की दूसरी शताब्दी के लगभग है।[188] इससे ज्ञात होता है कि रासनृत्य का प्रवर्तन ईसा से बहुत पहले ही संपन्न हो चुका था।

हरिवंश पुराण के विष्णुपर्व में छालिक्यक्रीडा-वर्णन नामक 89वें अध्याय के अंतर्गत रास और हल्लीसक दोनों का उल्लेख मंडली नृत्य के रूप में मिलता है।[189] दोनों के लक्षण परस्पर बहुत समान हैं और दोनों का उल्लेख छालिक्यक्रीडा के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अंतर्गत किया गया है। भोज ने भी विशेष तालबंध युक्त हल्लीसक को ही रास कहा है, जैसे

तदिदं हल्लीसकमेव तालबन्धविशेषयुक्तं रास एवेत्युच्यते ।[190]
(सरस्वतीकंठाभरण, पृ० 264)

इससे स्पष्ट है कि रासनृत्य हल्लीसक का ही एक भेद था। संभव है कि पहले दोनों के स्वरूप में कुछ भेद रहा भी हो तो वह इतना नगण्य था कि आगे चलकर हल्लीसक और रास को एक ही समझा जाने ग और दोनों का अंतर्भाव रास के अंतर्गत ही हो गया।

हरिवंश पुराण में हल्ल सक नृत्य के साथ वाद्य-सहित गीत-विधान के रूप में प्रयुक्त संगीत को छालिक्य गांधर्व कहा गया है, जिसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है :

आज्ञापयामास ततः स तस्यां निशि प्रहृष्टो भगवानुपेन्द्रः ।
छालिक्यगेयं बहुसन्निधानं यदेवगांधर्वमुदाहरन्ति ।।67।।
जग्राह वीणामथ नारदस्तु षड्जग्रामरागादिसमाधियुक्ताम् ।
हल्लीसकं तु स्वयमेव कृष्णः सवंशघोषं नरदेव पार्थः ।।68।।
मृदंगवाद्यानपरांश्च वाद्यान्वराप्सरास्ता जगृहुः प्रतीताः ।
आसारितां ते च ततः प्रतीता रम्भोत्थिता साभिनयार्थतज्ज्ञा ।।69।।[191]

हल्लीसक और रास, दोनों एक ही नृत्यभेद समझे जाने के कारण छालिक्य गांधर्व भी एक प्रकार का रास संगीत ही सिद्ध होता है। प्रमाणों के अभाव में छालिक्य गांधर्व के लक्षणों के संबंध में यद्यपि पूर्ण रूप से कुछ कहना कठिन है, फिर भी प्राप्त उल्लेखों के आधार पर किसी अंश तक उसका अनुमान किया जा सकता है।

छालिक्य को हरिवंश पुराण में गांधर्व कहा गया है ।[192] प्राचीन संगीत के गांधर्व और गान इन दो भेदों में से 'गांधर्व' को गंधर्वों द्वारा व्यवहृत, अनादि संप्रदाय से चले आए नियत श्रेयस वाला[193], और 'गान' को वाग्गेयकारों द्वारा रचित जन-मन-रंजक संगीत कहा गया है ।[194] 'गांधर्व' को वेद सम्मत अपौरुषेय और 'गान' को पौरुषेय माना गया है। दोनों का उद्देश्य भी भिन्न समझा जाता था। अपौरुषेय गांधर्व का उद्देश्य आध्यात्मिक और मानवकृत गान का उद्देश्य लोकरंजन था। परंतु हरिवंश पुराण के निम्नलिखित उद्धरण से संकेत मिलता है कि उस समय संगीत की वैदिक और लौकिक दो धाराएँ समानांतर रूप से प्रवाहित हो रही थीं और गांधर्व की गणना लौकिक संगीत के अंतर्गत होती थी[195]—

गानंप्रभाषं संचक्रे गन्धर्वाणामशेषतः ।
(हरिवंशः, भविष्यपर्व (20), श्लोकांक 9)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हरिवंश के टीकाकार नीलकंठ ने भी इसी तथ्य का उद्घाटन निम्नलिखित शब्दों में किया है :

"गानं प्रभाष्यते व्युत्पाद्यते नेनेति गानप्रभाषं गान्धर्व-शास्त्रं।"

(नीलकंठ, भारतभावदीप:, हरिवंश, भविष्यपर्व (20), श्लोकांक 9 की टीका)

अतएव प्रतीत होता है कि तत्कालीन युग में गांधर्व लोकरंजक संगीत के रूप में प्रचलित था। अनुमानत: उसे आध्यात्मिक संगीत का स्थान परवर्ती काल में प्राप्त हुआ होगा।

हरिवंश पुराण के 89वें अध्याय में बलराम तथा रेवती मिलन के उपलक्ष्य के वारांगनाओं द्वारा गांधर्व प्रदर्शित किए जाने का उल्लेख है।[196] गंगावतरण की कथावस्तु पर आधारित, गांधारग्राम में गाये जाने वाले आसारित गीत से युक्त देवगांधार नामक छालिक्य को भीम जाति की स्त्रियों द्वारा गाए जाने का उल्लेख भी 93वें अध्याय में मिलता है, जैसे

"भैमापि बद्धनेपथ्या नटवेषधरास्तथा।
कार्यार्थि भीमकर्माणो नृत्यार्थमुपचक्रमुः ॥21॥

ततो घनं ससुषिरं मुरजानकभूषितम्।
तन्त्रीस्वरगणैर्विद्धानातोद्यातन्ववादयन् ॥22॥

ततस्तु देवगान्धारं छालिक्यं श्रवणामृतम्।
भैमस्त्रियः प्रजगिरे मनः श्रोतृसुखावहम् ॥23॥

आगान्धारग्रामरागं गंगावतरणं तथा।
विद्धमासारितं रम्यं जगिरे स्वरसम्पदा ॥24॥

लयतालसमं श्रुत्वा गंगावतरणं शुभम्।
असुरांस्तोषयामास उत्थायोत्थाय भारत ॥25॥"

(हरिवंश, वज्रनाभपुरे प्रद्युम्नप्रवेशः)

इससे सिद्ध होता है कि छालिक्य गांधर्व के प्रयोग में वारांगनाओं और स्त्रियों का प्रमुख योग था। एक स्थान पर गंगावतरण के कथानक सहित और दूसरे स्थल पर हल्लीसक नृत्य के साथ छालिक्य गांधर्व का प्रयोग किए जाने से ज्ञात होता है कि छालिक्य गांधर्व के साथ अभिनय का प्रयोग भी आवश्यक था। भोज, कालिदास और वात्सायन के छलिक, छलित और छलितक विषयक कथनों से भी इसकी पुष्टि होती है।[197]

संस्कृत ग्रंथों में उल्लिखित छलिक, छलित तथा छलितक इत्यादि शब्द छालिक्य के ही पर्याय हैं, जिनके मूल में 'छल' शब्द विद्यमान है। साधारणतया छल शब्द का अर्थ धोखा, दिखावा या बहाना[198] आदि होता है, जिसमें अपने मनोभाव छिपाकर अन्य किसी भाव या वस्तु की प्रतीति कराने की प्रवृत्ति रहती

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। नाट्य या नृत्य प्रदर्शन में पात्र या नर्तकी भी दर्शकों से अपने यथार्थ मनोभावों को छिपाकर अन्य भावों का दिखावा करते हैं। अभिनय द्वारा अनुपस्थित भावों की उपस्थिति अर्थात् मिथ्या की यथार्थ जैसी अनुभूति कराना भी दर्शकों से छल करना ही है। इस दृष्टिकोण के अनुसार छल शब्द से अभिनय करने का लाक्षणिक अर्थ भी निकलता है। इसीलिए छलिक को नर्तक या नाट्य व नृत्य का एक भेद कहा गया है[199] और इसे छलाभिनय तथा छद्मयुक्त बताया गया है।[200] भगवान कृष्ण को भी अभिनयप्रवीण 'नटवर' होने के कारण, 'छल बल' करने वाला 'छलिया' कहा गया है। वारांगनाओं का हावभाव दिखाकर छलने वाला छलनामय रूप तो लोकविश्रुत है ही।

भोज के अनुसार छलिक, नर्तकी द्वारा पदार्थाभिनय सहित ललित (मध्य) लय में किया जाने वाला नर्तनक (नाच) का विशेष भेद है।[201] इस छलिक या छलित में रति, क्रोध, उत्साह आदि भावों और शृंगार तथा वीर रस की प्रधानता रहती है।[202] कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र नाटक में मालविका द्वारा गीत प्रस्तुतीकरण के संदर्भ में छलिक शब्द को नृत्याभिनययुक्त संगीत के अर्थ में प्रयोग किया है।[203] वात्सायन के कामसूत्र में कुमारिकाओं और वारांगनाओं के लिए निर्दिष्ट चौंसठ कलाओं में छलितक की गणना की गई है।

इन सब उल्लेखों से यह निष्कर्ष निकलता है कि हरिवंश पुराण में उल्लिखित छालिक्य गांधर्व का गान और प्रदर्शन तत्कालीन युग में विशेषकर स्त्रियों और वारांगनाओं द्वारा नृत्याभिनय सहित किया जाता था। कालांतर में हरिवंश पुराण के हल्लीसक का अंतर्भाव रास नृत्य में होने पर छालिक्य गांधर्व की परंपरा भी राससंगीत के रूप में प्रस्फुटित हुई।

रास का सबसे प्राचीन प्रयोग एक मंडलाकार नृत्य विशेष के लिए है। भावाभिव्यक्ति के लिए केवल मूक नृत्य पर्याप्त नहीं है। अतः भावों की अभिव्यक्ति के लिए नृत्य में गान और अभिनय भी होना आवश्यक है। नृत्य का यह स्वरूप हमें कृष्णचरित-संबंधी वैष्णव रास में दिखाई पड़ता है, जिसमें काव्य, गान, वाद्य और नृत्याभिनय का मधुर समन्वय है। इस रास का विशद वर्णन विष्णु, ब्रह्म, भागवत और ब्रह्मवैवर्त इत्यादि पुराणों में मिलता है। इनमें श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध में वर्णित रास, कृष्णभक्त वैष्णवों का सबसे बड़ा प्रेरणा-स्रोत है। इसके 29 से 33वें अर्थात् पांच अध्यायों में रास का विशद वर्णन है, जिन्हें रास पंचाध्यायी कहा जाता है। इस रास पंचाध्यायी के आधार पर ही सोलहवीं शताब्दी में कृष्णभक्त संतों द्वारा रासलीला का पुनरुत्थान किया गया,[204] जिसमें वर्णित कृष्णचरित्र-विषयक कथावस्तु से उत्तरभारतीय संगीत के ध्रुवपद, धमार, ख्याल, ठुमरी आदि गीत-प्रभेद और कथक नृत्य काफ़ी हद तक प्रभावित हैं।

रास मूलतः एक लोकनृत्य था, जिसको सर्वप्रथम भगवान श्रीकृष्ण द्वारा शरदपूर्णिमा की रात्रि में ब्रज की गोपियों सहित प्रयोग किए जाने का उल्लेख

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुराणों में मिलता है। आगे चलकर ब्रज के इस रास का सौराष्ट्र (गुजरात), उत्कल (उड़ीसा), मिथिला (बिहार), बंगाल तथा कामरूप (आसाम) तक व्यापक प्रचार हुआ, जिसका प्रभाव आज भी गुजरात के गरबा तथा रास नृत्य; उड़ीसा के जगन्नाथ पुरी तीर्थ में देव प्रतिमा के समक्ष किए जाने वाले, जयदेव कवि के पदों पर आधारित उड़ीसी नृत्य; मिथिला तथा बंगाल के वैष्णवों की पदावली और कीर्तनों में वर्णित रास तथा आसाम के मणिपुरी नृत्य शैली के रासनृत्य में परिलक्षित होता है। यही नहीं, परवर्ती संगीत, काव्य, नाट्य, चित्र और मूर्ति इत्यादि ललित कलाएँ भी रास के विषयों से अनुप्राणित हुईं और रास में प्रयुक्त गीत, वाद्य, नृत्य तथा अभिनय आदि अंशों का विकास कालांतर में संगीत, काव्य, नाट्य इत्यादि की विविध श्रव्य और दृश्य विधाओं के रूप में हुआ। जिसका प्रमाण संस्कृत नाटकों के रास, चर्चरी आदि नृत्यों, जैन और राजपूतों के अपभ्रंश तथा डिंगल साहित्य में रास, रासक, रासा, रासो, चर्चरी इत्यादि काव्यों और उनके छंदों तथा भरत के नाट्यशास्त्र में वर्णित रासक उपरूपक से मिलता है।[205] रास के इन विविध रूपों के समानांतर ही रास का गान, वाद्य, नृत्याभिनय समन्वित रूप भी लोक-संगीत की परंपरा में बराबर चलता रहा।

डॉ० दशरथ ओझा कहते हैं, "रासक में रस का मिश्रण अनिवार्य है। इसे पूर्ण बनाने के लिए संगीत और सरस पदों की निर्मिति आवश्यक मानी जाती है"।[206] प्रो० म० रं० मजुमदार का मत है कि रास में नर्तकियों का प्राधान्य होता है। विभिन्न रागों में गाते हुए साथ में नर्तकियों का नाचना, रास की विशेषता है।[207] अतः गीतों के साथ नृत्य किया जाना, रास की प्रमुख विशेषता है।

बाणभट्ट कृत हर्षचरित में हर्ष के जन्मोत्सव पर स्त्रियों और वारविलासिनियों द्वारा 'अश्लील रासक पद' गाये जाने का उल्लेख मिलता है।[208] टीकाकार शंकर कवि के अनुसार 'अश्लील रासक पदों' से अश्लील ग्राम्यगीतों का तात्पर्य है।[209] इससे पता चलता है कि उस काल में भी रासक गान में स्त्रियों और वारांगनाओं की प्रधानता थी। वर्तमान युग में उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, हरियाणा आदि प्रदेशों के ग्रामीण अंचलों में पुत्र जन्मोत्सव तथा विवाहादि सुअवसरों पर ग्राम्य स्त्रियों तथा वारांगनाओं द्वारा गारी (गाली) या सीठन इत्यादि अश्लील ग्राम्यगीत गाए जाने की प्रथा है। संभवतः ऐसे ही गीतों को हर्ष के युग में 'अश्लील रासक पद' कहा जाता रहा होगा।

इससे यह भी पता चलता है कि हर्ष के समय तक रास और उसका संगीत जनजीवन में इतना घुलमिल गया था कि नृत्याभिनय के साथ प्रयुक्त होने वाले लोकगीतों के लिए भी रासक शब्द व्यवहृत किया जाने लगा था।

डॉ० दशरथ ओझा ने अपभ्रंश साहित्य के जैन रास के संबंध में बताते हुए कहा है कि जैनाचार्यों ने लोकगीतों, विशेषकर स्त्रियों में प्रचलित गीतों में प्रयुक्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राग-रागिनियों के माध्यम से अपने काव्य को गेय तथा अभिनेय बनाए रखने का सदा ध्यान रखा।[210] नाट्य और नृत्य के साथ गाए जाने वाले ऐसे गीतों को रासक कहा जाता था।[211]

लोक-परंपरा में चले आए रास संगीत के गीत, काव्य, छंद और ताल इत्यादि विभिन्न अंश, समय-समय पर यथानुकूल परिस्थितियों में विकसित होते रहे और कालांतर में इन सभी के लिए 'रास' या 'रासक' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। अंगविज्जा में तो नाचने गाने वाली रासक जाति का भी उल्लेख मिलता है।[212] नामों की इस एकरूपता से प्रमाणित होता है कि ये सब मूल रूप में परस्पर संबद्ध थे और इनका विकास 'रास' नामक लोकनृत्य से हुआ।

संगीत के गेयपदों में मुक्तक काव्य सदैव प्रधान रहा है। अतएव रास के साथ गाए जाने वाले गीत भी लघुकाय रहे हैं।[213] अत्यंत प्राचीन काल से ही इनमें जनभाषा का प्रयोग होता आया है। हरिवंश पुराण में रास के साथ गाए जाने वाले गीतों में देशभाषा के व्यवहार का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[214] तेरहवीं शताब्दी (सन् 1238) में उपदेशरसायन रास के वृत्तिकार जिनपालोपाध्याय ने भी रासक प्रबंध की भाषा 'प्राकृत' बताई है।[215] स्वर्गीय कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का मत है कि 'मध्यदेश के गेयपद (गीत) रासनृत्य की प्रेरणा से आविर्भूत हुए। इन गीतों की भाषा शौरसेनी प्राकृत थी'।[216] शौरसेनी प्राकृत की यह थाती क्रमशः शौरसेनी अपभ्रंश और फिर व्रज, गुजराती आदि बोलियों को उत्तराधिकार में मिली।

रासनृत्य के साथ प्रयुक्त होने वाले छंद और ताल के सबंध में डॉ० दशरथ ओझा का कथन है : "किसी समय नृत्य के अनुरूप रास छंद की योजना हुई होगी। ...प्राचीन अपभ्रंशों की रचना ताल और लय पर आश्रित है"।[217] एक अन्य स्थल पर वे कहते हैं, "छंद भी संभवतः प्रायः वही एक रहा होगा, जिसे रास छंद कहते हैं। उसका ताल ही ऐसा है जो कि नर्तन के लिए सर्वथा उपयुक्त है"।[218]

संगीत रत्नाकर में देशी तालों के अंतर्गत सर्वप्रथम आदिताल का लक्षण इस प्रकार बताया गया है :

लघ्वादितालो लोकेऽसौ रासः।[219]

अर्थात् आदिताल का स्वरूप एक लघु (।) है, जिसे लोक में रासताल कहते हैं।

मानव मात्र के लिए सर्वाधिक स्वाभाविक और सरल होने के कारण आदि-ताल के उक्त स्वरूप का व्यवहार संसार के प्रायः सभी देशों के संगीत में मिलता है और इसे लोक में सबसे पहला और प्राचीनतम ताल समझा जाता है। इसीलिए भारतीय संगीत में इसे लोक का आरंभिक ताल अर्थात् आदि ताल कहा गया है। संभवतः इसीलिए संगीतरत्नाकर के देशी तालों में इसका उल्लेख सर्वप्रथम किया गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संगीतरत्नाकर में आदिताल को ही रासताल कहा गया है। इससे आदिताल को रासनृत्य के साथ व्यवहार किए जाने और इसी कारण लोक में उसका नाम रासताल पड़ने की पुष्टि होती है। जैसे कि कुछ समय पूर्व तक ठुमरी और टप्पा के साथ व्यवहार किए जाने वाले कुछ तालों को लोग ठुमरी ताल और टप्पा ताल भी कहते रहे हैं।

आदिताल का रचना-सौष्ठव ही मनुष्य मात्र के लिए ऐसा स्वाभाविक और सरल है कि एकल या सामूहिक किसी भी गीत और नृत्य के लिए यह ताल बहुत ही उपयुक्त होता है। अतः रासनृत्य के साथ इसका प्रयोग स्वाभाविक ही है। संगीतरत्नाकर में रासक प्रबंध के साथ भी रासताल के प्रयोग का उल्लेख है।[220]

यह आदिताल या रासताल वर्तमान युग में भी जनसाधारण में चतुर्मात्रिक कहरवा ताल के रूप में प्रसिद्ध है, जो कि अपनी स्वाभाविक सरलता के कारण अधिकांश लोकगीतों और नृत्यों के साथ प्रयोग किया जाता है।

इस प्रकार राससंगीत-संबंधी प्राचीन और मध्यकालीन प्राप्त तथ्यों के विश्लेषण के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :

1. रास, देशी संगीत का एक भेद था।
2. राससंगीत का विकास रासनृत्य के आधार पर हुआ। अतएव रासंगीत मूलतः नृत्य के साथ गाए जाने वाले शृंगाररसात्मक गीत थे।
3. रासगीतों की मूलधारा लोकसंगीत से निकली है।
4. रासगीतों में सदा से ही जनभाषा का व्यवहार होता आया है।
5. ब्रज, गुजरात, मिथिला, उड़ीसा, बंगाल, मणिपुर (आसाम) आदि प्रदेशों के रासनृत्यों में कृष्णचरित्र की प्रधानता मिलती है। अतएव लोक संगीत की शैली पर गाए जाने वाले रासगीतों का विषय भी कृष्ण-लीला से अनुप्राणित रहा है।
6. रासगीतों में लोक संगीत के प्रचलित धुनों और राग-रागिनियों का व्यवहार होता आया है।
7. रासगीतों और नृत्यों के साथ संगीतरत्नाकर में उल्लिखित आदिताल के व्यवहार की प्रधानता रही है और इसी कारण लोक में उसे रासताल भी कहा जाने लगा। इसका स्वरूप वर्तमान चतुर्मात्रिक कहरवा ताल के सदृश्य था।
8. रासगीतों के गान के साथ भावाभिनय भी होता था।
9. रासगीतों के गान और नृत्याभिनय-प्रदर्शन में नर्तकियों का प्राधान्य था।

रासगीतों की ये सभी विशेषताएँ ठुमरी गान में भी पर्याप्त अंशों में दिखाई पड़ती हैं। अतएव इनके आधार पर यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि ठुमरी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गान की परंपरा मूलतः रासगीतों की धारा से आई है। लखनऊ के अंतिम शासक वाजिद अली शाह द्वारा 'परीखाना' के सहयोग से संगीतप्रधान नृत्यनाट्य 'रहस' (रास) में ठुमरियों का प्रयोग इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। वाजिद अली शाह को रहस (रास) की प्रेरणा ब्रज के रासधारियों से मिली थी। इस संबंध में अब्दुल हलीम 'शरर' अपने ग्रंथ 'गुज़श्ता लखनऊ' (पुराना लखनऊ) में कहते हैं "रहस ख़ास मथुरा और ब्रज की कला है। वहीं के रहस-धारियों ने आ आकर लखनऊ को इसका शौक़ दिलाया।" "वाजिद अली शाह को जब रास पसंद आया तो उन्होंने अपनी रुचि और अपने काल्पनिक प्लाट का एक नया रहस तैयार किया।[221] एक अन्य स्थल पर 'शरर' पुनः कहते हैं "बादशाह ने श्रीकृष्ण जी का रास, जो हिंदुओं में प्रचलित है, देखा था और श्रीकृष्ण जी की प्रणयलीला ऐसी पसंद आई थी कि इस रास से ड्रामे के तौर पर एक खेल (संगीतप्रधान नाटक) बनाया था, जिसमें ख़ुद कन्हैया बनते, बेगमें गोपियाँ बनतीं और नाचरंग की महफ़िलें गर्म होतीं"।[222] इसी रहस के आधार पर मियां 'अमानत' ने इंदर सभा की रचना की,[223] जो कि वाजिद अली शाह के युग का एक प्रसिद्ध संगीतनाट्य था।

रासनृत्य के रास और दंडरास ये दो प्रमुख भेद माने गए हैं, जैसे

असकृन्मण्डली भूय गीततालयानुगं।
तदोदितं बुधैर्दण्डरासं जनमनोहरम्।
दण्डैर्विना कृतं नृत्यं रासनृत्यं तदेव हि।।[224]

इस वर्णन के अनुसार गीत, ताल, लय के अनुसार छोटे-छोटे डंडों को परस्पर बजाते हुए किया जाने वाला नर्तन 'दंडरास' और डंडों के बिना किया जाने वाला नर्तन 'रास' है। दंडरास की लोक-परंपरा आज भी ब्रज और हिमाचल प्रदेश के चांचरि नृत्य, गुजरात के डांडिया रास और महाराष्ट्र के टिपरी (दंड) रास में दिखाई पड़ती है।

लोकपरंपरा से चले आए रासनृत्य का परिगणन कालांतर में उपरूपकों की श्रेणी में किया जाने लगा। अभिनवभारती में रासक का उल्लेख उपरूपकों में करते हुए इसे नृत्य का एक भेद बताया गया है :

डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणी प्रस्थानरासकाः।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदास्स्युस्तेऽपि भाणवत्।।[225]

प्रो० म० रं० मजुमदार बताते हैं कि कुछ लोग रासक को नृत्यकाव्य कहते हैं परंतु हेमचंद्र ने इसे गेयरूपक माना है। इसका अर्थ है कि इसमें संगीत की बहुलता और गेयपदों की अभिनेयता आवश्यक है।[226]

भोज ने उपरूपकों के अंतर्गत रासक और नाट्यरासक नाम से दो उपरूपकों का उल्लेख किया है।[227] इससे ज्ञात होता है कि कालांतर में रासक दो धाराओं में विभक्त हो गया था।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शारदातनय ने भावप्रकाश में रासक का लक्षण इस प्रकार बताया है :

षोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन्नृत्यन्ति नायिकाः ।
पिण्डीबन्धादिविन्यासैः रासकं तदुदाहृतम् ।।

नृत्यरत्नावली के अनुसार :

बन्धं पिण्ड्यादिमाश्रित्य यस्मिन् षोडश नायिकाः ।
नृत्यन्ति द्वादशाष्टौ वा रासकं तत्प्रकीर्तितम् ।।
(नृत्यरत्नावली 8/84)

इससे ज्ञात होता है कि रासक सोलह, बारह या आठ नर्तकियों द्वारा किया जाने वाला नृत्य था। मंडली नृत्य होते हुए भी रासक में कुछ नर्तकियाँ मुख्य नायिकाएँ होती थीं। इसमें लास्यांग और गीताभिनय सहित नृत्य किए जाने का विधान बताया गया है, जैसे

गोपिकानां सहस्रेभ्यो मानिता मुख्यनायिकाः ।
आगता एव भूपेन क्रीडितुं रासकोत्सवे ।।108।।
खण्डमण्डलचारिभिः लास्याङ्गप्रमुखैरपि ।
कुर्वन्त्यः प्रस्तुतैरङ्गैर्गीतार्थाभिनय समम् ।।109।।[228]

जिनपालोपाध्याय ने चर्चरी और रासक को एक ही प्रबंधभेद कहा है :

"चर्चरी-रासकप्रख्ये प्रबन्धे प्राकृते किल ।"

इससे ज्ञात होता है कि चर्चरी, रासक परंपरा का ही गीतभेद था।

भोज ने उपरूपकों में रासक के अतिरिक्त नाट्यरासक का उल्लेख करते हुए उसे चर्चरी भी कहा है।[229] नाट्यरासक के लक्षण इस प्रकार बताए गए हैं :

कामिनीभिर्भुवो भर्तुश्चेष्टितं यत्तु नृत्यते ।
रागाद्वसन्तमासाद्य स ज्ञेयो नाट्यरासकः ।।
चर्चरीति च तामाहुः वर्णतालेन तत्र तु ।।[230]
(शारदातनय, भावप्रकाश)

अथवा

चरितं भूपतेर्यत्र पदार्थैरभिनीयते ।
नायिकाभिवसन्ततौ देशीहिन्दोलगीतिभिः ।
यौवनासवमत्ताभिस्तदुक्तं नाट्यरासकम् ।[231]
वसन्त समये यत्र देशीहिन्दोलगीतिभिः ।
नर्तकीभिर्नाट्यवस्तु पदार्थैरभिनीयते ।
तन्नाट्यलासकं प्रोक्तं देशीनृत्त विशारदैः ।।[232]
(वेम)

नाट्यरासक के इन लक्षणों के अनुसार वसंत ऋतु में नर्तकी द्वारा भौहों के सैन से नायक को रिझाते हुए नाचने और यौवनमत्त होकर देशीहिंदोलादि रागों में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गीत गाते हुए उसमें वर्णित नायक के चरित्र का पदार्थाभिनय करने का उल्लेख है। नाट्यरासक का यह वर्णन, आज से लगभग तीस-चालीस वर्ष पूर्व तक चली आई, सामंतयुग से प्रभावित उन संगीत महफ़िलों से कितना साम्य रखता है, जिनमें नर्तकियाँ भावाभिनय-सहित ठुमरी गाते हुए हाव-भाव और भौंहों के सैन से अपने आश्रय-दाता राजाओं, नवाबों, रईसों और ज़मीदारों को रिझाने की चेष्टा किया करती थीं।

नाट्यरासक में नृत्य और गान दोनों का समन्वय रहने पर भी उसमें गान ही प्रमुख था। वात्स्यायन कृत कामसूत्र के निम्नलिखित संदर्भ से भी यही प्रमाणित होता है :

"हल्लीसकक्रीडनकैः गायनैर्नाट्यरासकैः।"

(II. 10. श्लोक सं० 175)

भावप्रकाश के अनुसार नाट्यरासक और चर्चरी में ताल के अतिरिक्त और कोई अंतर नहीं था :

रागाद्वसन्तमासाद्य स ज्ञेयो नाट्यरासकः॥
चर्चरीति च तामाहुः वर्णतालेन तत्र तु।[233]

(शारदातनय, भावप्रकाश)

इससे पता चलता है कि चर्चरी में वर्णताल का प्रयोग होता था। इसके अतिरिक्त चर्चरी और नाट्यरासक के शेष लक्षण एक समान थे। अतः चर्चरी, नाट्यरासक का एक भेद सिद्ध होता है। किंतु चौदहवीं शताब्दी में आंध्र के महा-राजा वेम ने चर्चरी का परिगणन नाट्यरासक से अलग करते हुए रासक के रासक, नाट्यरासक और चर्चरी ये तीन भेद बताए हैं :

रासकस्य प्रभेदास्तु रासकं नाट्यरासकम्।
चर्चरीति त्रयः प्रोक्ताः............ ॥[234]

नाट्यरासक और चर्चरी संबंधी इन वर्णनों से ज्ञात होता है कि प्रारंभ में चर्चरी नाट्यरासक का एक भेद था, किंतु कालक्रम से उसके स्वरूप में विकास और परिवर्तन होने के साथ-साथ समाज में उसका इतना अधिक प्रचलन हो गया कि चौदहवीं शताब्दी के पूर्व ही उसका अस्तित्व स्वतंत्र रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। फलतः चर्चरी को नाट्यरासक के समानांतर मानते हुए उसे रासक के एक स्वतंत्र प्रभेद के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

चर्चरी का विशद वर्णन इस अध्याय में पहले ही किया जा चुका है। अतः प्राप्त लक्षणों के आधार पर चर्चरी और ठुमरी के तुलनात्मक विवेचन से निकले निष्कर्षों का सारांश इस प्रकार है :

1. संस्कृत भाषा के चलने के अर्थ वाले 'चर्' धातु से चर्चरी शब्द की व्युत्पत्ति हुई है।[235] इसलिए रंगमंच पर पात्रों के चलने की गति लय के अर्थ में भी चर्चरी शब्द व्यवहृत हुआ है।[236] अनुमानतः पैरों की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गति-लय के कारण ही चर्चरी शब्द का अर्थविस्तार नृत्य विशेष के रूप में हुआ और उस नृत्य के साथ गाए जाने वाले गीतों को भी बाद में चर्चरी कहा जाने लगा।

'ठुमरी' शब्द की व्युत्पत्ति के मूल में पैरों की चाल को अभिव्यक्त करने वाला ठुम या ठुमक शब्द है, जिसका अर्थविस्तार नृत्य के रूप में हुआ।[237] अतएव ठुमरी का अर्थविकास भी 'नृत्य के साथ गाया जाने वाला गीत' हुआ। इस प्रकार 'चर्चरी' और 'ठुमरी' दोनों शब्दों के मूल में पैरों की चाल या गीत का अर्थ निहित है और दोनों का अर्थविस्तार 'नृत्य के साथ गाए जाने वाले गीत' के रूप में हुआ। अतएव व्युपत्तिगम्य और रूढ़ शब्दार्थ की दृष्टि से भी चर्चरी और ठुमरी में बहुत समानता है।

2. संस्कृत में चर्चरी शब्द विशिष्ट नृत्य, गीत, छंद, लय और ताल आदि के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। आज भी 'चाँचर' शब्द को विशिष्ट लोकनृत्य, ठुमरी शैली के गीत और ताल विशेष के अर्थ में व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार 'ठुमरी' शब्द भी गीत और ताल विशेष के अर्थ में व्यवहृत होता है।
3. चर्चरी देशी संगीत का भेद था और ठुमरी भी देशीसंगीत का ही एक भेद है।
4. चर्चरी राससंगीत की परंपरा का गीतभेद था। लक्षणों के आधार पर ठुमरी भी रासपरंपरा की गीतविधा सिद्ध होती है।
5. नाट्यरासक और चर्चरी के लक्षण समान थे। अतः चर्चरी गान के साथ भी नृत्य और भावाभिनय प्रदर्शन होता था। ठुमरी गान के साथ भी ऐसी ही प्रथा रही है।
6. चर्चरी गान और नृत्य प्रदर्शन में स्त्रियों की प्रधानता थी। ठुमरी का गान और नृत्य भी मूलतः स्त्रीप्रधान माना जाता है। 'सुपासनाहचरिय' नामक प्राकृत ग्रंथ के अनुसार वाराणसी नगर की गायिका नर्तकियाँ अपने चर्चरी गान के लिए सुप्रसिद्ध थीं। आज भी वाराणसी (बनारस) की गायिका नर्तकियों का ठुमरी गान के लिए सुप्रसिद्ध होना इस संदर्भ में विशेष तुलनीय है।
7. रासक में लास्यांग और भावभिनय की प्रधानता थी। अत: उसी परंपरा का एक भेद होने के कारण चर्चरी के गान, नृत्य और भावाभिनय में शृंगाररस की प्रधानता थी। ठुमरी में भी ऐसा ही है।
8. चर्चरी, एक ऐसी गान-विधा थी जिसके अंतर्गत विभिन्न तालों में गाए जाने वाले विभिन्न गीतों का समावेश था। ठुमरी विधा में भी ठुमरी,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होली, चैती, दादरा आदि विभिन्न प्रकार के गीतों का समावेश माना जाता है, जो कि विभिन्न तालों में गाए जाते हैं।

9. चर्चरी का गान वसंत ऋतु और मदनोत्सव (होली) के अवसर पर होता था। ठुमरी का एक भेद चाँचर (होली) भी वसंत ऋतु और विशेष रूप से होलिकोत्सव के अवसर पर गाया जाता है। ब्रज के गाँवों में तो ठुमरी को भी होली के आसपास गाए जाने वाले गीतों में समझा जाता है।

10. यद्यपि चर्चरी का गान विशेषतया वसंत ऋतु और मदनोत्सव (होली) के अवसर पर होता था, किंतु संगीतराज में चच्चरी प्रबंध को 'वसंतादि महोत्सव' पर गाए जाने के उल्लेख से पता चलता है कि वसंत के अतिरिक्त अन्य अवसरों पर भी चर्चरी गाई जाती थी। इसी प्रकार ठुमरी भी सभी ऋतु में आनंदपूर्ण अवसरों पर गाई जाती है।

11. चर्चरी गान, लोक शैली पर आधारित था। ठुमरी गान पर भी लोक-शैली का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

12. चर्चरी गीतों की रचना तत्कालीन जनभाषा 'प्राकृत' में होती थी। ठुमरी की गेय रचनाएँ भी वर्तमान जनभाषाओं (बोलियों) में होती हैं। ठुमरी की पुरानी रचनाओं में ब्रजभाषा का विशेष रूप से प्रयोग किया गया है। ऐतिहासिक रूप से संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त शौरसेनीप्राकृत के गीतों की परंपरा शौरसेनीअपभ्रंश के माध्यम से ब्रजभाषा के जनगीतों तक पहुँची है। इस दृष्टि से चर्चरी गीतों में प्रयुक्त जनभाषा 'शौरसेनीप्राकृत' की विकास परंपरा भी ठुमरी गीतों में प्रयुक्त होने वाली 'ब्रजभाषा' तक पहुँचती है।

13. चर्चरी गीतों में वसंत अर्थात् देशीहिंदोल या पूर्णहिंदोल और हिंदोल आदि रागों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। विश्लेषण के अनुसार इन रागों की स्वरावलियाँ क्रमशः वर्तमान काफ़ी व धानी इत्यादि रागों की स्वरावलियों के लगभग समान प्रतीत होती हैं। इन स्वरावलियों से युक्त काफ़ी, बरवा, सिन्दूरा धानी आदि रागों का प्रयोग ठुमरी गान में होता है। ठुमरी के आरंभिक स्वरूप में भी इन स्वरावलियों की प्रधानता दिखाई पड़ती है।

14. चर्चरी नृत्य में रासताल और उसके चतुरावर्तनीय प्रयोग का उल्लेख है। वर्तमान चतुर्मात्रिक कहरवाताल और प्राचीन रासताल एक ही जैसे ताल हैं। ठुमरी और होली (चाँचर) के अंतिम भाग में, कहरवा ताल की 'लग्गी' का प्रयोग भी चतुरावर्तनीय रूप में होता है। ठुमरी के एक भेद दादरा गीत में भी कहरवा ताल का प्रयोग किया जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

15. चर्चरी गीतों में सोलहमात्रिक छंद और ताल का प्रयोग भी होता था। ठुमरी और उसके भेद होली में भी चाँचर (जत), त्रिताल, सितारखानी, पंजाबी इत्यादि सोलह मात्राओं वाले तालों के प्रयोग की अधिकता है।

16. चर्चरी नृत्य के साथ व्यवहृत 'ते ति गि घ' शुष्काक्षरों से ठुमरी के साथ प्रयुक्त होने वाले त्रिताल, सितारखानी, पंजाबी, चाँचर आदि तालों और लग्गी के ठेकों की समता तथा क्रमिक विकास का आभास मिलता है।

17. चर्चरी (चच्चरी) गान के भेद में 'चण्डनि:सारुक' अर्थात् 'क्रीडाताल' का प्रयोग होता था, जो कि स्वरूप और वज़न की दृष्टि से आधुनिक दादरा ताल के सदृश्य था। दादरा ताल का प्रयोग ठुमरी के ही एक प्रभेद दादरा गीत में होता है।

इन निष्कर्षों के अनुसार चर्चरी और ठुमरी के लक्षणों में ऐसी अनेक समानताएँ दृष्टिगत होती हैं, जिनसे यह विदित होता है कि वर्तमान ठुमरी की भाँति ही चर्चरी भी नृत्य और भावाभिनय सहित गाई जाने वाली, प्राचीन और मध्यकाल की ऐसी शृंगाररसपूर्ण गीतविधा थी, जो कि राससंगीत से उद्भूत होकर, नाट्यरासक के माध्यम से विकसित होकर लोक में प्रचलित हुई। लोकसंगीत में चर्चरी गीतों की यह धारा प्राकृत और अपभ्रंश से होते हुए वर्तमान लोकभाषाओं के चाँचर गीतों तक पहुँची है, जिनमें व्रजभाषा के चाँचरि गीतों का प्रमुख और महत्त्वपूर्ण स्थान है।

लगभग बारहवीं शताब्दी से प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के स्थान पर अपभ्रंशों से विकसित जनभाषाओं (बोलियों) के गीत जनता में लोकप्रिय होने लगे थे। शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित व्रजभाषा का उत्थान भी लगभग इसी समय से प्रारंभ हुआ। व्रज प्रदेश भारत के मध्य भाग में स्थित है, जिसे मध्यदेश कहा जाता है। अत्यंत प्राचीन काल से इस मध्यदेश की संस्कृति का प्रभाव उत्तर भारत के सभी प्रदेशों पर पड़ता रहा है। मध्यदेश में स्थित होने के कारण उत्तर भारत के सभी प्रदेशों पर व्रज की कृष्णभक्तिपूर्ण वैष्णवसंस्कृति का समय-समय पर गहरा प्रभाव पड़ता रहा। अतः बारहवीं शताब्दी के पश्चात् व्रजभाषा के माध्यम से मध्यदेशीय वैष्णव धर्म तथा संगीत, साहित्य आदि कलाओं का समस्त उत्तर भारत की जनता में व्यापक प्रसार हुआ।

भारतीय जनजीवन में शृंगार और आनंद महोत्सव के रूप में वसंत और होलीक्रीड़ा का सदैव से प्रमुख महत्त्व रहा है। संस्कृत के प्राचीन साहित्य से भी इसका प्रमाण मिलता है। कृष्णचरितप्रधान रास का नृत्यगान मूलतः शरद ऋतु से संबद्ध था, किंतु जयदेव के समय से उसमें शरद के स्थान पर वसंत श्री के प्रभाव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की अधिक वृद्धि हुई। अतः वसंत और होलीक्रीड़ा भी कृष्णलीला के प्रमुख प्रसंग रहे हैं। ब्रज की होली आज भी बहुत प्रसिद्ध है।

ब्रज की संगीतादि लोककलाएँ मुख्यतः कृष्णलीला से अनुप्राणित रही हैं। अतः कृष्ण की होलीक्रीड़ा ब्रज के चाँचरि गीतों का प्रधान विषय रहा है। आगे चल कर ब्रज की होली या चाँचरि गीतों का प्रचार न केवल उत्तर प्रदेश के खड़ी बोली वाले सहारनपुर, मुज़फ्फ़रनगर, मेरठ, रामपुर आदि तथा अंतर्वेदी (कन्नौजी) भाषी फ़र्रुखाबाद, इटावा, कानपुर आदि पश्चिमी क्षेत्र; बुंदेली-भाषी झाँसी आदि दक्षिणी पश्चिमी क्षेत्र; कुमायूँनी-भाषी अल्मोड़ा, नैनीताल आदि उत्तरी क्षेत्र; अवधी-भाषी लखनऊ, अयोध्या, इलाहाबाद, जौनपुर आदि मध्यपूर्वी क्षेत्र; भोजपुरी-भाषी गोरखपुर, देवरिया और मगही-भाषी बनारस आदि पूर्वी क्षेत्र तक हुआ, अपितु दिल्ली, हरियाणा, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, राजस्थान और बिहार इत्यादि प्रदेशों में भी इनका व्यापक प्रचार हुआ। यही नहीं, इन प्रदेशों की लोकभाषाओं में रचे गये होली संबंधी गीत भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में ब्रज की होली या चाँचरि गीतों के विषयवस्तु और धुनों से प्रभावित हुए।

चाँचरि के धुनों की रूपरेखा साधारणतया काफ़ी; खमाज, सिंदूरा, बरवा, धानी, पीलू, गारा, जंगला आदि रागों के सदृश होती हैं। ठुमरी गान में भी इन धुनों और रागों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता है। चाँचर और ठुमरी, इन दोनों ही प्रकार के गीतों में ब्रजभाषा के प्रयोग का बाहुल्य है। आज से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व सन् 1834 में कैप्टेन विलर्ड ने ठुमरी को ब्रजभाषा का गीतभेद बताया था।[238] स्वयं 'ठुमरी' शब्द ही ब्रजभाषा का है। अन्य किसी बोली या भाषा में इस शब्द के मूल अस्तित्व का पता नहीं चलता।

आज चाँचर गान का जो रूप मिलता है उसमें और ठुमरी गान में कोई विशेष भेद नहीं है। सांगीतिक दृष्टि से दोनों में स्वररचना और शैली की रूपरेखा एक समान है। गीतरचना के विषयवस्तु में वसंत और होली-वर्णन के अतिरिक्त चाँचर गीतों के सभी लक्षण ठुमरी के ही सदृश्य हैं। साधारणतया चाँचरतालबद्ध एक ही प्रकार की स्वररचना में विरचित दो गीतों में से, वसंत और होली वर्णन-युक्त गीत को चाँचर और दूसरे को ठुमरी कहा जाता है। कभी-कभी इस नियम में व्यतिक्रम भी दिखाई पड़ता है— अर्थात् चाँचर कहे जाने वाले ऐसे गीत भी कभी-कभी सुनाई पड़ते हैं, जिनमें वसंत और होली-वर्णन नहीं होता। इस प्रकार गाँवों में प्रायः चाँचर को ठुमरी और ठुमरी को चाँचर भी कह दिया जाता है। अतः स्वर-रचना और शैली की इस एकात्मता के कारण ही चाँचर (होली) को ठुमरी-गान का एक भेद समझा जाता है।

आज भले ही चाँचर (होली) को ठुमरी का गीतभेद माना जाता हो, परंतु कालक्रमानुसार चाँचर या चाँचरि शब्द ठुमरी से अधिक पुराना है। अभी तक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ठुमरी का सबसे पुराना उल्लेख सत्रहवीं शताब्दी का ही मिला है, जबकि चाँचर गान की परंपरा स्पष्टतः प्राचीनकाल के चर्चरी और नाट्यरासक तक पहुँचती है। अतएव नृत्य और भावाभिनय सहित गाए जाने वाले गीतों की शृंखला में ठुमरी, चाँचरि के बाद की कड़ी है। कहीं-कहीं ठुमरी को चाँचर कहा जाना भी इसी बात का संकेत देता है।

रचना सौष्ठव की दृष्टि से चाँचर (होली) के वर्तमान स्वरूप का तादात्म्य ठुमरी के केवल उस विशिष्ट भेद के साथ दिखाई पड़ता है, जो कि चौदह या सोलह मात्रिक चाँचर ताल में निबद्ध है। परंतु चाँचर या चाँचरि के पूर्वरूप चच्चरी के लक्षणों से, विभिन्न तालों में निबद्ध, ऐसे कई गीतों का पता चलता है, जिनकी समता ठुमरी शैली के ठुमरी, होली, दादरा आदि गीतों से की जा सकती है। इससे प्रतीत होता है कि ठुमरी की भाँति ही चच्चरी गान में भी विभिन्न प्रकार के गीतों का व्यवहार किया जाता था।

जिस प्रकार अन्य तालों में निबद्ध अनेक ध्रुवपदों में से आज केवल चौताल में निबद्ध ध्रुवपद ही प्रचार में होने के कारण, जनसाधारण में केवल उसी को 'वास्तविक ध्रुवपद' और ततवाद्यों में बजाई जाने वाली विभिन्न प्रकार की अनेक छंदोबद्ध मसीतखानी गतों में से केवल एक विशिष्ठ छंदोबद्ध गत मात्र को ही 'मसीतखानी गत' समझा जाने लगा है; उसी प्रकार अनुमानतः इन अनेक चच्चरी गीतों में से ही कोई विशिष्ट भेद कालांतर में लोकप्रिय होकर चाँचरि या चाँचर नाम से अभिहित होता रहा जिसकी विकास परंपरा में ही चौदह या सोलह मात्रिक चाँचर तालबद्ध होली गान आता है। आज 'चाँचर' शब्द से इसी होली और उसमें प्रयुक्त चाँचरताल का तात्पर्य समझा जाता है। इस प्रकार 'चाँचरि' या 'चाँचर' शब्द अपने वर्तमान अर्थ में अधिक सीमित होकर रह गया है, जबकि इसका पूर्वरूप चर्चरी या चच्चरी शब्द अधिक व्यापक है। अतएव वर्तमान होलीगीत (चाँचर) से संबद्ध होते हुए भी, अर्थविस्तार की दृष्टि से, ठुमरी गान की व्यापकता चच्चरी गान के समान है।

प्राचीन काल से ही चर्चरी का गान और नृत्य-प्रदर्शन मुख्यतः वसंत तथा होली के अवसर पर होता आया है। किंतु महाराणा कुंभा कृत संगीतराज ग्रंथ में 'वसंतादि' अर्थात् वसंत के अतिरिक्त अन्य अवसरों पर भी इसके प्रयोग का संकेत मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि परवर्ती युग में चर्चरी का गान और नृत्य अन्य अवसरों पर भी होने लगा था। आज भी ब्रज के अहीरों में विवाहादि अवसरों पर नृत्य सहित चाँचरि गान किया जाना इसी बात का द्योतक है। अतः इसकी पूर्ण संभावना है कि कालांतर में वसंत और होलिकोत्सव पर गाए जाने वाले चर्चरी गीत का संबंध तो केवल इन्हीं विशिष्ट अवसरों तक सीमित रह गया और अन्य सभी अवसरों पर गाए जाने योग्य चर्चरी गीतों से ठुमरी का जन्म हुआ हो और यह भी बहुत स्वाभाविक है कि आगे चलकर ब्रजभाषा में गाए जाने वाले इस प्रकार के चर्चरी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गीतों को, नृत्य तथा भावाभिनय सहित गाए जाने के कारण ही व्रज और उसके आस-पास के क्षेत्रों में, ठुमरी (नृत्यात्मक गीत) कहने की प्रथा चल पड़ी हो।

इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि एक ही वस्तु या विधा को शास्त्र या विद्वत्समाज में जिस नाम से अभिहित किया जाता रहा है, उसे साधारण जनसमाज किसी अन्य नाम से भी संबोधित करता रहा है। उदाहरण के लिए संगीत शास्त्रों में वर्णित 'मत्तकोकिला वीणा' को 'स्वरमंडल' तथा 'आदिताल' को 'रासताल' और कालांतर में उसी को दक्षिण भारत में 'एकताल' और उत्तर भारत में 'कहरवा ताल' कहा जाना लोक की इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। आज भी संगीत में व्यवहृत 'अलंकारों' को 'पल्टे' कहने का रिवाज है। इसी प्रकार लोकसंगीत में वसंत और होलिकोत्सव के अवसर पर गाए जाने योग्य लोकभाषाओं के वसंत तथा होली वर्णन युक्त चर्चरी गीतों को चाँचरि, चाँचर या होली कहने की प्रथा रही है। अतएव इनसे भेद रखने के लिए, अन्य अवसरों पर भी गाए जाने योग्य, संगीत की दृष्टि से वैसे ही, परंतु वसंत और होली वर्णन से रहित, ब्रजभाषा के शृंगारिक चर्चरी गीतों को आगे चलकर लोक में ठुमरी नाम से अभिहित किया जाने लगा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। चर्चरी और ठुमरी शब्दों में नृत्यात्मक अर्थ का तादात्म्य, होली (चाँचर) और ठुमरी गान-शैली की एकता तथा आज के जन समाज में चाँचर ताल-निबद्ध एक ही जैसी दो गेय रचनाओं में से वसंत और होली वर्णत-युक्त गीत को होली (चाँचर) और उससे रहित दूसरी को ठुमरी कहा जाना, उक्त मत की परिपुष्टि करते हैं। आज भी व्रज के लोक-जीवन में ठुमरी को फागुन महीने में होली के आस-पास गाए जाने वाले गीतों में समझा जाना भी उसके और चर्चरी के पारस्परिक संबंध का द्योतक है।

किसी भी वस्तु या कलाविधा के परंपरागत शास्त्रीय नामों में पुनः परिवर्तन होने की प्रक्रिया के पीछे सामान्यीकरण की लोक-प्रवृत्ति रहती है, जिससे कि वह साधारण जन को भी सरल रूप में बोधगम्य हो सके। इसलिए किसी भी वस्तु या कलाविधा के इन लोक प्रचलित नामों से उसके गुण, क्रिया अथवा उससे संबद्ध किसी वस्तु का आभास अवश्य होता है। उदाहरण के तौर पर 'स्वरमंडल' नाम से अनेक स्वरों के समूह का, रासताल में रासनृत्य से संबद्धता, कहरवा में कहार जाति से संबद्धता और 'पल्टे' शब्द से स्वरों के क्रम को उलट-पुलट करने का आभास होता है। अतएव 'होली' नामकरण में चर्चरी की होली पर्व से संबद्धता और 'ठुमरी' नामकरण करते समय चर्चरी गीतों की नृत्याभिनयात्मकता की भावना जनमानस में रही हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

जनसाधारण में प्रचलित हो जाने वाले नाम आगे चलकर धीरे-धीरे रूढ़ होकर उचित समय पर समाज में पुनः शास्त्रीय स्थिति प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार आज के उत्तर भारतीय संगीत में 'होली' और ठुमरी ये दोनों नाम एक ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकार की सांगीतिक संरचना और शैली वाले गीत प्रभेदों के रूप में रूढ़ और विख्यात हो गए। परिस्थितिवश ठुमरी की लोकप्रियता के कारण इन गीतों की शैली विशेष को ठुमरी शैली के नाम से ही संबोधित किया जाने लगा। इसीलिए आज चाँचर (होली) गान को ठुमरी के अंतर्गत माना जाता है।

इस प्रकार चर्चरी गीतों की परंपरा में चले आए चाँचरि और ठुमरी के पारस्परिक संबंधों के विस्तृत अध्ययन और तुलनात्मक विवेचन से दोनों में व्युत्पत्तिगम्य शब्दार्थ, भाषा, धुन, राग, ताल, गीतरचना सौष्ठव, गानशैली और प्रत्यक्ष प्रयोग में पूर्ण तादात्म्य दिखायी पड़ता है। अतएव इस आधार पर इस अनुमान की पुष्टि होती है कि ठुमरी का उद्‌भव लोक-शैली में गाए जानेवाले चर्चरी गान से हुआ है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि ठुमरी का संबंध लोकसंगीत की उस परंपरा से है, जिसकी धारा अत्यंत प्राचीनकाल से क्रमशः छालिक्य गांधर्व, रास, नाट्यरासक, चर्चरी (चच्चरी) से होते हुए वर्तमान युग में ब्रज के चाँचरि गान तक चली आई और यही धारा आज ठुमरी के परिवेश में गतिमान होकर प्रवाहित हो रही है।

शृंगार की भावना मनुष्यमात्र के लिए अत्यंत स्वाभाविक है। आदिकाल से ही मानवजीवन में शृंगार अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। इसीलिए प्रायः शृंगार रस को आदिरस या रसराज भी कहा जाता है। सनातन काल से ही मानव संस्कृति का प्रमुख अंग रहने के कारण ललित कलाओं में भी शृंगार की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अतएव प्रारंभ से ही प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में शृंगारात्मक गीतविधाओं के गान का जनसमाज में प्रचलन रहा है। आज भी भारत के विभिन्न प्रादेशिक व क्षेत्रीय संगीत में शृंगारात्मक नृत्य व गीत-विधाओं का प्रचलन मिलता है, जिनका विकास उन प्रदेशों या क्षेत्रों के निवासियों की रुचि, भाषा, स्वभाव व परंपरागत संस्कारों के अनुसार हुआ है। उनमें से कई गान-विधाएँ ऐसी हैं, जिनका ठुमरी से बहुत कुछ साम्य है, जैसे चैती, कजरी, पुरबी, झूमर (पूर्वोत्तर प्रदेश तथा विहार); लेद (बुंदेलखंड); नाटी[239] (कांगड़ा-हिमाचल प्रदेश); धमाल व माँड (राजस्थान);हीर, माहिया व टप्पा (पंजाब); लावणी (महाराष्ट्र); जावली (महाराष्ट्र व दक्षिण भारत); पदम् (तमिलनाडु-दक्षिणभारत); झावरा (नैपाल); काफ़ी, सिंधीकाफ़ी (सिंध); मुल्तानीकाफ़ी (मुल्तान) तथा धमाली व धमाइल (सिलहट-बँगला देश) इत्यादि। इन सभी गीत-विधाओं की मूल प्रकृति ठुमरी से इतनी मिलती-जुलती है कि इनमें से कुछ विधाओं और उनकी धुन व गानशैली के साथ तो ठुमरी का परस्पर आदान-प्रदान भी हुआ है, जैसे पूर्वोत्तर प्रदेश व बिहार की चैती, कजरी, पुरबी; बुंदेलखंड की लेद; पंजाब के हीर, माहिया, टप्पा; सिंधी व मुल्तानी काफ़ी; हिमाचल व पंजाब प्रदेश की पहाड़ी और महाराष्ट्र की लावणी इत्यादि। इनमें से कई लोकगीत अपने विशिष्ट नामों से प्रसिद्ध होने पर भी उनकी गानशैली ठुमरी से इतनी मिलती-जुलती है कि व्यापक दृष्टि से उनका समावेश ठुमरी शैली

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के गीतों में होने लगा है, जैसे चैती, कजरी व पुरबी को पूरबअंग की ठुमरी और सिंधीकाफ़ी व मुल्तानीकाफ़ी को पंजाबअंग की ठुमरी के अंतर्गत माना जाने लगा है।

संदर्भ-संकेत

1. Pant, Chandra Shekhar, Literary Aspect of Thumari. "कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका" (1965) पृ॰ 40.
2. मोहम्मद करम इमाम, "मादनुल-मूसीक़ी पृ॰ 46.
3. Pant, Chandra Shekhar, Literary Aspect of Thumari, "कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका" (1965) पृ॰ 40, 41.
4. Chaubey, Dr. S.K., The Lucknow Thumari; *Uttar Pradesh*, December (1957), p. 27.
5. वही पत्रिका, पृ॰ 25.
6. Willard, Captain N. Augustus, *A Treatise on the Music of Hindoostan*, p. 103.
7. Pant, Chandra Shekhar, Literary Aspect of Thumari, "कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका" (1965), पृ॰ 40.
8. Willard, Captain N. Augustus, *A Treatise on the Music of Hindoostan*, p. 101, 102 and 103.
9. डॉ॰ हेम भटनागर, "हिन्दी साहित्य के शृंगार-युग में संगीत काव्य", पृ॰ 136.
10. वही पुस्तक, पृ॰ 137.
11. वही पुस्तक, पृ॰ 80.
12. वही पुस्तक, पृ॰ 161.
13. व्यास, कृष्णानंददेव, "संगीत राग कल्पद्रुम", रंगीन गान या रंगीन गान मजमुवा, पृ॰ 1 से 326.
14. भट्ट, विश्वंभर नाथ, ठुमरी की प्रेरणा-शक्ति और उसकी विशेषताएँ, "संगीत" (मासिक पत्रिका), ठुमरी अंक, (जनवरी फरवरी 1947), पृ॰ 1.
15. मोहम्मद करम इमाम, "मादनुल मूसीक़ी", पृ॰ 44.
16. वही पुस्तक, पृ॰ 44.
17. वही पुस्तक, पृ॰ 45.
18. मीर साबिर अली शाह, "उसूलुन्नगमात-अल-आसफ़िया", पृ॰ 6.
19. 'शरर', अब्दुल हलीम, "गुज़श्ता लखनऊ (पुराना लखनऊ)", पृ॰ 22 से 27 पर्यंत.
20. मोहम्मद करम इमाम, "मादनुल-मूसीक़ी", पृ॰ 44.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

21. (क) Willard, Captain N. Augustus, *A Treatise on the Music of Hindoostan*,p. 98, 102, 103, 121 and 122.
(ख) व्यास, कृष्णानंद देव, "संगीत रागकल्पद्रुम", स्वरप्रस्तार, पृ० 4.
(ग) मोहम्मद करम इमाम, "मादनुल-मूसीकी", पृ० 44.

22. बंदोपाध्याय, कृष्णधन, "गीतसूत्रसार" (प्रथम भाग), पृ० 87.

23. दरगाह क़ुली ख़ाँ, "मुरक्क़ये देहली" (पुरानी देहली के हालात), पृ० 68.

24. (क) "रागदर्पण", पृ० 41.
(ख) "तोहफ़तुल-हिंद", पृ० 353.

25. बंदोपाध्याय, कृष्णधन, "गीतसूत्रसार" (प्रथम भाग), पृ० 87.

26. वही पुस्तक, पृ० 82.

27. वही पुस्तक, पृ० 77.

28. "अवस्था दृष्टे एरूप विश्वास होय जे, शोरीर टप्पा आरउ संक्षेप करिया लाउयाते ताहा होइते ठुंग्री गानेर उद्भव होइयाछे." (वही पुस्तक, पृ० 87)

29. "शोरीकृत गानकेइ उस्तादरा टप्पा बोलेन; तद्भिन्न अन्यान्य टप्पा के ताँहारा ठुंग्री बोलिया थाकेन." (वही पुस्तक, पृ० 83.)

.0. वही पुस्तक, पृ० 83.

31. "शोरी कृत टप्पा होइते ठुंग्री गानेर रीति अनेक पृथक्." (वही पुस्तक, पृ० 87)

32. वही पुस्तक, पृ० 87

33. Willard, Captain N. Augustus, *A Treatise on the Music of Hindoostan*, p. 103.

34. सवाई प्रतापसिंह देव, "श्रीराधागोविन्द संगीतसार" रागाध्याय, पृ० 285.

35. गुप्त, डॉ० शालिग्राम, मुहम्मद शाह 'रँगीला' की रचनाएँ, "संगीत" (मासिक पत्रिका), सितंबर 1970, पृ० 22.

36. "गतें उसकी (गुलाम रज़ा की) तिताला में (मध्यलय त्रिताल में) व धुन हा व वज-अ ठुमरी बँधी हैं. " ("मादनुल-मूसीक़ी", पृ० 44).

37. व्यास, कृष्णानंददेव, "संगीत राग कल्पद्रुम", तालनामानि, पृ० 12.

38. हकीम मोहम्मद करम इमाम, "मादनुल-मूसीक़ी", पृ० 44.

39. "सुर-सिंगार" (पत्रिका), खंड 3, (अप्रैल-अक्टूबर 1965), "रामपुर की एक शोध-यात्रा", पृ० 45.

40. दरगाह क़ुली ख़ाँ, "मुरक्क़ये देहली" (पुरानी देहली के हालात), पृ० 65, 84 व 85.

41. 'मद्दाह' मुहम्मद मुस्तफ़ा ख़ाँ, "उर्दू-हिन्दी शब्दकोश", पृ० 220.

42. भातखण्डे, पं० विष्णु नारायण, "क्रमिक पुस्तक मालिका" (छठवें पुस्तक), पृ० 360.

43. "अथ उपरागाः। झिंझोटी जँगला पीलू बरवा धानी तिलंगिका" (व्यास, कृष्णानंददेव, "संगीत रागकल्पद्रुम", स्वराध्याय, पृ० 9).

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

44. गुप्त, डॉ० शालिग्राम, मुहम्मदशाह रंगीला की रचनायें, "संगीत" (मासिक पत्रिका), सितंबर 1970, पृ० 22.

45. (अ) "रागदर्पण" पृ० 41 व 85.
(आ) "तोहफ़तुल-हिंद", पृ०, 353, 400 व 419.

46. मित्र, राज्येश्वर "मुघल भारतेर संगीतचिंता", मुखबंध पृ० 5.

47. फ़क़ीरुल्लाह : "रागदर्पण", पृ० 116.

48. "एइ अध्यायेर शेष अंश थेके जाना जाय लखनऊ ठुंग्री प्रचलित छिलें एवं ठुंग्री आसन्ने बारोंयारइ रूपांतर। एइ ग्रंथ थेके सिद्धांत कॅरा जाय जे, खेयाल, टप्पा एवं ठुंग्री—एइ सबकटि गीतरूपइ मुघल आमल थेके चॅने आसछे। कोनटिर ऐतिह्यइ मुघलयुगेर परवर्ती कालेर नॅय". (मित्र, राज्येश्वर, "मुघल भारतेर संगीतचिन्ता", पृ० 33).

49. "तोहफ़तुलहिन्द" (बाबे पंजुम, फ़स्ल शशुम), पृ० 400.

50. वही पुस्तक (बाबे पंजुम, फ़स्ल हफ़्तुम), पृ० 400.

51. वही पुस्तक (बाबे पंजुम-फ़स्ल अव्वल), पृ० 333 व 334 तथा (बाबे पंजुम-फ़स्ल हफ़्तुम), पृ० 411.

52. वही पुस्तक, पृ० 419.

53. वही पुस्तक, पृ० 420.

54. वही पुस्तक, पृ० 400.

55. वही पुस्तक, पृ० 419.

56. वही पुस्तक, पृ० 418.

57. चतुर पण्डित, "श्रीमल्लक्ष्यसंगीतम्", परिशिष्ट, पृ० 7 (पाहाडिका), पृ० 21 (पाडी).

58. "तोहफ़तुल-हिंद" (बाबे पंजुम, फ़स्ल हफ़्तुम), पृ० 419.

59. वही, पुस्तक, पृ०, 418.

60. "रागदर्पण" (बाब चहारुम), पृ० 40.

61. "गावत रागिनी गुनि जन बरवा.
सैन्धवी काफ़ी मिलावत देसी ॥" (बरवा-लक्षण गीत).
(भातखण्डे, पं० वि० ना०, "क्र० पु० मा०", सहावें पुस्तक, पृ० 87).

62. वही पुस्तक, पृ० 86.

63. आचार्य बृहस्पति, "संगीत-चिन्तामणि", पृ० 395.

64. हकीम मोहम्मद करम इमाम, "मादनुल-मूसीक़ी", पृ० 154.

65. 'सुमन', डॉ० अम्बाप्रसाद, "हिन्दी और उसकी उपभाषाओं का स्वरूप", पृ० 158 व 159 (पैराग्राफ 11 व 12).

66. वही पुस्तक, पृ० 159 (पैराग्राफ 12).

67. (अ) वही पुस्तक, पृ० 163 (पैराग्राफ 1).
(आ) वर्मा डॉ० धीरेन्द्र, "हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास", प्रस्तावना, पृ० 29.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

68. THOOMRI. This is in an impure dialect of the Vrajbhasha." (Willard Captain N. Augustus, *A Treatise on the Music of Hindoostan*, p. 103).

69. मित्र, राज्येश्वर, "मुघल भारतेर संगीतचिंता", पृ० 10.

70. डॉ० उषा गुप्ता, "हिन्दी के कृष्णभक्तिकालीन साहित्य में संगीत", पृ० 214.

71. (अ) फ़कीरुल्लाह, "रागदर्पण", पृ० 85.

(आ) मिर्ज़ा ख़ान, "तोहफ़तुल-हिंद" (बाबे पंजुम, फ़स्ल हफ़्तुम), पृ० 400 से 420 तक.

(इ) व्यास, कृष्णानंददेव, "संगीतरागकल्पद्रुम" (रंगीनगान मजमुआ), पृ० 1 से 326 तक.

72. परांजपे, डा० शरच्चन्द्र श्रीधर, "भारतीय संगीत का इतिहास", पृ० 6.

73. "आलापादिनिबन्धो यः स मार्गो प्रकीर्तितः ॥" (बृहद्देशी, श्लोक संख्या 14)

74. "देशीत्वं च तत्तद्देशमनुजमनोरंजनैकफलत्वेन कामचारप्रवर्तितत्वम् ।" ('संगीतरत्नाकर", "कलानिधि", पृ० 115).

75. परांजपे, डा० शरच्चन्द्र श्रीधर, "भारतीय संगीत का इतिहास", पृ० 515.

76. वही पुस्तक, पृ० 6.

77. "लघ्वादितालो लोकेऽसौ रासः" ("संगीतरत्नाकर", पंचमस्तालाध्यायः).

आदिताल एक लघु ।=1 2 3 4

कहरवा ताल =1 2 3 4

78. (अ) धमार—ब्रज के नृत्ययुक्त लोकगीतों में से है। धमाल—राजस्थानी नृत्ययुक्त लोकगीतों में से है। धमाली—पूर्व बंगाल (अब बंगला देश) के सिलहट क्षेत्र के लोकगीतों व लोकनृत्यों में से है।

(आ) चांचरि या चांचर—गीत व नृत्य (इसी अध्याय में पृ० 69 व 70 देखिए)।

79. (अ) धमार (ब्रज), धमाल (राजस्थान) व धमाली (पूर्वबंग या बंगला देश का सिलहट क्षेत्र) गान के साथ नृत्य होता है।

80. (अ) लोक शैली में गाए जाने वाले ब्रज के धमार, राजस्थान के धमाल व सिलहट (बंगला-देश) के धमाली गीतों के साथ बजने वाला ताल, कहरवा के सदृश्य होता है।

(आ) महाराष्ट्र की ओर बजाए जाने वाले धुमाली ताल का ठेका भी कहरवा जैसा ही है।

(इ) "संगीतराज" में वर्णित धम्माली प्रबंध के साथ एकताली का प्रयोग बताया गया है। ("संगीतराज", प्रकीर्णप्रबन्ध नाम चतुर्थ परीक्षणम्, श्लोक संख्या 98)

एकताली, दो द्रुत 00=1 2 | 3 4
1 | 2

कहरवा ताल =1 2 3 4
×

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

81. 'शेष' चुन्नीलाल, अमर संगीतज्ञ सूरदास, "संगीत" (मासिक पत्रिका), अप्रैल-मई 1960. पृ० 34.
82. वही पत्रिका, पृ० 34.
83. 'सुमन', डॉ० अम्बा प्रसाद, "कृषक जीवन संबंधी ब्रजभाषा शब्दावली" (द्वितीय खंड), पृ० 336, पैराग्राफ़ 1171.
84. 'शेष' चुन्नीलाल, अमर संगीतज्ञ सूरदास; "संगीत" (मासिक पत्रिका), अप्रैल-मई 1960, पृ० 34.
85. वही पत्रिका, पृ० 34.
86. Otto Bochtlingk & Rudolph Roth, *Sanskrit Woerterbuch* चर्; पृ० 972, चर्चर ("पज्रेव चर्चरं जारं मरायु"—ऋग्वेद 10/106/7); चर्चरी व चर्चरिका.
87. वही पुस्तक, पृ० 972.
88. शाङ्गर्देव, "संगीतरत्नाकर", चतुर्थ प्रबंधाध्याय, श्लोक संख्या 290 व 291.
89. राजशेखर, "कर्पूरमंजरी" (सट्टक), चतुर्थ जवनिकान्तरम्, श्लोक संख्या 12 व 13.
90. "पौराणांसमुच्चरति चर्चरी ध्वनिः" (श्रीहर्ष, "रत्नावली", प्रथम अंक)
91. "पारम्भिय चच्चरी गीया" (सुपासनाह चरिय, "पाइअ सद्दमहण्णवो", पृ० 55).
92. पांडे, पं० बख़्शराम, "सांगीतशिखा", 58वें पृ० के पश्चात् "काशी भजनावली" के विज्ञापन के संदर्भ में प्रयुक्त 'चंचरी' शब्द।
93. "धिंगरि धिग चाँचरि करें" ("सूरसागर" पद संख्या 3475).
94. "सूरदास सब चाँचर खेलें" (वही, पद संख्या 2109).
95. "दोउ मिल 'चाँचर' गावत" (हितहरिवंश, "चौरासी पद", पदसंख्या 36).
96. (अ) चाँचर, "कबीर साहब का बीजक", पृ० 84.
 (आ) "फाग करहिं सब चाँचरि जोरी" (जायसी. "पद्मावत", 352/5)
 (इ) "चाँचरि झूमक कहे सरस राग" (तुलसीदास, "गीतावली", 7/22)
 (ई) "सूरदास सब चाँचर खेलें" ("सूरसागर" पदसंख्या 2109).
97. महाराणा कुंभा, "संगीतराज" p. 616, श्लोक संख्या 72 से 75 तक.
98. ओझा, डॉ० दशरथ व शर्मा, डॉ० दशरथ, "रास और रासान्वयी काव्य", भूमिका, पृ० 26 व 38.
99. शाङ्गर्देव, "संगीतरत्नाकर", चतुर्थ प्रबंधाध्याय, श्लोक संख्या 290, 291.
100. ओझा, डॉ० दशरथ व शर्मा, डॉ० दशरथ, "रास और रासान्वयी काव्य", पृ० 15 से 23 पर्यंत.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

101. "रत्नावली", प्रथम अंक.

102. (ततः प्रविशति चर्चरी)

विदूषकः—

मोत्ताहलिल्लाहरणुच्चग्राओ लास्सावसाणे चलिअंसुग्राओ ।
सिंचंति ग्रण्णोण्णमिमीग्र पेक्ख जंताजलेहिं मणिभाजणेहिं ।।

इदो ग्र (इतश्च)

परिब्भमन्तीग्र विचित्तवन्धं इमाइ दोसोलह णच्चणीग्रो ।
खेलन्ति तालाणुगदपदाओ तुहांगणे दीसइ दण्डरासो ।।

("कर्पूरमंजरी", चतुर्थ जवनिकान्तरम् 12-13)

103. ग्रोझा, डॉ॰ दशरथ व शर्मा, डॉ॰ दशरथ, "रास और रासान्वयी काव्य", पृ॰ 6 व 7 ("कर्पूरमंजरी" के अंश का हिंदी ग्रनुवाद).

104. "सुपासनाहचरिय", 23/55 लक्ष्मणगणि.

105. शार्ङ्गदेव "संगीतरत्नाकर", चतुर्थ प्रबंधाध्याय, श्लोक संख्या 32.

106. "संगीतरत्नाकर" तथा "संगीत सुधाकर", श्लोकांक 96 (द्वितोयोरागविवेकाध्यायः).

107. ग्रोझा, डॉ॰ दशरथ व शर्मा, डॉ॰ दशरथ "रास और रासान्वयी काव्य", भूमिका, पृ॰ 1,

108. वही पुस्तक, पृ॰ 120.

109. पिशल, डॉ॰ रिचर्ड, "प्राकृत भाषाओं का व्याकरण", पृ॰ 8, पैराग्राफ़ 6 तथा पृ॰ 10, पैराग्राफ़ 7.

110. ग्रोझा डॉ॰ दशरथ व शर्मा, डॉ॰ दशरथ, "रास और रासान्वयी काव्य", भूमिका, पृ॰ 124.

111. पिशल, डॉ॰ रिचर्ड, "प्राकृत भाषाओं का व्याकरण", पृ॰ 39, पैराग्राफ़ 22.

112. ग्रोझा डॉ॰ दशरथ व शर्मा, डॉ॰ दशरथ, "रास और रासान्वयी काव्य", भूमिका, पृ॰ 124.

113. वही पुस्तक, पृ॰ 41.

114. पिशल, डॉ॰ रिचर्ड, "प्राकृत भाषाओं का व्याकरण", पृ॰ 8, पैराग्राफ़ 6.

115. ग्रोझा, डॉ॰ दशरथ व शर्मा, डॉ॰ दशरथ, "रास और रासान्वयी काव्य, भूमिका, पृ॰ 134 व 135.

116. सुमन, डॉ॰ ग्रम्बाप्रसाद, "हिन्दी और उसकी उपभाषाओं का स्वरूप", पृ॰ 17, 18 व 159.

117. 'सुमन', डॉ॰ ग्रम्बाप्रसाद, "कृषक जीवन सम्बन्धी ब्रजभाषा शब्दावली" (दूसरा खण्ड), पृ॰ 362.

118. शार्ङ्गदेव, "संगीतरत्नाकर", पंचमस्तालाध्यायः.

119. वही पुस्तक, द्वितीयोरागाध्यायः, श्लोक सं॰ 94.

120. भातखण्डे, पं॰ विष्णु नारायण, "क्रमिक पुस्तक मालिका" (चौथे पुस्तक), पृ॰ 167.

121. शार्ङ्गदेव, "संगीत रत्नाकर", द्वितीयोरागाध्यायः, श्लोक सं॰ 102.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

122. भातखण्डे, पं० विष्णु नारायण, क्रमिक पुस्तक मालिका (सहावें पुस्तक), पृ० 297.
123. शार्ङ्गदेव, "संगीतरत्नाकर", पंचमस्तालाध्याय:, श्लोक सं० 290.
124. भातखण्डे, पं० विष्णु नारायण, "क्रमिक पुस्तक मालिका" (सहावें पुस्तक), पृ० 12.
125. वही (चौथें पुस्तक), शास्त्रीय माहिती, पृ० 49.
126. शार्ङ्गदेव, "संगीतरत्नाकर", पंचमस्तालाध्याय:, श्लोक सं० 294.
127. भातखण्डे, पं० विष्णु नारायण, "क्रमिक पुस्तक मालिका" (सहावें पुस्तक), पृ० 11.
128. वही (चौथें पुस्तक), शास्त्रीय माहिती. पृ० 49.
129. शार्ङ्गदेव, "संगीतरत्नाकर", पंचमस्तालाध्याय:, श्लोक सं० 294.
130. भातखण्डे, पं० विष्णुनारायण : क्रमिक पुस्तक मालिका (सहावें पुस्तक), पृ० 13 (तालांचे मात्रानियम व बोल).
131. डा० हेम भटनागर, "हिन्दी साहित्य के श्रृंगार-युग में संगीत-काव्य", पृ० 103.
132. पं० सुदर्शनाचार्य शास्त्री, "संगीत सुदर्शन", पृ० 160.
133. ब्रज के सुप्रसिद्ध रासधारी स्वर्गीय लाड़िलीशरण जी द्वारा बताए गए तथ्यानुसार.
134. "सूरसागर", पद सं० 1798.
135. शाङ्गंदेव, "संगीतरत्नाकर" चतुर्थप्रबन्धाध्याय:, श्लोक संख्या 290.
136. ओझा, डॉ० दशरथ व शर्मा, डॉ० दशरथ, "रास और रासान्वयी काव्य", भूमिका, पृ० 156.
137. वही पुस्तक, पृ० 161.
138. कल्लिनाथ, "कलानिधि", ("संगीतरत्नाकर", चतुर्थ प्रबंधाध्याय:), श्लोक सं० 295 क टीका.
139. "षोडशमात्रात्मकपादयुक्तं चच्चरीच्छन्दः अवगन्तव्यम् ।" (वही पुस्तक, श्लोक सं० 291 की टीका).
140. "पद्धडीप्रभृतिच्छन्दाः पादान्तप्रासशोभिता ।।292।।
अध्यात्मगोचरा चर्या स्याद्द्वितीयादितालतः" । (शार्ङ्गदेव, "संगीतरत्नाकर", चतुर्थी प्रबन्धाध्याय:)
141. वही पुस्तक, पंचमस्तालाध्याय:, श्लोक सं० 261.
142. वही पुस्तक, श्लोक सं० 261 (2).
143. तेति गिध इति शब्देन नर्त्तनं रास तालतः ।
अथवा चर्चरीतालाच्चतुरावर्तनैर्नटैः ।
क्रियते नर्त्तनं तत्स्याच्चर्चरी नर्त्तनं वरम् ।। (वेदः)
(ओझा, डॉ० दशरथ व शर्मा, डॉ० दशरथ, "रास और रासान्वयी काव्य", भूमिका, पृ० 39)
144. "लघ्वादितालो लोकेऽसौ रासः ।"
(शार्ङ्गदेव, "संगीतरत्नाकर", पंचमस्तालाध्याय:, श्लोक संख्या 261).
145. "एकमात्रो लघुः" (सिंहभूपाल, "सुधाकर", "संगीतरत्नाकर", पंचमस्तालाध्याय:, श्लोक संख्या 16 की टीका).

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

146. "पञ्चलघ्वक्षरोच्चारमिता मात्रेह कथ्यते ॥16॥
(शार्ङ्गदेव, "संगीतरत्नाकर" पंचमस्तालाध्याय)

147. (क) "देशीतालस्तु लघ्वादिमितया क्रियया मतः ।
यथाशोभं कास्यतालघ्वननादिक्रिया मतः ॥237॥"
(वही)

(ख) "अत्र यथाशोभमिति पदं देहलीप्रदीपन्यायेन,
काकाक्षिन्यायेन वोभयतो योजनीयम् ।"
"क्वचित्तु ततोऽपि न्यूनया चतुर्लघ्वक्षरोच्चारमितया कालसाम्यम् ।"
(कल्लिनाथ, "कलानिधि", पञ्चमस्तालाध्यायः, श्लोक सं० 237 की टीका)

148. "अन्यत्र तु ततोऽप्यधिकया षड्लघ्वक्षरोच्चारमितया ।"
(कल्लिनाथ, कलानिधि, पञ्चमस्तालाध्यायः, श्लोकसंख्या 237 की टीका)

149. "आदिताले त्वेकलघुश्चतुरक्षरसंमितः ।"
(व्यंकटमखी, "चतुर्दण्डिप्रकाशिका", स्वरप्रकरण, एकताल-अलंकार)

150. भातखण्डे, पं० विष्णुनारायण, "क्रमिक पुस्तक मालिका" (चौथे पुस्तक), शास्त्रीय माहिती, पृ० 49.

151. (क) "द्रुतेन त्वेकतालिका ॥290॥"
(ख) "पञ्चमस्तु द्रुतद्वयम् ।"
(ग) "लघ्वाद्यितालो लोकेऽसौ रासः ।"
(घ) "करणयतौ द्रुतचतुष्टयम् ।"
(ङ) "दौ लो द्वितीयकः ।"
(च) "गुरुणा करुणो मतः ।"
(छ) लौ द्वौ गुरुरुदीक्षणः ॥285॥
(शार्ङ्गदेव, "संगीतरत्नाकर", पञ्चमस्तालाध्यायः, श्लोक सं० 290, 262, 261, 297, 261, 303 व 285).

152. "नग़माते सरोद", (फ़ारसी की हस्तलिखित पुस्तक), पृ० 15.

153. (क) शार्ङ्गदेव "संगीतरत्नाकर", चतुर्थ प्रबन्धाध्याय, श्लोक सं० 291 व 292.
(ख) महाराणा कुंभा, "संगीतराज", गीतरत्नकोश, प्रबन्धोल्लास, प्रकीर्णप्रबन्ध परीक्षण, श्लोक सं० 72.

154. शार्ङ्गदेव, "संगीतरत्नाकर", पञ्चमस्तालाध्यायः, पृ० 148.

155. "द्रुताद् द्रुतौ विरामान्तौ तृतीयः स्यात्" (वही पुस्तक, श्लोक संख्या 261).

156. "द्रुतत्रयं विरामान्तं" (वही पुस्तक, श्लोक संख्या 301).

157. "हंसलीले विरामान्तं लघुद्वयमुदाहृतम् ॥267॥ (वही पुस्तक).

158. "डोम्बुली तु द्विलंघुः स्याद्विरामवत् ।" (वही पुस्तक, श्लोक सख्या 292).

159. "लौ द्रुतौ प्रतितालः स्यात्" (वही पुस्तक, श्लोक संख्या 283).

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

160. (क) तृतीय व

अंतरक्रीड़ाताल (0 0 δ) = 1 2 | 3 4 | 5 6 7
1 | 2 | 3

रूपकताल = 1 2 3 | 4 5 | 6 7
⊗ | 2 | 3

(ख) हंसलील व

डोम्बुलीताल (ſ ſ) = 1 2 3 4 5 | 6 7 8 9 10
1 | 2

झपताल = 1 2 | 3 4 5 | 6 7 | 8 9 10
× | 2 | 0 | 3

(ग) प्रतिताल (॥00) = 1 2 3 4 | 5 6 7 8 | 9 10 | 11 12
1 | 2 | 3 | 4

एकताल = 1 2 | 3 4 | 5 6 | 7 8 | 9 10 | 11 12
× | 0 | 2 | 0 | 3 | 4

161. (क) "मधुमासे तु संप्राप्ते शुक्लपक्षे चतुर्दशी ।
प्रोक्ता मदनभुञ्जीति सिद्धिदा तु महोत्सवे ॥
चैत्रे मासि चतुर्दश्यां मदनस्य महोत्सवे ।
जुगुप्सोक्तिभिस्तत्र गीतवाद्यादिभिर्नृणाम् ॥"
(स्कन्दपुराण)

(ख) 'मधु-माधवौ वसन्तः'
("कुट्टनीमतम्", पृ० 174 व 175).

162. (क) "रत्नावली", प्रथम अंक.
(ख) "कर्पूरमंजरी", चतुर्थ जवनिकान्तरम्.
(ग) "कुट्टनीमतम्", श्लोक संख्या 886 से 904 पर्यन्त.

163. ओझा, डॉ० दशरथ व शर्मा, डॉ० दशरथ, "रास और रासान्वयी काव्य", भूमिका, पृ० 100.

164 वही पुस्तक, पृ० 15 (चर्चरी).

165. वही पुस्तक, पृ० 15.

166. दामोदर गुप्त, "कुट्टनीमतम्" (शम्भलीमतम्), श्लोक सं० 886 व 904.

167. राजशेखर, "कर्पूरमंजरी", चतुर्थ जवनिकान्तरम्.

168. ओझा, डॉ० दशरथ व शर्मा, डॉ० दशरथ, "रास और रासान्वयी काव्य", भूमिका, पृ० 39.

169. इसी अध्याय में पृ० 71 देखिए.

170. स्वर्गीय नरेन्द्रराय नानाभाई शुक्ल द्वारा बताए गए तथ्यानुसार.

171. मीतल, प्रभुदयाल, "व्रज का सांस्कृतिक इतिहास" षष्ठ अध्याय, पृ० 163 व 164.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

172. "पार्वती त्वनुशास्ति स्म लास्यं बाणात्मजामुषाम् ॥5॥
तया द्वारावतीगोप्यस्ताभिः सौराष्ट्रयोषितः ।
ताभिस्तु तत्तद्देशीयास्तदशिष्यन्त योषितः ॥6॥"
(नन्दिकेश्वर, "अभिनयदर्पण")

173. 'सुमन', डॉ॰ अम्बाप्रसाद, "हिन्दी और उसकी उपभाषाओं का स्वरूप, पृ॰ 17 व 18.

174. Apte, V.S., *The Students Sanskrit-English Dictionary*, p. 435 (मानं).

175. (क) वही पुस्तक, पृ॰ 234.
(ख) "तालस्तलप्रतिष्ठायामिति"
(शार्ङ्गदेव, "संगीतरत्नाकर", पञ्चमस्तालाध्यायः, श्लोक सं॰ 2)

176. (क) "विश्रान्तियुक्तया काले क्रियया मानमिष्यते ॥43॥"
(शार्ङ्गदेव, "संगीतरत्नाकर", पञ्चमस्तालाध्यायः)
(ख) "मानम्; तालानां प्रमाणम्"
(कल्लिनाथ, "कलानिधि", 43)
(ग) "केचित् विश्रान्तियुक्तया काले तालरूपक्रियया मानमित्युच्यते ।"
(सिंहभूपाल, "सुधाकर", 43)

177. ओझा, डॉ॰ दशरथ व शर्मा, डॉ॰ दशरथ, "रास और रासान्वयी काव्य", भूमिका, पृ॰ 9.

178. अष्टौ षोडश द्वात्रिंशद्यत्र नृत्यन्ति नायिकाः ।
पिण्डीबन्धानुसारेण तन्नृत्तं रासकं स्मृतम् ॥
(शंकर, "संकेत")

179. "षोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन्नृत्यन्ति नायिकाः ।
पिण्डीबन्धादिविन्यासैः रासकं तदुदाहृतम् ॥"
(शारदातनय, "भावप्रकाश")

180. (क) Thakur Jaideva Singh, Evolution of Thumari, "कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका", 1965, पृ॰ 36.
(ख) Pant, Chandra Shekhar, Literary Aspect of Thumari, "कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका," 1965, पृ॰ 41.

181. तेति गिध इति शब्देन नर्त्तनं रासतालतः ।
अथवा चर्चरीतालाच्चतुरावर्तनैर्नटैः ।
क्रियते नर्त्तनं तत्स्याच्चर्चरी नर्त्तनं वरम् ॥ (वेद)

182. स्वर्गीय नरेन्द्रराय नानाभाई शुक्ल से प्राप्त.

183. भातखण्डे, पं॰ विष्णु नारायण, "क्रमिक पुस्तक मालिका" (सह्रावें पुस्तक), पृ॰ 209.

184. ओझा, डॉ॰ दशरथ व शर्मा, डॉ॰ दशरथ, "रास और रासान्वयी काव्य", भूमिका, पृ॰ 26 व 38.

185. वही पुस्तक, भूमिका, पृ॰ 1.

186. वही पुस्तक, भूमिका, पृ॰ 13.

187. वही पुस्तक, भूमिका, पृ॰ 41.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

188. पाण्डे, डॉ० (श्रीमती) वीणापाणि, "हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक विवेचन", चौथा अध्याय, पृ० 106.

189. "हरिवंश" (उत्तरार्ध), छलिक्यक्रीडा (89), श्लोक संख्या 7, 24, 30, 68.

190. Dr. V. Raghavan, *Bhoja's Shringar Prakash*, p. 371.

191. "हरिवंश:" (उत्तरार्ध), विष्णुपर्व, छालिक्यक्रीडा (89).

192. "छालिक्यगेयं बहुसन्निधानं यदेव गान्धर्वमुदाहरन्ति ॥67॥ (वही पुस्तक)

193. अनादि संप्रदायं यद्गन्धर्वैः संप्रयुज्यते ।
नियतं श्रेयसो हेतुस्तद्गान्धर्वं जगुर्बुधाः ॥2॥
(शार्ङ्गदेव, "संगीतरत्नाकर", चतुर्थ प्रबन्धाध्यायः)

194. यत्तु वाग्गेयकारेण रचितं लक्षणान्वितं ।
देशीरागादिषु प्रोक्तं तद्गानं जनरंजनम् ॥3॥
(शाङ्गदेव, "संगीतरत्नाकर", चतुर्थ प्रबन्धाध्यायः)

195. परांजपे, डॉ० शरच्चन्द्र श्रीधर, "भारतीय संगीत का इतिहास" पृ० 202.

196. हरिवंशः, भविष्य पर्व, छालिक्यक्रीडा (89), श्लोकांक 5, 6, 7.

197. (क) 'इदं तु शृंगारवीररसप्रधानत्वात् छलिकम् ।"
(S.K.A., p. 263)

(ख) "देव ! शर्मिष्ठाया: कृति चतुष्पदोद्भवं छलित दुष्प्रयोगमुदाहरन्ति ।"
("मालविकाग्निमित्र", प्रथम अंक)

(ग) "संपाठ्य, मानसी काव्यक्रिया, अभिधानकोपः, छन्दोज्ञानम्, क्रियाकल्पः, छलितकयोगाः" । ("कामसूत्र").

198. Otto Boehtlingk & Rudolph Roth, *Sanskrit Woerterbuch*, p. 1083.

199. (क) "छलियं णाम णट्टअं (छलिकं नाम नर्तकं)"
Otto Boehtlingk & Rudolph Roth, *Sanskrit Woerterbuch*, p. 1083.

(ख) Dr. V. Raghavan, *Bhoja's Shringar Prakash*, p. 537, 545, 555, 556, and 589.

200. (क) 'तदेव छलिकं साक्षदभिनीयते ।'
(कालिदास, "मालविकाग्निमित्र", प्रथम अंक)

(ख) 'छलिकं छद्मना वृत्तम्' (हृदयंगमा)
(वही पुस्तक, पृ० 556).

201. 'यस्य पदार्थाभिनयं ललितलयं सदसि नर्तकी कुरुते ।
तन्नर्तनकं शम्यालास्यच्छलिकद्विपचादि ॥'
(भोज, "शृंगारप्रकाश")

202. 'छलितलक्षणं यथा—रतिक्रोधोत्साहभावप्रधानं छलिकं स्मृतम् । इति ॥'
(भोज, "शृंगारप्रकाश")

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

203. कालिदास, "मालविकाग्निमित्र", प्रथम अंक.
204. मीतल, प्रभुदयाल, "ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास", षष्ठ अध्याय, पृ० 164, 168 व 194.
205. ओझा, डॉ० दशरथ व शर्मा, डॉ० दशरथ, "रास और रासान्वयी काव्य", भूमिका, पृ० 1 से 110 तक.
206. वही पुस्तक, भूमिका, पृ० 13.
207. 'रास' ना लक्षणमां नर्त्तकीनुं प्राधान्यछे; एटले के ए एवो प्रबंध जोइए के जे जुदा जुदा राग मां गवातो होय अने साथे नर्तकीओ अंदर नाचती जती होय।

(गुजराती साहित्य नां रूपरेखा, पृ० 74.)

208. बाण, "हर्षचरितम्", चतुर्थ उच्छ्वास, श्लोक सं० 97.
209. 'अश्लीलानि ग्राम्याणि' (शंकर : 'संकेत' व्याख्या, श्लोक सं० 97).
210. ओझा, डॉ० दशरथ व शर्मा, डॉ० दशरथ, "रास और रासान्वयी काव्य", भूमिका, पृ० 352.
211. वही पुस्तक, भूमिका, पृ० 5.
212. वही पुस्तक, भूमिका, पृ० 176.
213. वही पुस्तक, भूमिका, पृ० 176
214. "चक्रुर्हसन्त्यश्च तथैव रासं तद्द् शभापाकृतिवेशयुक्ताः।"

("हरिवंशः", छलिक्यक्रीड़ा (89), श्लोक सं० 7)

215. ओझा, डॉ० दशरथ व शर्मा, डॉ० दशरथ, "रास और रासान्वयी काव्य" भूमिका, पृ० 1.
216. वही पुस्तक, भूमिका, पृ० 41.
217. वही पुस्तक, भूमिका, पृ० 12 व 176.
218. वही पुस्तक, भूमिका, पृ० 176
219. शाङ्र्गदेव, "संगीतरत्नाकर", पञ्चमस्तालाध्यायः, श्लोक सं० 261.
220. वही पुस्तक, चतुर्थ प्रबन्धाध्याय, श्लोक सं० 175, 176 तथा 352.
221. 'शरर' अब्दुल हलीम, "गुज़श्ता लखनऊ" (पुराना लखनऊ), पृ० 168.
222. वही पुस्तक, पृ० 52 व 53.
223. वही पुस्तक, पृ० 168.
224. "लास्यमंजरी", श्लोक सं० 117.
225. धनिक, "अवलोक" (दशरूपक के श्लोकांक 8 की व्याख्या).
226. ओझा, डॉ० दशरथ व शर्मा, डा० दशरथ, "रास और रासान्वयी काव्य", भूमिका, पृ० 11.
227. Dr. V. Raghavan, *Bhoja's Shringar Prakash*, p. 534 and 546 :

1. श्रीगदित, 2. दुर्मिलिका (या-ता), 3. प्रस्थान, 4. काव्य, 5. भाण, 6. भाणिका, 7. गोष्ठी, 8. हल्लीसक, 9. नर्तनक, 10. प्रेक्षणक, 11. रासक तथा 12. नाट्य-रासक (इसे चर्चरी भी कहा जाता है).

228. "लास्यमंजरी", श्लोक सं० 108, 109 तथा "नृत्तरत्नावली" 91-96.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

229. Dr. V. Raghavan, *Bhoja's Shringar Prakash*, p. 534 and 546.
230. "भरतकोष", पृ० 551.
231. "लास्यमंजरी", श्लोक सं० 121 तथा "नृत्तरत्नावली" 7/100.
232. "भरतकोष", पृ० 320.
233. वही पुस्तक, पृ० 551.
234. ओझा व डॉ० दशरथ व शर्मा, डॉ० दशरथ "रास और रासान्वयी काव्य", भूमिका, पृ० 25 व 26.
235. इसी अध्याय में पृ० 71 देखिए.
236. Dr. V. Raghavan, *Bhoja's Shringar Prakash*, p. 560.
237. प्रथम अध्याय में पृ० 8 देखिए.
238. Willard. Captain N. Augustus, *A Treatise on the Music of Hindoostan*. p. 103.
239. 'नाटी' शब्द स्पष्टतः नाट्य या नाट्यरासक से संबद्ध दिखाई पड़ता है.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

4

ठुमरी का इतिहास

कला की किसी भी विधा की उपलब्धि तथा जनसमाज में उसके प्रचार, प्रसार, लोकप्रियता व प्रतिष्ठापना इत्यादि की व्यापक प्रगति को उसके इतिहास से ही समझा जा सकता है। अतः इस दृष्टि से ठुमरी के इतिहास का अध्ययन व पर्य-वेक्षण अत्यंत महत्वपूर्ण है।

ठुमरी मूलतः कैशिकी वृत्ति के आश्रय से नृत्य व भावाभिनय सहित गाई जाने वाली स्त्रियोचित, सुकुमार, मधुर व ललित गानविधा है। शास्त्रों के अनुसार श्रृंगाररसात्मक स्त्रीप्रधान नृत्य-गीत को कैशिकी वृत्तिके अंतर्गत माना गया है, जैसे

(i) "कैशिकी श्लक्ष्णनैपथ्या श्रृंगाररससम्भवा ।। 45 ।।
न शक्या पुरुषैः साधु प्रयोक्तुं स्त्रीजनादृते।"
(भरत, नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय)

(ii) "याश्लक्ष्णनेपथ्याविशेषचित्रा स्त्रीसंयुता बहुनृत्तगीता।
कामोप्रभोगप्रभवोपचारा तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति ।। 46 ।।
(भरत, नाट्यशास्त्र, द्वाविंशोध्यायः)

कैशिकीवृत्यात्मक गीत, नृत्य व भावाभिनय को सुकुमार, ललित व मधुर विधा कहा गया है, जैसे

(i) "………………तत्र कैशिकी।
गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुः श्रृंगारचेष्टितैः ।। 47 ।।"
"श्रृंगाराकारचेष्टात्वं सहज ललितं मृदु।" (14)
"सुकुमारांगविन्यासो मसृणो ललितं भवेत् ।।" 41 ।।
(धनंजय, दशरूपक, द्वितीय प्रकाश)

(ii) ललितैरक्षरैर्युक्तं श्रृंगाररसरञ्जितम्।
श्रव्यनादसमायुक्तं मधुरं प्रमदाप्रियम् ।। 84 ।।
(पार्श्वदेव, संगीतसमयसार, द्वितीय अध्याय)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार ब्रह्मा ने अप्सराओं की सृष्टि ही शृंगारात्मक कैशिकी वृत्ति के प्रयोग के लिए की ।[1] इससे ज्ञात होता है कि कैशिकी मूलतः स्त्रियोचित वृत्ति है और अत्यंत प्राचीनकाल से ही भारतीय समाज में नृत्य गान की ललित विधा का प्रदर्शन मुख्यतः स्त्रियों द्वारा होता रहा है । सुकुमार अर्थात् मधुर नृत्य, नाट्य (अभिनय) और गान के समन्वय का एक प्राचीनतम स्वरूप हल्लीसक या रास था, जिसके प्रथम प्रयोक्ता, यद्यपि स्वयं भगवान श्रीकृष्ण माने जाते हैं, परंतु शृंगारात्मक ललित विधा होने के कारण, रास और उसके भेद नाट्यरासक तथा चर्चरी के नृत्य गान प्रयोग में स्त्रियों की ही प्रधानता रही है ।[2]

संस्कृत साहित्य के **रामायण, महाभारत,** भरत कृत **नाट्यशास्त्र, हरिवंश पुराण, चतुर्भाणी, मालविकाग्निमित्र, हर्षचरित, रत्नावली, कर्पूरमंजरी, कुट्टनीमतम्, शृंगारप्रकाश** और प्राचीन बौद्ध तथा जैन ग्रंथों से विदित होता है कि भारतीय जन-जीवन में प्राचीनकाल से ही विभिन्न सामाजिक उत्सवों और पर्वों पर कैशिकी वृत्ति का आश्रय लेकर नृत्यगान का प्रदर्शन संगीत व्यवसायिनी अप्सराओं, वारांगनाओं, गणिकाओं और वेश्याओं द्वारा किए जाने की प्रथा रही है । अतः शृंगारात्मक ललित और स्त्रियोचित विधा होने के कारण ठुमरी का गान और भावाभिनय भी मध्ययुगीन वैशिक संस्कृति का विशेष अंग रहा है ।

उन्नीसवीं शताब्दी के राजा सौरीन्द्र मोहन ठाकुर, श्री कृष्णधन बनर्जी और बीसवीं शताब्दी के पंडित सुदर्शनाचार्य एवं पंडित विष्णु नारायण भातखंडे प्रभृति ग्रंथकारों ने भी ठुमरी गान को मूलतः वेश्याओं से संबद्ध बताया है ।[3] श्री लक्ष्मण दत्तात्रेय जोशी की सूचनानुसार सन् 1772 में पेशवा की नौकरी में हीरा नामक एक अत्यंत रूपवती वेश्या थी, जो कि ठुमरी के गान और भावाभिनय में अत्यंत प्रवीण थी ।[4]

श्री सौरीन्द्र मोहन ठाकुर के अनुसार ठुमरी का गान पहले नाचने वाली तवायफ़ें करती थीं ।[5] श्री ठाकुर के समय वेश्याओं द्वारा गायी जाने वाली 'हिल मिल पनियाँ०' यह ठुमरी बड़ी लोकप्रिय थी ।[6] श्री कृष्णधन बनर्जी ने भी ठुमरी गान को वेश्याओं से संबंधित बताया है ।[7] पंडित सुदर्शनाचार्य ने तो उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य, सेनिया वंश के सुप्रसिद्ध सितारिये रहीमसेन के साथ लखनऊ में हुई, एक वेश्या की संगीत प्रतिस्पर्धा का उल्लेख किया है, जिसमें उसने 'मोरा पिया जोगिया हो गया०' यह ठुमरी भाव-प्रदर्शन के साथ गाई थी ।[8] इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि उन्नीसवीं शताब्दी तक ठुमरी प्रमुखतया वेश्याओं द्वारा ही भाव-प्रदर्शन-सहित गाई जाती रही ।

उत्तर भारत में ध्रुवपद तथा ख्याल आदि गान-विधाओं के गायकों; वीणा, सितार, सरोद, पखावज तथा तबला-वादकों और कथक नर्तकों के विभिन्न घरानों का इतिहास तो मिलता है, परंतु ठुमरी गायिकाओं और नर्तकियों के विभिन्न घरानों का इतिहास नहीं मिलता । इसका कारण है कि केवल कुछ जनजातियों को छोड़कर शेष भारतीय समाज मुख्य रूप से पितृसत्तात्मक अर्थात् पुरुषप्रधान है । अतएव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भारतीय संगीत के विभिन्न घरानों की प्रतिष्ठापना भी वंशगत गायकों, वादकों और नर्तकों के आधार पर हुई है। संगीत के वैशिक घराने मातृसत्तात्मक अर्थात् स्त्रीप्रधान होने के कारण समाज में प्रतिष्ठित न हो सके। अतः मूलतः वेश्याओं द्वारा गाए जाने के कारण आज ठुमरी के घरानों का इतिहास नहीं मिलता।

संगीत क्षेत्र में वैशिक घरानों के प्रतिष्ठित न हो सकने पर भी गणिकाओं या वेश्याओं को गान और नृत्य की शिक्षा, इन कलाओं के उत्तम घरानेदार आचार्यों द्वारा दी जाती रही है। यह प्रथा भारतीय वैशिक समाज में अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही है। कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में बताया है कि गणिका, दासी तथा अभिनेत्रियों को संगीत, नाट्य आदि वैशिक कलाएँ सिखाने के लिए योग्य आचार्यों का प्रबंध राज्य की ओर से होना चाहिए।[9]

सत्रहवीं शताब्दी में लिखित रागदर्पण और तोहफ़तुलहिंद ग्रंथों से पता चलता है कि उस समय भी ठुमरी गाने का प्रचलन था।[10] आगे चलकर उन्नीसवीं शताब्दी में कैप्टेन विलर्ड कृत ए ट्रीटिज ऑन दि म्यूज़िक ऑफ हिन्दुस्तान ग्रंथ से ठुमरियों की रचनाएँ ब्रजभाषा में होने की पुष्टि होती है।[11] इससे ज्ञात होता है कि प्रारंभ में ठुमरियाँ ब्रजभाषा में गाई जाती थीं और कालांतर में उत्तर भारत के मध्यदेश में राजस्थान से लेकर उत्तरप्रदेश तक उनका व्यापक प्रचार व प्रसार हुआ।

भारत की सांस्कृतिक गतिविधियों में मध्यदेश के केंद्र में स्थित ब्रज क्षेत्र का अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान रहा है। कथक नृत्य उत्तर भारत की एक सुसंस्कृत और शास्त्रीय नृत्यविधा है। ठुमरी और कथक नृत्य, दोनों के विषय ब्रज के कृष्णचरित्र, रास और मध्यकालीन रीति साहित्य से अनुप्राणित हैं। दोनों का विकास और प्रसार-क्षेत्र भी मुख्यतः मध्यदेश रहा है। इस प्रकार विषयवस्तु, शैली, विकास व प्रसारक्षेत्र की एकता के कारण ठुमरी और कथक नृत्य में परस्पर समन्वय होना स्वाभाविक ही था। परिणामतः कथक नृत्यशैली द्वारा ठुमरी को भावाभिव्यंजित करने की प्रथा रूढ़ हो गयी और इसीलिए मध्ययुग से विभिन्न सामाजिक उत्सवों व समारोहों पर, वेश्याओं द्वारा ठुमरी गान के साथ-साथ उसके बोलों का अर्थभाव (पदार्थाभिनय) कथक नृत्यशैली के माध्यम से किया जाता रहा है। पदार्थाभिनय सहित ठुमरी गान की कलापूर्णता के लिए गायकों के साथ-साथ कथकनर्तकों का सहयोग भी अपेक्षित था। अतः वैशिक समाज में, गान और कथक नृत्य, दोनों कलाओं के घरानेदार गुणियों द्वारा ठुमरी सिखाई जाने की परंपरा रही है।[12]

उत्तर भारत में वेश्याओं के गान और नृत्य के साथ स्वर-संगति के लिए सारंगी और ताल-संगति के लिए तबला वाद्य के प्रयोग की परंपरा रही है। अतएव वैशिक संगीत में सारंगीवादकों और तबलावादकों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

उत्तरभारतीय संगीत में गाने की संगति के लिए सारंगी एक सर्वश्रेष्ठ वाद्य के रूप में प्रतिष्ठित है। गाने की जितनी बारीकियाँ सारंगी में अनुकृत होती हैं,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उतनी संभवतः अन्य वाद्य में नहीं। भारतीय संगीत में गान की प्रधानता और वाद्य तथा नृत्य के तदाश्रित होने के कारण परंपरागत रूप में प्रत्येक वादक को वाद्य सीखने के पूर्व, गाने की शिक्षा लेना अनिवार्य रहा है। संगति वाद्य होने के कारण सारंगी-शिक्षार्थियों के लिए तो यह और भी आवश्यक था। इसीलिए अनेक संगीतज्ञ प्रमुख रूप से घरानेदार सारंगीवादक होने के साथ-साथ उत्तम गायक भी हुए हैं और उनमें से कुछ लोगों ने तो आगे चलकर सारंगी बजाना छोड़कर गाने में ही प्रसिद्धि प्राप्त की।

वैशिक संगीत में सारंगी स्वर-संगति का महत्वपूर्ण वाद्य होने के कारण सारंगीवादकों ने भी वैशिक संगीत की विशेषताओं को आत्मसात कर लिया। इनमें से कई सारंगीवादक तो वैशिक समाज में ही उत्पन्न हुए थे। इसलिए स्वभावतः वैशिक संगीत की विधाओं में पारंगत होने के कारण, गाने की संगति करने के साथ-साथ वे प्रायः वेश्याओं को ठुमरी गान सिखाने का कार्य भी करते थे। इस प्रकार वैशिक समाज के साथ गायकों, सारंगीवादकों, तबलावादकों और कथकनर्तकों का घनिष्ठ संबंध रहा; जिनमें विशेषकर मिरासी, ढाढ़ी, कथक, भाँड तथा डेरेदार इत्यादि संगीतजीवी जातियों के गुणी थे।[13] अतएव ठुमरी के विकास में इन सभी का योगदान रहा है।

ठुमरी के विकास में अनेक घरानेदार संगीतज्ञों का योगदान होने पर भी उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक जन समाज में ठुमरी का गान और भावप्रदर्शन मुख्यतः वेश्याओं द्वारा होता रहा तथा घरानेदार संगीतज्ञ उसे नीची नज़र से देखते रहे। जिस प्रकार अठारहवीं शताब्दी में दिल्ली के सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ नेमत ख़ाँ 'सदारंग' ने यद्यपि अनेक ख्यालों की रचना कर, उन्हें अपने शिष्यों शिष्याओं को सिखाया, परंतु उन्होंने ख्याल गान को स्त्रैण (ज़नाना) छुद्र व अपनी मर्यादा के प्रतिकूल समझ कर किसी संगीत सभा में स्वयं ख्याल नहीं गाया[14] और वे जीवन भर ख्याल को ध्रुवपद की अपेक्षा हेय दृष्टि से देखते रहे। उसी प्रकार, यद्यपि अनेक घरानेदार गुणी संगीतज्ञों ने ठुमरी की रचना व विकास में योग दिया और उसकी शिक्षा वे वेश्याओं को देते भी रहे, परंतु बहुत समय तक ठुमरी को स्त्रियोचित (ज़नाना) और नर्तकियों की गानविधा मानते हुए उसे महफिलों में स्वयं गाना अपनी मर्यादा के विरुद्ध समझते रहे। अतएव ठुमरी को बहुत समय तक छुद्र और हेय समझकर उच्च संगीत के अंतर्गत उसकी गणना नहीं की गई।

सोलहवीं शताब्दी में अकबर के समय से मुग़ल दरबारों में ध्रुवपद गान की परंपरा आरंभ हुई और यह परंपरा अठारहवीं शताब्दी के मुग़ल शासक मुहम्मद शाह 'रँगीला' के समय तक चलती रही। औरंगज़ेब के परवर्ती मुग़ल-शासन के पराभव काल में विलासिता अधिक बढ़ने के कारण वेश्याओं के संपर्क और प्रभाव से शासकों की रुचि वैशिक संगीत के प्रति भी बढ़ी। अठारहवीं शताब्दी के मुग़ल शासक जहाँदार शाह और मुहम्मद शाह 'रँगीला' इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। वैशिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रभाव बढ़ने पर भी उस समय तक वैशिक संगीत मुख्यतः शासकों के अंतःपुर तक ही सीमित रहा। राजदरबारों में वह समादृत न हो सका। वहाँ ध्रुवपद गान की ही प्रधानता रही। यद्यपि मुहम्मद शाह 'रँगीला' की अभिरुचि और उसके दरबारी संगीतज्ञ नेमत ख़ाँ 'सदारंग' के प्रयत्नों से उस समय ख्याल गान का प्रचार बढ़ रहा था, परंतु श्रेष्ठता और राजकीय सम्मान ध्रुवपद को ही प्राप्त था। कालांतर में जैसे-जैसे ख्याल गान की लोकप्रियता बढ़ती गई वैसे-वैसे ध्रुवपद गान प्रचार से हटता गया। इस संबंध में पं० सुदर्शनाचार्य का कथन है "इस ख्याल की गवाई ने धुरपत और आलाप में अरुचि का बीज बो दिया जो इस समय खूब लहरा रहा है। तदनंतर ठुमरी-टप्पे ने ख्याल से भी अरुचि उत्पन्न कर दी"।[15]

रागदर्पण और तोहफ़तुलहिंद जैसे ग्रंथों से, यद्यपि ठुमरी को सत्रहवीं शताब्दी में गाए जाने का उल्लेख मिलता है और उसके पश्चात् अठारहवीं से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक ठुमरी की गीत रचनाओं और वेश्याओं द्वारा नृत्याभिनय सहित ठुमरी गान-प्रयोग के उल्लेख भी यत्र-तत्र मिलते हैं, परंतु ठुमरी को विकास, प्रचार और संगीतक्षेत्र में प्रतिष्ठित होने का अवसर, आगे चलकर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में, अवध प्रदेश के तत्कालीन शासक वाजिद अली शाह के लखनऊ दरबार के रंगीन वातावरण में मिला।

अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में अवध के नवाब आसफ़ुद्दौला के समय वहाँ की राजधानी लखनऊ संगीत और कथक नृत्य का गढ़ बन चुकी थी।[16] उस समय से ही धीरे-धीरे वहाँ के लोगों में ठुमरी-गान के प्रति अभिरुचि बढ़ने लगी थी और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में तो ठुमरी का आकर्षण इतना बढ़ गया था कि लखनऊ के रईसों की प्रसन्नता के लिए तत्कालीन सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ ग़ुलाम रज़ा सितार पर ठुमरियाँ बजाने लगे थे।[17] ठुमरी की लोकप्रियता और उसके प्रभाव के संबंध में उस युग के संगीत ग्रंथकार कैप्टेन विलर्ड ने स्पष्ट कहा है कि ठुमरी की विधा इतनी सजीव और अद्भुत है कि उसे सुनने का आनंद श्रोता कभी नहीं भूलता। ठुमरी का विषय ही ऐसा है कि उसे शब्दों में वर्णन करना संभव नहीं; उसके गीतों का चित्ताकर्षक प्रभाव, सुनकर ही अनुभव किया जा सकता है।[18] इससे ज्ञात होता है कि वाजिद अली शाह के पूर्व ही ठुमरी के विकास और प्रचार के लिए अनुकूल वातावरण निर्मित होने लगा था।

वाजिद अली शाह का जन्म सन् 1822 में हुआ और वे सन् 1847 में पच्चीस वर्ष की आयु में अवध की राजगद्दी पर बैठे।[19] वाजिद अली शाह एक कलात्मक प्रतिभा संपन्न रसिक व्यक्ति ही नहीं; अपितु संगीत, काव्य, नाट्यादि कलाओं के मर्मज्ञ होने के साथ-साथ ललित कलाओं के पृष्ठ पोषक भी थे। मुहम्मद करम इमाम के कथनानुसार ललित कलाओं की प्रत्येक विधा पर वाजिद अली शाह का उत्तम अधिकार था और उनकी राजधानी लखनऊ में प्रत्येक कला के मर्मज्ञ, विशेषतः उच्चकोटि के संगीतज्ञ, विद्यमान थे।[20] अनेक आनुवंशिक उत्तम गायक, वादक तथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कथक नर्तक तत्कालीन लखनऊ दरबार से संबद्ध थे। वाजिद अली शाह कृत बनी नामक पुस्तक से ज्ञात होता है कि इनमें से कई संगीतज्ञ, उनकी बेगमों को नियमित रूप से संगीत की शिक्षा दिया करते थे।[21] संगीतज्ञों के अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों की तत्कालीन उत्तम एवं श्रेष्ठ गायिकाओं व नर्तकियों का भी लखनऊ और वहाँ के राजदरबार से घनिष्ठ संबंध था। स्वयं वाजिद अली शाह ने अपने दरबारी कथक नर्तक ठाकुरप्रसाद जी व उनके भाई दुर्गाप्रसाद जी से नृत्य की शिक्षा ली थी।[22] वाजिद अली शाह कथक नृत्य में इतने निष्णात थे कि दिल्ली दरबार के प्रसिद्ध कथक नर्तक लल्लू जी नटवे के शिष्य मुहम्मदबख्श उपनाम 'कन्हैया' ने बाद में उनसे भी नृत्य सीखा।[23] ताल और लय पर वाजिद अली शाह का इतना अद्भुत अधिकार था कि उन्होंने निसारअली पखावजी को तीन वर्ष की अवधि में धीमे तिताले में बावन प्रकार की लय सिखाई थी।[24] इसके अतिरिक्त अन्य कई गायकों, वादकों और नर्तकों ने वाजिद अली शाह का शिष्यत्व ग्रहण किया था।[25]

वाजिद अली शाह संगीत और नाट्य के अनन्य प्रेमी और प्रयोक्ता थे। उनका इन्दरसभा संगीतनाट्य तो आगे चलकर उर्दू नाटकों का आदर्श ही बन गया। इसीलिए उन्हें आधुनिक उर्दू रंगमंच का जनक भी कहा गया है।[26] उन्होंने संगीत और नाट्यप्रयोग के लिए अपने अंतःपुर में स्त्रियों की 'परीखाना' नामक एक मंडली बनाई थी, जिसमें अनेक उत्तम गायिकाएँ एवं नर्तकियाँ थीं और उनमें से तो कई संगीतजीवी वर्ग की ही थीं। जैसे उमराव उर्फ 'सिकंदरमहल,' हूरबेगम डोमिनी, साहिबखानम, मोतीखानम, गुलबदन डोमिनी, नन्ही, गन्ना, दिलबर, हैदरी इत्यादि।[27] परीखाना की इन गायिकाओं व नर्तकियों को गाने और नृत्याभिनय की शिक्षा देने के लिए राजदरबार के अनेक संगीतज्ञ और कथक नर्तक नियुक्त थे।[28]

स्त्रियों की इस 'परीखाना' मंडली के सहयोग से वाजिद अली शाह प्रायः संगीतप्रधान नृत्यनाट्य अभिनीत किया करते थे, जिनमें रहस और इन्दरसभा प्रमुख थे। रहस, संस्कृत रास शब्द का ही अपभ्रंश है, जोकि कृष्णचरित्र के रासलीला से संबद्ध है। लखनऊ में रासलीला का प्रचार व्रज के रासधारियों द्वारा हुआ था और वाजिद अली शाह को रहस (रास) की प्रेरणा उन्हीं रासधारियों से मिली थी। इस संबंध में अब्दुल हलीम 'शरर,' जिनका बचपन वाजिद अली शाह के सानिध्य में गुज़रा था, लिखते हैं "रहस, खास मथुरा और व्रज की कला है। वहीं के रहस-धारियों ने आ आकर लखनऊ को इसका शौक़ दिलाया। वाजिद अली शाह को जब रहस पसंद आया तो उन्होंने अपनी रुचि और अपने काल्पनिक प्लाट (विषयवस्तु) का एक नया रहस तैयार किया"।[29]

एक अन्य स्थल पर 'शरर' लिखते हैं : "बादशाह ने श्रीकृष्ण जी का रास, जो हिंदुओं में प्रचलित है, देखा था और श्रीकृष्ण जी की प्रणयलीला ऐसी पसंद आ गई थी कि इस रास से ड्रामे के तौर पर एक खेल (नाट्य) बनाया था जिसमें खुद कन्हैया बनते, बेगमें गोपियाँ बनतीं और नाचरंग की महफ़िलें गर्म होतीं"।[30]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इन्दरसभा स्वर्गलोक के राजा इन्द्र के दरबार की अप्सरा 'सब्ज़परी' और सिंहलद्वीप (भारत) के राजकुमार 'गुलफ़ाम' के प्रणय पर आधारित नृत्यप्रधान संगीतनाट्य है, जिसे वाजिद अली शाह की आज्ञा से लखनऊ के तत्कालीन सुप्रसिद्ध शायर (कवि) सैयद आग़ाहसन 'अमानत' ने रहस (रास) के आधार पर लिखा था और उसे भी एक प्रकार का रहस ही समझा जाता था।[31] इन्दरसभा में वाजिद अली शाह, नायक अर्थात् राजकुमार गुलफ़ाम की भूमिका अभिनीत किया करते थे।

रहस और इन्दरसभा दोनों ही ऐसे शृंगारात्मक और नृत्यप्रधान संगीत नाट्य थे, जिनमें क्रमशः गोपियाँ और परी (अप्सरा) रूपिणी स्त्री पात्रों के गान तथा नृत्याभिनय की प्रधानता थी। इसके लिए भावाभिनय सहित गाए जाने वाले नृत्य-गीतों के रूप में ठुमरियों और होलियों (चाँचरि गीतों) का उपयोग किया गया, जोकि कृष्णलीला से प्रभावित थे, जैसे

1. ठुमरी (लालपरी की ज़बानी)

बिन पिया घटा नहि भावै ।।
रहि रहि दिल रुँध आवै।
बिजरी की चमक तड़पावै, डरावै ।। बिन पिया०
ऋतु बरखा की आई गुइयाँ ।
आज पिया बिन कल नहि आवै ।। बिन पिया०

(इन्दरसभा, पृष्ठ 12)

2. होली (पुखराजपरी की ज़बानी)

पाँ लागौं कर जोरी, श्याम मोसे खेलो न होरी ।।
गौवें चरावन मैं निकसी हूँ सास ननँद की चोरी।
सगरी चुनरिया न रँग में भिजोवो, इतनी बात सुनो मोरी ।। श्याम०

(इन्दरसभा, पृष्ठ 5)

3. होली (नीलमपरी की ज़बानी)

कान्हा को समझावै न कोई ।
अँगिया रँग में भिजोई, मोरी ब्रज में पति खोई ।। कान्हा को०

(इन्दरसभा, पृष्ठ 9)

इन्दरसभा में संवादों की भाषा मुख्यतः उर्दू होने पर भी ठुमरियाँ और होलियाँ ब्रजभाषा में हैं, जैसे

1. संवाद

सब्ज़परी : जा तू सिंहल द्वीप से अख़्तरनगर (लखनऊ) में हाँ।
सोता है इक माहरू लाल महल में वाँ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कालादेव : लाया शहजादे को मैं जाकर हिन्दुस्तान।
तू अपने माशूक़ को सब्जपरी पहिचान।।
(इन्दरसभा, पृष्ठ 16)

2. होली धुन-काफी (लालपरी की ज़बानी)

लाज रख ले श्याम हमारी।
मैं चेरी हूँ तुम्हारी, ज़रा दो समझ कर गारी।।
अबिर गुलाल न मुँह पर डारो, ना मारो पिचकारी।
आधी देह सब दीख परैगी, सारी भिजोवो न सारी।
कहेंगे लोग मतवारी, ज़रा दो समझ कर गारी।।
(इन्दरसभा, पृष्ठ 14)

इनमें से कुछ ठुमरियाँ और होलियाँ लखनऊ की क्षेत्रीय बोली से किंचित प्रभावित होने पर भी मुख्यतः व्रजभाषा में ही रचित हैं और कई तो विशुद्ध व्रजभाषा में है। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि ये सभी ठुमरियाँ और होलियाँ केवल स्त्री पात्रों द्वारा ही भावाभिनय सहित गाई जाती थीं।[32] इससे प्रमाणित होता है कि पूर्व परंपरा से लेकर उस समय तक ठुमरी का गान केवल स्त्रियों द्वारा ही होता रहा था। अतः इन सब बातों से सिद्ध होता है कि वाजिद अली शाह ने तत्कालीन नृत्यप्रधान संगीतनाट्य रहस और इन्दरसभा के भावाभिव्यंजक नृत्यगीतों के रूप में, कैशिकी वृत्ति के आश्रय से व्रजभाषा में गाई जाने वाली ठुमरी और होली (चाँचरि) की उस विधा का चयन किया था, जिसकी लोकपरंपरा मूलतः व्रज के कृष्णरास एवं चर्चरी (चाँचरि) से संबद्ध थी और बाद में उसके सामाजिक प्रदर्शन की प्रथा संगीतजीवी गायिकाओं व नर्तकियों के माध्यम से उस युग तक पहुँची थी।

नृत्याभिनय के प्रति गहन अनुरक्ति के कारण वाजिद अली शाह को नृत्यसंगीत और उसमें व्यवहृत होने वाली भावाभिव्यंजक गानविधा ठुमरी से हार्दिक लगाव होना स्वाभाविक ही था। अतः इस रुचि के परिणामस्वरूप उनके दरबार में ठुमरी को बहुत प्रश्रय मिला।

कुशल संगीतज्ञ और कवि होने के नाते वाजिद अली शाह स्वयं भी एक उत्तम गायक और वाग्गेयकार थे। उन्होंने 'अख्तर' उपनाम से अनेक सादरों, ख्यालों, ठुमरियों और उर्दू ग़ज़लों की रचनाएँ की। उदाहरण के लिए, राग खमाज का सादरा 'सुध बिसर गई आज अपने गुनन की'[33] और राग बहार का सुप्रसिद्ध ख्याल 'फुलवाले कंत मैका वसत, गड़ुवा मोल ले दे रे'[34] उनकी उपनामांकित प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय रचनाएँ हैं। इसी प्रकार भैरवी की प्रसिद्ध ठुमरी 'बाबुल मोरा नैहर छूटो हि जाय०'[35] उन्हीं की रचना बताई जाती है। उनकी बनाई व्रजभाषा की अन्य दो ठुमरियाँ इस प्रकार हैं:

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

1. ठुमरी काफी (ताल अद्धा)

स्थायी

मोरी आली मैं पनियाँ कैसे जाऊँ री
सखी री नागर नटखट मुकुटवारो।
मोसों करत ढिठाई, बंसीबट जमुनातट,
पनियाँ कैसे लाऊँ री ॥

अंतरा

उझक उझक और उचक उचक झाँके री अख्तर,
तट पनघट बंसीबट जमुनातट, पनियाँ कैसे लाऊँ री ॥[36]

2. ठुमरी

स्थायी

उरझि रहे नैना जोबन पर तुम्हारे ॥

अंतरा

तिरछी नजरिया घायल करि डारो।
नाम रखो बाँके अख्तर प्यारे ॥[37]

अठारहवीं शताब्दी के अंत और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही ठुमरी और कथक नृत्य के प्रति लखनऊ के लोगों का झुकाव बढ़ रहा था। वाजिद अली शाह के प्रोत्साहन से तो उनके अंतःपुर से लेकर राजदरबार की महफ़िलों तक कथक नृत्य और ठुमरी गान की प्रधानता हो गई थी। आश्रयदाताओं की विलासी व कुत्सित मनोवृत्ति की तुष्टि के लिए उस युग में वेश्याओं के एक वर्ग द्वारा अश्लील ठुमरियों के गाने का प्रचलन भी बढ़ रहा था। तत्कालीन लेखक मुहम्मद करम इमाम ने ऐसी ठुमरियों और उनके सुनने वालों की बहुत भर्त्सना की है।[38] 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार शासक की अभिरुचि का प्रभाव राजकीय पदाधिकारियों, दरबारी सामंतों तथा जनता पर पड़ने के कारण तत्कालीन लखनऊ का वातावरण ही ठुमरी गान और नाचरंग में रँग गया था। हकीम मुहम्मद करम इमाम के अनुसार उस समय ठुमरी गान की क़द्र बहुत बढ़ गई थी।[39] कहा जाता है कि आगे चलकर यही नाचरंग अवध के राजनीतिक पतन का कारण बना।

ठुमरी के प्रति अनुरक्ति का परिणाम यह हुआ कि केवल संगीतज्ञ ही नहीं, अपितु शासक, उनकी बेगमें, उनके संबंधी तथा दरबारी सामंत भी ठुमरी की रचना, गान एवं भावाभिनय में प्रवृत्त होने लगे। स्वयं वाजिद अली शाह, उनकी पत्नी आलमआरा बेगम 'खासमहल' उपनाम 'आलम' और वाजिद अली शाह के रिश्तेदार, बादशाह नासिरुद्दीन हैदर के पौत्र वज़ीर मिर्ज़ा बाला क़दर उपनाम 'क़दर पिया' इसके उदाहरण हैं, जिनकी मधुर ठुमरियाँ आज भी संगीत जगत में प्रचलित हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महफ़िलों में नृत्य गान व्यवसायिनी वेश्याओं द्वारा नृत्य और भावाभिनय सहित ठुमरी गाने की परंपरा पहले से ही चली आ रही थी। वाजिद अली शाह के समय में भी समाज में यह प्रथा चल रही थी। उनके समय लखनऊ में ठुमरी गाने वाली अनेक उत्तम वेश्याएं थीं, जिनमें घूमन, हुसैनी तथा लज्जतबख्श इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं।[40] बाद में भी उन्नीसवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी के मध्य तक देश के विभिन्न भागों में ठुमरी गान व नृत्याभिनय में कुशल अनेक वेश्याएँ हुई हैं; जिनमें पीरबाई, छटाँकी, चुन्ना, ज़ोहराबाई, बन्नो, गुलाब, बावली, ततैया, नर्मदा, कृष्णा, जुल्फ़ी, चंद्रावती, गौहरजान, मंगू, विद्याधरी, मोतीबाई, मलिकाजान, इंदिरा, नूरजहाँ, लक्ष्मी, केसरबाई एवं सिद्धेश्वरी के नाम प्रमुख हैं।[41]

उत्तरभारतीय वैशिक समाज में ठुमरी के गेयपक्ष की शिक्षा गायकों व सारंगी वादकों और नृत्याभिनय की शिक्षा कथकों के हाथ में रहने के कारण, ये सभी संगीतज्ञ ठुमरी गान की विशेषताओं और उसकी बारीकियों से पूर्णतया अवगत व उनमें निष्णात थे ही। फलतः दरबारी महफ़िलों में ठुमरी गान की प्रधानता बढ़ने पर, शासकों व आश्रयदाताओं को प्रसन्न व प्रभावित करने के लिए, इनमें से अनेक संगीतज्ञों ने भी महफ़िलों में ठुमरी गाना प्रारंभ किया। इस संबंध में अधिकतर लोग तत्कालीन लखनऊ दरबार के सुप्रसिद्ध गायक उस्ताद सादिक़ अली ख़ाँ को ठुमरी गान का सर्वप्रथम प्रवर्तक मानते हैं।[42] स्वर्गीय गिरिजाशंकर चक्रवर्ती के अनुसार वाजिद अली शाह के दरबार में ठुमरी गान का सर्वप्रथम प्रचलन उस्ताद सादिक़ अली ख़ाँ ने किया।[43] इससे प्रतीत होता है कि उस समय ठुमरी गाने वाले पुरुष गायकों में वे सबसे अग्रणी हुए।

उस्ताद सादिक़ अली ख़ाँ का जन्म सन् 1800 और देहांत, एक सौ दस वर्ष की दीर्घायु पाकर, सन् 1910 में हुआ। वे क़व्वालबच्चे घराने की वंश परंपरा के संगीतज्ञ थे। मूलतः ख्यालिये होते हुए भी ध्रुवपद, धमार, सादरा, तराना, टप्पा आदि गान-विधाओं पर उनका उत्तम अधिकार था और ठुमरी के तो वे विशेषज्ञ ही माने जाते थे। अतः कुछ लोग उन्हें लखनवी ठुमरी का जन्मदाता और प्रवर्तक भी मानते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक के अनेक प्रसिद्ध ठुमरीकारों और ठुमरी गायक-गायिकाओं ने उनसे ठुमरी सीखी थी। कहा जाता है कि स्वयं वाजिद अली शाह और वज़ीर मिर्ज़ा वाला क़दर (नवाब चौंलक्खी) उर्फ़ 'कदर पिया' ने भी उनसे ठुमरी गान सीखा था। उस्ताद सादिक़ अली ख़ाँ के अन्य शिष्यों में, लखनऊ के सुप्रसिद्ध कथक-नर्तक महाराज बिंदादीन, सुप्रसिद्ध ठुमरीकार व हारमोनियम-वादक ग्वालियर राजघराने के भैया गनपतराव, अकबरपुर रियासत के राजा व सुप्रसिद्ध हारमोनियम वादक तथा ठुमरी मर्मज्ञ ठाकुर नवाब अली ख़ाँ, सुप्रसिद्ध ख्याल गायकों में लखनऊ के खुर्शेद अली ख़ाँ, छोटे मुन्ने ख़ाँ, सहसवान के इनायत हुसैन ख़ाँ, पंजाब के नबीबख्श ख़ाँ, महाराष्ट्र के रामकृष्ण बुवा वझे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और शिष्याओं में तत्कालीन लखनऊ की सुप्रसिद्ध गायिकाएँ हैदरजान व नजमा हुए।[44]

उस्ताद सादिक़ अली खाँ के संबंध में आगरा घराने के प्रसिद्ध संगीतज्ञ स्वर्गीय उस्ताद विलायत हुसैन खाँ का कथन है "क़व्वाल बच्चों के घराने के बड़े प्रसिद्ध गवैयों में सादिक़ अली खाँ का नाम बहुत उल्लेखनीय है। यह नवाव वाजिद अली शाह के ज़माने में लखनऊ में थे और उसके बाद भी कई वर्ष ज़िंदा रहे। इन्होंने अपने घराने की गायकी को क़ायम रखने के साथ-साथ ठुमरी में बड़ी विशेषता उत्पन्न की। उसे इन्होंने ऐसा प्रभावोत्पादक बनाया कि उसके बाद से ठुमरी का रंग ही बदल गया। यह गायकी हर व्यक्ति को पसंद आई और तमाम पूर्वी हिंदुस्तान इसके रंग में रँग गया। बनारस, गया और कलकत्ते वग़ैरह में इसका बहुत ज्यादा प्रचार हुआ।[45]

महफ़िलों में वेश्याओं का ठुमरी गान व प्रदर्शन गीत, नृत्य, भावाभिनय सहित और उसका उपरंजन सारंगी, तबला, मँजीरा आदि वाद्यों द्वारा होने के कारण वैशिक संस्कृति में ठुमरी विधा को सँवारने, सुधारने, सजाने और उसकी कलापूर्णता में गायक, वादक, नर्तक सभी का योगदान रहा है। आगे चलकर ठुमरी का स्वतंत्र विकास होने पर इन सभी लोगों ने उसे अपनी-अपनी क्षमताओं के अनुरूप विकसित किया।

गीताभिनययुक्त नृत्य में भावाभिव्यंजना का माध्यम कंठध्वनि और गात्र-विक्षेप दोनों ही हैं जबकि गाने में केवल कंठध्वनि ही माध्यम है। ठुमरी का मूल लक्ष्य पदार्थाभिव्यक्ति अर्थात् गीत के 'बोलों' में निहित अर्थ की अभिव्यंजना होने से, ठुमरी की भावाभिव्यक्ति में जहाँ नर्तक या नर्तकी को, वाचिक और आंगिक दोनों प्रकार के अभिनय की सुविधा रहती हैं वहाँ गायक या गायिका को केवल वाचिकाभिव्यक्ति पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इसीलिए कालांतर में गायकों द्वारा अपनाए जाने पर ठुमरी के बोलों में अंतर्निहित भावों की अभिव्यक्ति के लिए स्वरसंदर्भों और काकु प्रयोग पर अधिक ज़ोर दिया जाने लगा। वाद्य में भाषा प्रयोग की असमर्थता के कारण 'बोल' के अभाव में वादकों ने स्वरसंदर्भों की ओर विशेष ध्यान देकर वाद्यध्वनि के माध्यम से ही ठुमरी की भावाभिव्यक्ति का आभास देने का प्रयत्न किया। परिणामतः नर्तकों या नर्तकियों की ठुमरी में नर्तन व हावभाव, गायक-गायिकाओं की ठुमरी में स्वरसंदर्भ तथा काकु प्रयोग और वादकों के ठुमरी वादन में स्वरसमूहों के विविध और वैचित्र्यमय प्रयोगों की प्रधानता दिखाई पड़ती है।

ठुमरी को अपनाने वाले पुरुष संगीतज्ञों में सर्वप्रथम गायक उस्ताद सादिक़ अली खाँ और नर्तक महाराज बिंद्रादीन थे। महाराज बिंदादीन के भतीजे और वर्तमान युग के सुप्रसिद्ध कथक नर्तक स्वर्गीय शंभू महाराज के कथनानुसार उनके घराने में ठुमरी का प्रारंभ सबसे पहले महाराज बिंदादीन जी से हुआ।[46] महाराज

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बिंदादीन ने उस्ताद सादिक़ अली खाँ से ठुमरी गान सीखकर स्वयं अनेक ठुमरियों की रचना की और उन्हें महफ़िलों में भावाभिनय सहित प्रस्तुत करना आरंभ किया।[47]

इस प्रकार ठुमरी के विकास और प्रचार में सर्वप्रथम जिन व्यक्तियों ने योगदान दिया, उनमें लखनऊ के वाजिद अली शाह, उनके दरबारी गायक क़व्वालबच्चे उस्ताद सादिक़ अली खाँ और लखनऊ घराने के कथक नर्तक महाराज बिंदादीन प्रमुख थे। उन्नीसवी शताब्दी में, अवध के बादशाह वाजिदअली को ठुमरी रचना करने और ठुमरी गान को प्रश्रय देकर प्रोत्साहन व प्रचार द्वारा उसके योग्य वातावरण बनाने, उस्ताद सादिक़ अली खाँ को ठुमरी रचना व गान के साथ-साथ उसकी शिक्षा देकर अनेक ठुमरी गायक-गायिकाओं के निर्माण करने और महाराज बिंदादीन को ठुमरी रचना करने व भावाभिनय सहित उसके प्रस्तुतीकरण की कला को विकसित करने का श्रेय रहा है। इसीलिए लोगों की विभिन्न धारणाओं के अनुसार इनमें से प्रत्येक व्यक्ति को भूल से ठुमरी का जन्मदाता या आविष्कर्त्ता भी माना जाता रहा है।

उन्नीसवीं शताब्दी में सारंगी की प्रतिष्ठा केवल संगति-वाद्य के रूप में होने के कारण तत्कालीन सारंगी वादकों ने ठुमरी को स्वतंत्र रूप में नहीं अपनाया। सितार उस समय भी एक स्वतंत्र वाद्य के रूप में प्रतिष्ठित था। सितार में ठुमरियों का प्रयोग करने वाले सर्वप्रथम व्यक्ति पटना के रईस व आसफ़ुद्दौलाकालीन लखनऊ के सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ ग़ुलाम रज़ा थे। उनके द्वारा सितार पर बजाई जाने वाली गतें त्रिताल मध्यलय की ठुमरियों पर आधारित थीं।[48] कालांतर में ग़ुलाम रज़ा को इन गतों का आविष्कर्त्ता मानते हुए उनके नाम पर इन्हें 'रज़ाख़ानी गत' और इनकी वादन शैली या बाज को 'रज़ाखानी बाज' कहा जाने लगा। ग़ुलाम रज़ा के सुपुत्र अली रज़ा भी सितार के 'रज़ाख़ानी बाज' में अत्यन्त प्रवीण थे और उन्होंने इसे लोकप्रिय बनाने में बहुत योग दिया।[49] प्रारंभ में लखनऊ और उसके पूर्वी प्रदेशों अर्थात् पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार की ओर ही 'रज़ाख़ानी बाज' का अधिक प्रचार था।[50] अतः इसे 'लखनऊ बाज' या 'पूरब बाज' भी कहा जाता है।

वेश्याओं, गायकों, सितारवादकों और कथकों के अतिरिक्त, ठुमरी गान को अपनाने वाले लोगों में भाँड भी थे। कथकों की भाँति भाँड भी एक संगीतजीवी नर्तक जाति के लोग हैं, जो कि प्रायः मुसलमान होते हैं। भाँडों का कार्य महफ़िलों में गान और नृत्य के साथ-साथ नक़ल करना और हास्यात्मक लघुकथाओं को अभिनय द्वारा प्रस्तुत करना होता है। 'भाँड' शब्द, संस्कृत के 'भण्ड्' धातु से बने हुए विदूषक के अर्थ वाले 'भाण्ड' शब्द का अपभ्रंश है।[50] गुप्तकालीन चतुर्भाणी ग्रंथ से पता चलता है कि विटों या भाँडों की परंपरा अत्यंत प्राचीन है और वैशिक समाज से इनका बहुत पुराना संबंध है।[51] उन्नीसवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी के मध्य तक लखनऊ में अनेक भाँड गान और नृत्याभिनय में बहुत कुशल हो गए हैं, जिनमें रमज़ानी,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हुसैनबख्श, क़ायमअली, मिर्ज़ा वहीद काश्मीरी, मुहम्मदबख्श (कन्हैया), अज़मत अली तथा राहत अली प्रमुख थे।[52] मुहम्मदबख्श (कन्हैया) के भाई चाँद मियाँ उत्तम ठुमरी-गायक होने के साथ-साथ उच्च कोटि के ठुमरी वाग्गेयकार भी थे।[53] 'चाँद' या 'चाँद पिया' के उपनाम से युक्त उनकी अनेक ठुमरियाँ बड़ी प्रसिद्ध हैं।

वाजिद अली शाह के समय से ठुमरी के प्रति लखनऊ के लोगों की अभिरुचि वृद्धि के साथ-ही-साथ ठुमरी गाने की कला का वहाँ इतना विकास और प्रचार हुआ कि तत्कालीन भारत में लखनऊ को ठुमरी गान का केंद्र समझा जाने लगा था एवं देश के विभिन्न भागों की वेश्याएँ तथा ठुमरी गान में अभिरुचि रखने वाले गायक-गायिकाएँ लखनऊ के ठुमरी विशेषज्ञ गुणियों से ठुमरी सीखना अपना गौरव समझते थे। लखनऊ के इन ठुमरी रचनाकारों व संगीतज्ञों के गान-प्रयोगों से ठुमरी का एक विशिष्ट स्वरूप विकसित होकर तत्कालीन संगीत रसिक समाज में लोकप्रिय एव प्रचलित हुआ, जिसके काव्य पर ब्रजभाषा के साथ-साथ लखनऊ की क्षेत्रीय बोली, अवधी व उर्दू भाषा तथा शैली पर नवाबी युग की विलासिता का बहुत प्रभाव था। कालांतर में ठुमरी के इस विशिष्ट स्वरूप को 'लखनऊ की ठुमरी' या 'लखनवी ठुमरी' कहा जाने लगा और उस्ताद सादिक़ अली खाँ, वाजिद अली शाह 'अख्तर', वजीर मिर्ज़ा वाला क़दर उर्फ 'कदर पिया' और महाराज बिंदादीन-जैसे संगीतज्ञ इसके प्रतिष्ठापक समझे गए।

नृत्य की विधा में नृत्त और गीताभिनय का समन्वय होने से नृत्त की गत्यात्मकता और गीत के भावाभिनय की सावकाशता के बीच संतुलन बनाए रखने के लिए मध्यलय का व्यवहार ही अधिक उपयुक्त रहता है। भरत ने भी गीत, नृत्त भावाभिनय एवं प्रीत्यर्थात्मक शृंगारपरक रागप्रसादजननी प्रासादिकी ध्रुवागान में मध्यलय का प्रयोग बताया है।[54] अतः पूर्व-परंपरा से ही नृत्य के साथ शृंगारात्मक गीतों को मध्यलय में गाए जाने के कारण, आरंभ में ठुमरियों को भी अधिकतर मध्यलय में ही गाए जाने की प्रथा थी। वयोवृद्ध संगीतज्ञों का भी मत है कि अगले ज़माने अर्थात् वर्तमान शताब्दी से पूर्व ठुमरियाँ प्रायः मध्यलय में ही गाई जाती थीं।[55]

ठुमरी-गान के साथ कथक नृत्य का विशेष संबंध रहा है।[56] कथक नृत्य के साथ व्यवहृत होने वाले तालों में त्रिताल सबसे प्रधान और लोकप्रिय ताल है। अतः नृत्य और भावाभिनय के अधिक निकट होने के कारण, त्रिताल में निबद्ध मध्यलय की ठुमरियाँ तत्कालीन लखनऊ के रसिक समाज में अधिक लोकप्रिय थीं। फलतः उस समय की महफ़िलों में वेश्याएँ, गायक, सितारवादक और नर्तक प्रायः त्रिताल मध्यलय की ठुमरियों का ही व्यवहार किया करते थे।

इस समय लखनवी ठुमरी की रचना और शैली में दो धाराएँ स्पष्ट दिखाई दे रही थीं। एक तो मुख्यतः कथक नर्तकों और वेश्याओं द्वारा प्रयुक्त, जिसमें ठुमरी की भावाभिव्यक्ति प्रधानतः नृत्य, हावभाव व आंगिकाभिनय द्वारा होती थी एवं गीत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की स्थिति सहायक-जैसी होती थी। दूसरी, गायक-गायिकाओं द्वारा व्यवहृत; जिसमें ठुमरी के बोलों की भावाभिव्यंजना स्वर-सन्निवेश व काकु के समन्वित प्रयोग से होती थी, इसमें गाने की प्रधानता तथा नृत्य व आंगिकाभिनय का अभाव था। इन आधारों पर पहली को 'नृत्यप्रधान' ठुमरी और दूसरी को 'गानप्रधान ठुमरी' कहा जा सकता है। महाराज बिंदादीन, चाँद पिया और बेगम आलमआरा 'आलम' इत्यादि ठुमरीकारों की अधिकतर ठुमरियाँ पहले प्रकार अर्थात् नृत्यप्रधान श्रेणी की हैं। कथक नृत्यज्ञ होने के कारण वाजिद अली शाह ने भी इस प्रकार की कुछ रचनाएँ की हैं। उस्ताद सादिक़ अली खाँ और वज़ीर मिर्ज़ा वाला क़दर 'कदर पिया' इत्यादि ठुमरीकारों की ठुमरियाँ अधिकांशत: दूसरे प्रकार की अर्थात् गानप्रधान हैं। वाजिद अली शाह और बेगम आलमआरा 'आलम' की कुछ ठुमरियाँ भी इसी श्रेणी की हैं।

गत्यात्मकता और भावाभिव्यंजना की प्रधानता के आधार पर भी उस समय ठुमरियों के दो मुख्य भेद हो गए थे, जिन्हें क्रमश: 'बोलबाँट की ठुमरी' और 'बोलबनाव की ठुमरी' कहा जाता है। बोलबाँट की ठुमरी गतिप्रधान और बोलबनाव की ठुमरी भावप्रधान है। 'बाँट' शब्द खंड या प्रस्तार तथा 'बनाव' शब्द सजाने, शृंगार या अलंकृत करने का द्योतक है। विभिन्न प्रकार की लयकारी और ताल प्रस्तार, अर्थात् लयबाँट के अनुसार शब्दों व स्वरों की संयोजना द्वारा गीत में वैचित्र्य और चमत्कार पैदा करना 'बोलबाँट ठुमरी' की विशेषता है। लयबाँट की प्रमुखता और रचना चमत्कार के कारण इसे 'लयबाँट की ठुमरी' या 'बंदिशी ठुमरी' भी कहा जाता है।[57] गीत के शब्दों को भावानुरूप स्वर व अभिनय से सजाना 'बोलबनाव ठुमरी' की विशेषता है।

वेश्याओं और कथकों की नृत्यप्रधान ठुमरी के प्रदर्शन में बोलबाँट की ठुमरियों को प्राय: खड़े होकर नृत्य के साथ और बोलबनाव की ठुमरियों को बैठकर भावाभिनय द्वारा अभिव्यक्त करने की प्रथा रही है। सितार में बोल (वाणी) का अभाव और बाज में लयकारी व लयबाँट की प्रधानता के कारण, सितारवादकों ने बोलबाँट या लयबाँट की ठुमरियों की धुनों को गतों के रूप में अपनाया। गायक-गायिकाओं ने गानप्रधान ठुमरी के अंतर्गत, बोलबाँट की ठुमरियों में बोलों को विभिन्न लयकारी व लयबाँट के अनुसार प्रयोग करने और बोलबनाव की ठुमरियों के बोलों में निहित भावों को स्वर-सन्निवेश तथा काकु के संयुक्त प्रयोग से अभिव्यक्त करने की कला का विकास किया।

नृत्य और आंगिकाभिनय से संबंध विच्छिन्न होने पर, लयबाँट के साथ-साथ सितार के द्रुतवादन और तरानों के द्रुतगान से प्रभावित होकर, ठुमरी के कुछ विशेषज्ञों ने तबला-वादकों से नोंक-झोंक करने वाली द्रुतलय की चमत्कारपूर्ण बोलबाँट की ठुमरियों का प्रचलन गानप्रधान ठुमरी विधा में किया। इस प्रकार मध्यलय के अतिरिक्त द्रुतलय की ठुमरियों का प्रचलन भी आरंभ हुआ। मध्य और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्रुतलय की ठुमरियों में प्राय: त्रिताल व उसके भेद सितारखानी और एकताल का प्रयोग अधिक पाया जाता है। दूसरी ओर, स्वरसन्निवेशों द्वारा बोलों को सजा कर भावाभिव्यंजित करने के प्रति अधिक मोह बढ़ने के कारण, बोलबनाव की सुविधा के लिए गाने में सावकाशत्व बढ़ा और लय का आकर्षण शिथिल होता गया। फलत: बोलबनाव की ठुमरियों में मध्यलय के अतिरिक्त, विलंबितलय में भी ठुमरियों के गाने का प्रचलन गायक-गायिकाओं में बढ़ा। विलंबित लय की ठुमरियाँ प्राय: दीपचंदी, जत और पंजाबी तालों में गाई जाती रही हैं।

यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में लखनऊ में बोलबाँट और बोलबनाव दोनों प्रकार की ठुमरियों का प्रचलन रहा, जिसका प्रमाण महाराज बिंदादीन तथा चाँदपिया जैसे रचनाकारों की ठुमरियों से मिलता है। परंतु बोलबाँट की ठुमरियों का प्रसार ब्रज, दिल्ली और उत्तरप्रदेश के पश्चिमी भाग में विशेष रूप से रहा है। इसलिए बाद में बोलबाँट की ठुमरियों को 'पछाहीं ठुमरी', अर्थात् पश्चिमी इलाक़े की ठुमरी भी कहा जाने लगा। इसी प्रकार आगे चलकर बोलबनाव की ठुमरी का प्रचलन विशेषकर लखनऊ और उसके पूर्वी प्रदेशों अर्थात् पूर्वी उत्तर प्रदेश व बिहार की ओर अधिक होने के कारण कालांतर में उसे 'पूरब अंग की ठुमरी' कहा जाने लगा।

सन् 1856 में अंग्रेज़ों द्वारा बंदी बनाए जाने के बाद वाजिद अली शाह का स्थायी निवास स्थान मटियाबुर्ज, कलकत्ता होने पर लखनऊ दरबार के उस्ताद ताज खाँ,[58] उस्ताद अलीबख्श खाँ[59] और उस्ताद सादिक़ अली खाँ[60] इत्यादि कई उत्तम संगीतज्ञ भी उनके साथ कलकत्ता गये। यद्यपि कुछ समय बाद उस्ताद सादिक़ अली खाँ वहाँ से पुन: लखनऊ वापस लौट आए, परंतु बाद में भी उनके अकसर कलकत्ता आते-जाते रहने के कारण मध्यवर्ती स्थानों के संगीतरसिक जनसमाज को ठुमरी-गान का परिचय मिला जिसके कारण पूर्वी भारत के बनारस, गया, पटना व कलकत्ता आदि स्थानों के लोगों की भी ठुमरी-गान के प्रति अभिरुचि बढ़ी।

इसी समय संगीत क्षेत्र में भैया गनपत राव (गणपति राव सिंधिया) के प्रवेश से ठुमरी-गान के एक नए युग का सूत्रपात हुआ। भैया गनपत राव का जन्म सन् 1852 में ग्वालियर में हुआ था। वे तत्कालीन ग्वालियर नरेश जयाजीराव के द्वितीय पुत्र थे।[61] उनकी माता चंद्रभागा ग्वालियर महाराज की उपपत्नी (रक्षिता) और तत्कालीन संगीतजीवी वर्ग की श्रेष्ठ गायिकाओं में से थीं।[62] अत: भैया गनपत राव को संगीत के आनुवंशिक गुण मातृपक्ष से मिले थे।

भैया गनपतराव ने सबसे पहले ग्वालियर में उस समय के सुप्रसिद्ध बीनकार बंदेअली से गाना और बीन (वीणा) सीखा। साथ ही तत्कालीन अन्य विख्यात संगीतज्ञों से भी ध्रुवपद व ख्याल गान की तालीम ली।[63] इसी समय उस्ताद सादिक़

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अली खां के कलकत्ता से स्थायी रूप से वापस आ जाने पर भैया गनपत राव ने लखनऊ में उनसे ठुमरी गान सीखा।[64]

तत्कालीन भारतीय संगीत में हारमोनियम वाद्य नया नया ही प्रचलित व लोकप्रिय हुआ था। उस समय फ्रांस देश के पैरिस नगर में बने हारमोनियम सर्वोत्तम समझे जाते थे और उनका आयात भारत में हो रहा था। तत्कालीन सभ्य समाज में हारमोनियम का यथेष्ठ सम्मान व उसके प्रति जनरुचि का झुकाव होने के कारण अपने यौवनकाल में भैया गनपत राव भी उसकी ओर आकृष्ट हुए और उन्होंने बहुत लगन व परिश्रम से अभ्यास करके उसके वादन में अद्भुत दक्षता प्राप्त की। उन्होंने जो कुछ गान व वाद्य संगीत सीखा था, उसे वे हारमोनियम में बड़ी कुशलता से बजाते थे।[65] अपने हारमोनियम वादन में षड्जसंक्रमण विधि द्वारा एक में अनेक रागों की छटा दिखाकर वे अच्छे अच्छे गुणियों को चकित कर देते थे।[66] षड्जसंक्रमण या षड्ज-परिवर्तन की यह विधि लखनवी ठुमरी की अन्यतम विशेषता थी।[67]

ठुमरी और हारमोनियम-वादन में भैया गनपत राव इतने सिद्धहस्त हुए कि अपने समय में वे इस कला के अद्वितीय गुणी माने जाते थे। इसके अतिरिक्त भैया गनपत राव अपने समय के एक श्रेष्ठ ठुमरी रचनाकार भी थे। उन्होंने 'सुघर पिया' के उपनाम से अनेक उत्तम ठुमरी रचनायें की हैं।[68] वैसे तो भैया गनपत राव ने पूरा भारत भ्रमण किया था, परंतु लखनऊ, बनारस, गया, पटना, एवं कलकत्ता आदि स्थान विशेष रूप से उनके कार्यक्षेत्र रहे और उनके कारण इन स्थानों पर पूरब अंग की ठुमरी व हारमोनियम-वादन का बहुत प्रचार व प्रसार हुआ। उनके शागिर्दों में अनेक लोग अपने समय के प्रसिद्ध गायक व हारमोनियम वादक हो गए हैं, जिनमें से गायकों में बनारस के मौजुद्दीन खाँ, कलकत्ता के गिरजाशंकर चक्रवर्ती, गायिकाओं में कलकत्ता की गौहरजान व जद्दनबाई (सुप्रसिद्ध फ़िल्म अभिनेत्री स्वर्गीया नर्गिस की माँ), आगरा की मलिकाजान, पटना की जोहराजान और हारमोनियम-वादकों में कलकत्ता के बाबू श्यामलाल खत्री व मीर इर्शाद अली, गया के ग़फ़ूर खाँ व सोहनी सिंह, लखनऊ के सज्जाद हुसैन व सैयद अली क़दर 'बब्बन', इन्दौर के बशीर खाँ और ग्वालियर के जंगी खाँ प्रमुख थे। इन सभी लोगों ने आगे चलकर हारमोनियम वादन व ठुमरी के क्षेत्र में बहुत नाम पैदा किया। इसके अतिरिक्त अकबरपुर रियासत के राजा ठाकुर नवाब अली और बिलसी (रामपुर) के रईस साहबजादा सआदत अली खाँ 'छम्मन साहब' ने भी भैया गनपत राव से हारमोनियम सीखा था।[69] अड़सठ वर्ष की आयु में सन् 1920 के लगभग धौलपुर में भैया गनपत राव का देहांत हो गया।[70]

ठुमरी के बोलों को यथोचित स्वर-सन्निवेश और भावानुकूल काकुप्रयोग सहित गाते हुए, गीत में अंतर्निहित भावों को अभिव्यक्त करना ही भैया गनपत राव को अभीष्ट था। ठुमरी गाने में पदार्थाभिव्यंजना के लिए वे नृत्य और आंगिकाभिनय को आवश्यक नहीं मानते थे। ठाकुर जयदेवसिंह के कथनानुसार भैया गनपत राव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रायः उनसे कहा करते थे "ठुमरी के जिन भावों को एक नर्तक हावभाव से अदा करता है, उन्हीं को हम गले से गाकर अदा करते हैं"।[71] उनके अनुसार ठुमरी को हावभाव की अपेक्षा गले से अदा करना, सूक्ष्म और अमूर्त होने के कारण, अधिक कठिन है। इसलिए ठुमरी के बोलों को स्वर-सन्निवेश के माध्यम से अभिव्यक्त करना ही उच्चकोटि की कला है।[72] अतएव इस आदर्श के कारण ही भैया गनपत राव के हारमोनियम वादन में श्रोताओं को गले से गाई जाने वाली ठुमरी के समान स्वाभाविकता की ऐसी अनुभूति होती थी कि प्रायः लोग उनके बारे में कहा करते थे कि भैया गनपत राव के हारमोनियम में ठुमरी बजती नहीं बल्कि बोलती है।

भैया गनपत राव के सभी शिष्य-शिष्याओं ने ठुमरी-गान संबंधी उनके आदर्शों को अपनी ठुमरी-गायकी में पूरी तरह अपनाया और उनके द्वारा देश भर में ठुमरी गान का वह स्वरूप लोकप्रिय हुआ, जिसकी गायकी में बोलबनाव की प्रधानता थी और गीत के बोलों के भाव स्वरों की सहायता से अभिव्यक्त किए जाते थे। इस प्रकार की ठुमरी गाने वालों में भैया गनपत राव के शिष्य मौजुद्दीन ख़ाँ बहुत प्रसिद्ध हुए।[73]

मौजुद्दीन ख़ाँ का जन्म सन् 1875 के लगभग पंजाब के नालागढ़ रियासत में हुआ था। उनके पिता ग़ुलाम हुसैन उत्तम गायक व सितारवादक और माँ ज़ेबुन्निसा बेगम भी अच्छी गायिका थीं। सन् 1880 के लगभग ग़ुलाम हुसैन सपरिवार काशी चले आये और शेख़ सलीम के फाटक में रहने लगे।[74]

उन दिनों नृत्य और गान में जगदीप मिश्र की बड़ी ख्याति थी। वे जाति के कथक और मूलतः आज़मगढ़ के निवासी थे। बाद में वे काशी आकर कबीरचौरा के पास अहिराना में रहने लगे। बनारस के लोग जगदीप मिश्र को ठुमरी की बनारसी शैली का प्रवर्तक मानते हैं।[75] वे भैया गनपत राव के समकालीन ठुमरी के प्रसिद्ध गायकों में से थे, और उनके समान ही, ठुमरी-गान में बोलों के बनाव अर्थात् बोलों में निहित भावों को, यथानुकूल स्वर-सन्निवेश की सहायता से अभिव्यक्त करने के पक्ष में थे।

बनारस के वयोवृद्ध ठुमरी-गायक स्वर्गीय रामा जी के अनुसार बनारस के लोगों का कहना है कि मौजुद्दीन खाँ ने पहले जगदीप मिश्र को सुन सुनकर ठुमरी गाना सीखा। बाद में वे भैया गनपत राव के शिष्य हो गए।[76] काशी के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री रामनाथ 'सुमन' के अनुसार भी मौजुद्दीन ख़ाँ की ठुमरी-गायकी पर जगदीप मिश्र के ठुमरी-गान का बहुत प्रभाव था।[77] बनारस के पुराने लोगों का यह भी मत है कि पहले ठुमरी अधिकतर मध्यलय में गाई जाती थी। विलंबित लय की ठुमरी गाने का प्रचलन जगदीप मिश्र ने आरंभ किया। बाद में मौजुद्दीन ख़ाँ ने इसे आगे बढ़ाया।[78] इस प्रकार जगदीप मिश्र, भैया गनपत राव तथा मौजुद्दीन ख़ाँ के समय उन्हीं लोगों के प्रयत्नों से विलंबित लय की बोल-बनाव ठुमरी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गाने का प्रचलन बढ़ा। इस प्रकार की ठुमरी गाने वालों में बनारस के मौजुद्दीन खाँ अपने युग के अप्रतिम ठुमरी-गायक हुए। उनकी ठुमरी के एक-एक बोलबनाव और पुकार पर लोग अभिभूत होकर सिर धुनने लगते थे।[79]

उत्तर भारत में लखनऊ के अतिरिक्त बनारस भी वेश्याओं और ठुमरी के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध रहा है। यहाँ की ठुमरी गाने की शैली इतनी लोकप्रिय हुई कि कालांतर में उसे 'बनारसी शैली की ठुमरी' या 'बनारसी ठुमरी' कहा जाने लगा। इस शैली की ठुमरी यद्यपि वर्तमान समय में बहुत प्रसिद्ध है, किंतु उन्नीसवीं शताब्दी के श्री कृष्णधन बनर्जी एवं सर सौरीन्द्रमोहन ठाकुर-जैसे संगीत-विद्वानों के ग्रंथों से पता चलता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक ठुमरी-गान की बनारसी शैली का अस्तित्व प्रकाश में नहीं आया था।

श्रीयुत कृष्णधन बनर्जी कृत गीतसूत्रसार ग्रंथ का प्रकाशन उनके जीवन काल में पहली बार सन् 1885 और दूसरी बार सन् 1897 में हुआ था।[80] उसमें उन्होंने ठुमरी-गान के संदर्भ में केवल लखनऊ और 'लखनऊ ठुमरी' का ही उल्लेख किया है।[81] ठुमरी के संबंध में बनारस का कोई ज़िक्र नहीं किया। सर सौरीन्द्र मोहन ठाकुर के यूनिवर्सल हिस्ट्री ऑफ़ म्यूज़िक का प्रथम संस्करण सन् 1896 में प्रकाशित हुआ था।[82] उसमें, यद्यपि ब्रजभाषा की ठुमरियों को नर्तकियों द्वारा गाए जाने का उल्लेख है।[83] साथ-ही-साथ लखनऊ व बनारस की नर्तकियों के नृत्य-गान-कला की प्रशंसा भी की गई है।[84] परंतु ठुमरी-गान के संदर्भ में केवल 'लखनऊ ठुमरी' का ही ज़िक्र किया गया है।[85] 'बनारसी ठुमरी' के संबंध में कोई उल्लेख नहीं है। इससे अनुमान होता है कि बनारस की तत्कालीन वेश्याएँ यदि ठुमरी गाती भी रही होंगी, तो भी उस समय तक ठुमरी-गान की बनारसी शैली का कोई स्वतन्त्र रूप विकसित और गठित नहीं हुआ था। वयोवृद्ध बनारसी संगीतज्ञों का भी मत है कि बनारस में ठुमरी का आगमन लखनऊ से ही हुआ।[86] अतएव ज्ञात होता है कि बनारस में ठुमरी-गान का प्रचलन अपेक्षाकृत लखनऊ के बाद में, अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के लगभग प्रारंभ हुआ और ठुमरी-गान की बनारसी शैली का स्वतंत्र विकास लगभग बीसवीं शताब्दी के आरंभ में होना शुरू हुआ।

उत्तर भारत के पूर्वी भाग में स्थित बनारस नगर प्राचीन काल से ही देश का एक सुविख्यात धार्मिक स्थान होने के साथ-साथ सांस्कृतिक गतिविधियों का भी प्रमुख केंद्र रहा है। यहाँ के संगीतज्ञ और वेश्याएँ गान, वादन और नर्तन के लिए प्राचीन युग से ही बड़े प्रसिद्ध रहे हैं, जिसका पता जातक कथाओं जैन धर्मग्रंथों, **चतुर्भाणी और कुट्टनीतम्** इत्यादि ग्रंथों से चलता है।

बनारस के संगीतज्ञों में बहुत समय से कथक जाति के अनेक गायक, वादक और नर्तक बसे हुए हैं, जो कि स्वयं संगीत प्रदर्शन करने के साथ-साथ वहाँ की वेश्याओं को भी गान व नृत्याभिनय की शिक्षा देते आए हैं। इन कथकों के अनेक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परिवारों से महाराज बिंदादीन और उनके परिवार के लोगों की रिश्तेदारियाँ होने के कारण, बनारस के अनेक लोगों और उनकी वेश्या शिष्याओं ने महाराज बिंदादीन और उनके परिवार के लोगों से ठुमरी-गान व कथक-नृत्य की शिक्षा ग्रहण की। स्वयं महाराज बिंदादीन के सगे छोटे भाई महाराज कालिका प्रसाद का एक मकान बनारस में भी था।[87] वे प्रायः वहाँ रहकर अपने शिष्य-शिष्याओं को गान व नृत्य की शिक्षा दिया करते थे। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि उस्ताद सादिक़ अली ख़ाँ, भैया गनपत राव, जगदीप मिश्र, मौजुद्दीन ख़ाँ एवं महाराज बिंदादीन व उनके परिवार के सदस्यों तथा उनके शिष्य-शिष्याओं द्वारा बनारस में ठुमरी-गान का प्रचलन हुआ और इन सभी के योगदान से कालांतर में ठुमरी की बनारसी शैली के विकास की नींव पड़ी।

कालांतर में धीरे-धीरे बनारस की ओर गाई जाने वाली ठुमरी की रचनाओं व शैली पर उत्तर भारत के पूर्वी प्रदेशों की बोलियों, लोकगीतों व लोकधुनों का बहुत प्रभाव पड़ा। अतएव आगे चलकर बनारस में बोलबनाव के ठुमरी-गान के एक ऐसे स्वरूप का विकास हुआ, जिस पर ब्रजभाषा के साथ-साथ अवधी, भोजपुरी व मगही आदि बोलियों और पूर्वी उत्तर प्रदेश व बिहार में प्रचलित चैती, घाटो, कजरी, सावन, झूमर, बिरहा, पुरबी आदि लोक-गीतों और उनकी धुनों का भी बहुत प्रभाव था। बनारस की ठुमरी का यह स्वरूप मुख्यतः गानप्रधान और बोलबनाव का रहा एवं आगे चलकर यही 'बनारसी ठुमरी' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[88] इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में 'पूरब अंग ठुमरी' की 'लखनवी' और 'बनारसी' दो शाखाएँ हो गईं। बाद में जैसे-जैसे 'बनारसी ठुमरी' की लोकप्रियता बढ़ती गई, वैसे-ही-वैसे 'लखनवी ठुमरी' धीरे धीरे प्रचार से हटती गई। धीरे-धीरे उत्तर भारतीय संगीत में 'बनारसी ठुमरी' का इतना प्रचलन व प्रभुत्व बढ़ा कि वर्तमान समय में वह 'पूरब अंग ठुमरी' की एकमात्र प्रतिनिधि समझी जाने लगी है और 'लखनवी ठुमरी' का केवल नाम ही शेष रह गया।

'बनारसी ठुमरी' के पुराने विशेषज्ञों में आज़मगढ़ के जगदीप मिश्र, बनारस के मौजुद्दीन ख़ाँ, मिठाईलाल, रामसेवक, दरगाही जी, सिया जी, बड़े रामदास जी, धीरेन बाबू, श्रीचंद्र मिश्र, इलाहाबाद के पंडित भोलानाथ भट्ट और वर्तमान समय में बनारस के स्वर्गीय रामाजी, श्री महादेव मिश्र एवं गया के स्वर्गीय रामू जी सुप्रसिद्ध हुए हैं। पुरानी गायिकाओं में बनारस की हुस्ना, विद्याधरी देवी, मैना, राजेश्वरी देवी, टामीबाई, चंपाबाई, सरस्वतीबाई, शिवकुँवरि, चंद्राबाई, भागीरथी, शाहज़ादी, इलाहाबाद की जानकीदेवी उर्फ़ 'छप्पन छुरी', आगरे की मलिका जान, पटना की ज़ोहरा जान, कलकत्ता की गौहर जान और बाद की पीढ़ी में बनारस की काशीबाई, बतूलन, बद्रे मुनीर उर्फ़ मुन्नन, कमलेश्वरी, दुर्गेश, बिट्टो, श्यामा, बिट्टन, मुन्नी, गुलाब, भौंफटी केसर, तारा, अनवरी, शैलकुमारी, कमला, शांति, मोहनी, तथा झरिया की कमला का नाम आता है। पुरानी परंपरा की गायिकाओं में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बनारस की श्रीमती बड़ी मोतीबाई, श्रीमती रसूलनबाई तथा श्रीमती सिद्धेश्वरी देवी इस युग की उत्तम ठुमरीगायिकाएँ हुई हैं।[89] बनारसी ठुमरी गाने वाली नई पीढ़ी की गायिकाओं में श्रीमती गिरिजादेवी तथा श्रीमती माणिक वर्मा का नाम उल्लेखनीय है। बनारसी ठुमरी के संगीतकार पुराने सारंगीवादकों में बनारस के रामसुमेर जी (सुमेरू उस्ताद), सियाजी, शंभूजी, आशिक़ खाँ, नज्जू खाँ, सुरसहाय मिश्र और वर्तमान समय में श्री हनुमान मिश्र, श्री बैजनाथ मिश्र व स्वर्गीय गोपाल मिश्र ने बड़ी प्रसिद्धि पाई।[90] शहनाई-वाहन में बनारसी ठुमरी की धुन प्रस्तुत करने वालों में बनारस के उस्ताद बिस्मिल्लाह खाँ अग्रगण्य हैं।

बनारस के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग में स्थित अयोध्या, इलाहाबाद, जौनपुर, आज़मगढ़, गाज़ीपुर, बलिया, बस्ती, बाँसी, गोरखपुर, शोहरतगढ़, पायर, पड़रौना और बिहार के छपरा, मुज़फ्फ़रपुर, आरा, गया, पटना, भागलपुर व दरभंगा इत्यादि स्थानों पर भी कथक जाति के अनेक गायक वादक और नर्तक कई पीढ़ियों से बसे हुए हैं, जोकि स्वयं संगीत-प्रदर्शन करने के साथ-साथ उन स्थानों की वेश्याओं को भी गान व नृत्याभिनय की शिक्षा देने का कार्य करते रहे हैं। बनारस और लखनऊ के कथकों से इन कथकों की रिश्तेदारियाँ भी हैं।

हिंदू संस्कृति का केंद्र स्थान और उत्तर भारत के पूर्वी भाग अर्थात् पूर्वी उत्तर प्रदेश व बिहार के कथक-बहुल क्षेत्र का मध्यस्थ होने के कारण बनारस का प्रभाव पूर्वी प्रदेशों के इन हिंदू कथक-संगीतज्ञों पर बहुत रहा। अतएव कला के क्षेत्र में बनारस को आदर्श मानने के कारण इनमें और इनके शिष्य-शिष्याओं में 'बनारसी ठुमरी' गाने का अधिक प्रचलन रहा। इस प्रकार इन लोगों के द्वारा उत्तर भारत के पूर्वी अंचल में 'बनारसी ठुमरी' का बहुत प्रचार व प्रसार हुआ और देश के अन्य भागों में जहाँ भी ये पहुँचे वहाँ इन्होंने ठुमरी की इस बनारसी शैली को लोकप्रिय बनाया।

जिस समय 'बनारसी ठुमरी' के विकास के साथ-साथ लखनऊ के पूर्व की ओर पूर्वी उत्तर प्रदेश से लेकर बंगाल तक 'पूरब अंग' की 'बोलबनाव' ठुमरियों का प्राधान्य बढ़ रहा था, उस समय लखनऊ के पश्चिमी क्षेत्रों की ओर पश्चिमी उत्तर प्रदेश से लेकर दिल्ली तक 'पछाहीं अंग' की 'बोलबाँट' या 'बंदिशी' ठुमरियों का अधिक प्रचलन था। मध्य और द्रुत लय में गाई जाने वाली इन चपल ठुमरियों में लय वैचित्र्य व चमत्कार की प्रधानता रही है।

पछाहीं ठुमरियाँ प्रायः ब्रजभाषा में होती हैं। पश्चिमी क्षेत्रों से विशेष संबंध होने के कारण एक ओर तो ये पश्चिमी उत्तर प्रदेश, ब्रज व बुंदेलखंड में गाए जाने वाले होली (चाँचर), सावन, मल्हार, रसिया, लेद इत्यादि लोकगीतों व उनकी धुनों से प्रभावित हैं; दूसरी ओर इनकी रचना करने में घरानेदार गायकों, सितारवादकों व कथक-नर्तकों का विशेष योगदान रहने के कारण इन पर परंपरागत राग-संगीत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का भी बहुत अधिक प्रभाव रहा है। इसलिए बोलबाँट ठुमरी की रचनाओं में बहुत विविधता दिखाई पड़ती है। इनमें से कुछ तो ख्याल, कुछ तराने, कुछ सितार की गतों और कुछ नृत्य के अधिक निकट हैं। यही नहीं, अपितु कुछ रचनाओं में तो ध्रुवपद की भाँति आड़ व दुगुन आदि लयकारियों का प्रयोग भी दिखाई देता है। अतएव तुलनात्मक दृष्टि से मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि जहाँ पूरब की ठुमरियों में लोकतत्त्व की अधिक प्रधानता है, वहाँ पछाहीं ठुमरियों में परंपरागत रागसंगीत की झलक अधिक दिखाई पड़ती है। इसलिए पूरब की ठुमरी-रचनाएँ केवल कुछ लोकधुनों और चंचल व हलकी प्रकृति के रागों तक ही सीमित हैं; जबकि पछाँह की 'बोलबाँट' ठुमरियाँ, केवल कुछ बहुत गंभीर प्रकृति के रागों को छोड़कर, प्राय: सभी रागों में मिलती हैं। अपने गुरू सादिक़ अली खाँ की ठुमरी के संबंध में बताते हुए स्वर्गीय रामकृष्ण बुवा वझे ने भी इस प्रकार की ठुमरी-रचनाओं को स्थायी, अंतरा वाले मध्यलय के ख्याल के समान और प्राय: सभी रागों में उनकी रचनाएँ होने का उल्लेख किया है।[91]

बोलबाँट की ठुमरी के वाग्गेयकारों व गायकों में लखनऊ के वज़ीर मिर्ज़ा वाला क़दर उर्फ़ 'कदर पिया', महाराज बिंदादीन 'बिंदा', बेगम आलमआरा 'आलम' व 'चाँद पिया' के अतिरिक्त बरेली के तवक़्कुल हुसैन 'सनद पिया', फ़र्रुखाबाद के 'ललन पिया', मथुरा के काले खाँ 'सरस पिया', दिल्ली के श्रीलाल गोस्वामी 'कुँवर श्याम', गुट्टू, गोपाल, 'सुघर छैल' तथा ग्वालियर के नज़र अली 'नजर पिया' इत्यादि संगीतज्ञ प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सभी लोग उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर लगभग बीसवीं शताब्दी के पहले चतुर्थांश के बीच हुए हैं।

बरेली निवासी तवक़्कुल हुसैन खाँ 'सनद पिया' रामपुर के सुप्रसिद्ध सुर-सिंगार वादक बहादुर हुसैन के खाँ शिष्य थे। उन्होंने अधिकतर ठुमरी रचनाएँ अपनी गुरु-परंपरा में प्रचलित तंत (ततवाद्य) की मध्य व द्रुतलयबद्ध गतों के अनुसार कीं। उनकी बोलबाँट की ठुमरियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं।[92]

फ़र्रुखाबाद निवासी 'ललन पिया' का जन्म सन् 1856 में हुआ था। वे जाति के भारद्वाज गोत्रीय सारस्वत ब्राह्मण और व्यवसाय से कथावाचक थे।[93] उन्होंने अपने ताऊ नन्हेमल जी से संगीत शिक्षा प्राप्त की थी।[94] यद्यपि 'ललन पिया' ने अनेकों ध्रुवपद, धमार, सादरा तराना, टप्पा, ठुमरी, दादरा, भजन, ग़ज़ल इत्यादि विभिन्न प्रकार के गीतों की रचना की[95] और इनके गाने में वे कुशल भी थे, परंतु उनकी विशेष प्रसिद्धि ठुमरीकार और ठुमरी-गायक के रूप में रही है।[96] ताल और लयकारी पर उनका अद्‌भुत अधिकार था। अत: प्राय: पखावजवादक और तबला-वादक उनके साथ संगत करते हुए घबराते थे। 'ललन पिया' की ठुमरियों में इन विशेषताओं के साथ-साथ सगीत और उच्चकोटि के साहित्य का समन्वय भी देखने को मिलता है। इन्होंने ललनसागर नामक एक वृहद् ग्रंथ भी लिखा, जिसमें इनकी बनाई अनेक ठुमरियाँ संग्रहीत हैं। ललनसागर का प्रथम संस्करण सन् 1926 में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और द्वितीय संस्करण सन् 1927 में नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित हुआ। सन् 1926 में लगभग सत्तर वर्ष की आयु में कृष्णजन्माष्टमी से छ दिन पूर्व इनका देहांत हो गया।

काले खाँ 'सरस पिया' का जन्म सन् 1860 में मथुरा में हुआ। उन्होंने गाने और सितारवादन की शिक्षा अपने पिता गुलदीन खाँ से पाई और इन कलाओं में वे बहुत प्रवीण थे। उन्होंने अनेकों ख्याल, ठुमरी, सरगम आदि की रचना की। उनकी बनाई मयब्लय की कई ठुमरियाँ आज भी बहुत प्रसिद्ध हैं, जैसे परज की ठुमरी—'मन मोहन व्रज को रसिया०'। भरतपुर रियासत में सन् 1926 में एक दिन अचानक ये घर से कहीं चले गए। तब से इनका कोई पता न चला।[97]

दिल्ली के गोस्वामी श्रीलाल जी, उपनाम 'कुँवर श्याम' गोस्वामी कीर्तिलाल जी के सुपुत्र थे। इनका जन्म सन् 1860 में दिल्ली में हुआ। संगीत की शिक्षा इन्होंने अपने पिता से पाई। ये सितारवादन में भी बड़े प्रवीण थे। इन्होंने अनेकों ध्रुवपद, धमार, ख्याल, ठुमरी आदि की रचनाएँ कीं। इनका संगीत व्यसन स्वांत: सुखाय और अपने आराध्य भगवान श्रीकृष्ण को सुनाने के लिए ही था। अतएव जीवन भर इन्होंने अपने किशोरीरमण जी के मंदिर से बाहर कहीं नहीं गाया-बजाया। इनकी ठुमरी रचनाएँ कृष्णलीलाप्रधान और स्वर, ताल व साहित्य की दृष्टि से अत्युत्तम हैं। भैरवी की सुप्रसिद्ध ठुमरी "बाट चलत नई चुनरी रँग डारी०" इन्हीं की रचना है। इनका देहावसान सन् 1910 में दिल्ली में हुआ।[98]

गुट्टू और गोपाल दोनों जाति के नाई थे। उन्होंने वड़ी सेवा करके, दिल्ली के गोस्वामी श्रीलाल जी 'कुंवर श्याम' से संगीत सीखा। ये दोनों लयकारी में बड़े प्रवीण थे और अपने समय के उत्तम ठुमरी-गायकों में हुए। इनका काल उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश से लेकर बीसवीं शताब्दी के लगभग दूसरे दशक तक है।[99]

'सुघर छैल' उपनाम से ठुमरी रचना करने वाले संगीतज्ञ श्री किशोरीलाल गोस्वामी जी भी दिल्ली के एक अन्य गोस्वामी परिवार के सदस्य थे। इनकी बनाई बोलबांट की ठुमरियाँ भी बहुत उत्तम हैं।

पिछली शताब्दी के अंत में नजर अली और उनके भाई क़दर अली भी ठुमरी गाने में बहुत प्रवीण हुए। ये दोनों भाई संगीतजीवी वर्ग के और मूलत: लखनऊ के निवासी थे। बाद में ये लोग ग्वालियर जाकर बस गए। नज़र अली ने 'नजर पिया' उपनाम से अनेकों ठुमरियाँ बनाईं।[100] इनकी अधिकतर ठुमरियाँ बोल-बाँट की हैं। ग्वालियर के सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ स्वर्गीय राजाभैया पूछवाले ने भी 'नजर पिया' से ठुमरी गान सीखा था।[101]

इन ठुमरीकारों के अतिरिक्त बोलबाँट की ठुमरी रचना करने वाले और भी बहुत से संगीतज्ञ हो गए हैं, जिनमें से शाद पिया, सरदार, इमदाद, बाँके पिया, राम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रताप, पिया नेशा, अज़मत, अफ़सोस पिया, हरीचंद (सुप्रसिद्ध हिंदी साहित्यकार भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र), दयाकृष्ण (दीवान दयाकृष्ण कौल), बदर पिया, युगल पिया, गणेश, द्विज बक्श, दीनानाथ, चन्द्रिका, गिरिधर दास[102] (भारतेन्दु जी के पिता), आशिक़ पिया, निज़ामी, आजिज़ पिया, सुल्तान पिया, हैदर पिया (बिलसी के नवाब, हैदरअली ख़ाँ), नज़ीर ('नज़ीर' अकबराबादी), वारिस, मुज़तर[103], माधो पिया (ग्वालियर नरेश माधोराव सिंधिया), फ़रहत, श्याम सैंया[104], अलम (नवाब रामपुर यूसुफ अली ख़ाँ), जुगराजदास, तुराब, लच्छनदास, शोख़रंग (दिल्ली के बादशाह बहादुर शाह 'ज़फ़र') सुखदास, सुन्दर, राहतअली, उमर व प्रेमदास[105] इत्यादि की ठुमरी रचनाएँ आज भी कभी-कभी यत्र-तत्र सुनने को मिल जाती हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक लोगों में ठुमरी-गान इतना लोकप्रिय हो चला था कि वेश्याओं के अतिरिक्त उस समय देश के अनेक घरानेदार व उच्च श्रेणी के प्रतिष्ठित ध्रुवपद व ख़्याल-गायकों ने भी इसे बड़े शौक़ से अपनाया। उदाहरणार्थ—ध्रुवपदियों में मथुरा के चंदन चौबे, ख़्याल गायकों में ग्वालियर के रहमत ख़ाँ, शंकर पंडित और महाराष्ट्र के भास्करराव बखले व रामकृष्ण बुवा वझे इत्यादि।[106] इनमें से रहमत ख़ाँ और शंकरराव पंडित की ठुमरियों के ग्रामोफोन रिकॉर्डस भी बने, जिनमें से रहमत ख़ाँ द्वारा गाई भैरवी की ठुमरी 'जमुना के तीर' और शंकराव पंडित द्वारा गाई धानी की ठुमरी 'कृष्ण मुरारी विनती करत कर हारी' बहुत प्रसिद्ध हुई। शंकरराव पंडित की इस ठुमरी का ग्रामोफोन रिकॉर्ड पहली बार सुनकर ही ग्वालियर के सुप्रसिद्ध गायक राजाभैया पूछवाले अभिभूत हो गये थे।[107] उस समय के घरानेदार ख़्याल-गायकों में आगरे के प्यारे ख़ाँ और उनके बड़े पुत्र लतीफ़ ख़ाँ व मझले पुत्र महमूद ख़ाँ की रुझान भी ठुमरी गाने की ओर अधिक थी और ये लोग ठुमरी गाने में बहुत प्रवीण हुए। यह तीनों गायक अपने समय में राजस्थान के जयपुर, शाहपुरा तथा भदावर रियासतों से संबद्ध रहे।[108]

वेश्याओं द्वारा गाए जाने और ठुमरी-गान में साधारणतया रागों के सर्वमान्य नियमों की अवहेलना किए जाने के कारण बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक ध्रुवपद व ख़्याल गान के स्वाभिमानी अनेक संगीतज्ञों द्वारा ठुमरी को प्रायः हेय व उपेक्षित दृष्टि से देखा जाता रहा। परंतु वर्तमान शताब्दी के दो दशक बीतते-बीतते अपनी कलात्मकता व स्वाभाविक माधुर्य के कारण ठुमरी ने भारतीय जनमानस को इतना प्रभावित किया कि अनेक उच्चकोटि के प्रतिष्ठित गायकों ने उसके प्रति सद्भाव प्रकट करते हुए संगीत-सभाओं व संगीत-सम्मेलनों में इसे गाना आरंभ कर दिया। ठुमरी-गान के प्रति प्रतिष्ठित संगीतज्ञों के इस झुकाव के परिणामस्वरूप संगीत के शास्त्रज्ञ विद्वानों का ध्यान भी इस ओर गया। इसीलिए इस युग के प्रख्यात संगीतशास्त्री स्वर्गीय पंडित विष्णु नारायण भातखंडे ने लिखा है कि ठुमरी का गान घृणित कदापि नहीं है। इतना ही है कि, ठुमरी उत्तम रीति से गाना आना चाहिए।[109]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वयं भातखंडे जी के सुयोग्य व विख्यात शिष्यों में स्वर्गीय श्रीकृष्ण नारायण रातांजनकर और स्वर्गीय राजाभैया पूछवाले की ठुमरी में पर्याप्त अभिरुचि रही है। श्री रातांजनकर ने लखनऊ के वज़ीर मिर्ज़ा वाला क़दर उर्फ़ 'कदर पिया' के सुपुत्र स्वर्गीय मिर्ज़ा नूरुद्दहर, नवाब चौलक्खी से उनके पिता की बनाई अनेकों उत्तम ठुमरियों का संग्रह किया।[110] स्वर्गीय राजाभैया पूछवाले ने तो ग्वालियर के सुप्रसिद्ध ठुमरीकार नज़रअली उपनाम 'नजर पिया' से विधिवत् गान सीखा और ठुमरी तरंगिणी नाम से ठुमरियों का एक संग्रह भी प्रकाशित किया।

कालांतर में ठुमरी के प्रति जनता का इतना आग्रह बढ़ा कि लगभग सभी गायकों में अपने संगीत-कार्यक्रम का अंत प्रायः ठुमरी-गान से करने की प्रथा-सी चल पड़ी। इस शताब्दी में बड़ौदा के स्वर्गीय उस्ताद फ़ैयाज़ हुसैन खाँ, रामपुर के स्वर्गीय उस्ताद मुश्ताक़ हुसैन खाँ, बम्बई के स्वर्गीय अब्दुल करीम खाँ एवं लाहौर के स्वर्गीय उस्ताद बड़े ग़ुलामअली खाँ जैसे लब्धप्रतिष्ठ घरानेदार शास्त्रीय संगीतज्ञों ने ठुमरी को बहुत सद्भाव, आदर व प्रेम से अपनाया और ये लोग अपने कार्यक्रम का समापन प्रायः ठुमरी-गान से किया करते थे।

इस शताब्दी के आरंभ में हुए सुविख्यात गायक स्वर्गीय प० भास्करराव बुआ बखले, जो कि चतुर्मुखी प्रतिभाशाली गायक थे, अन्य गान शैलियों के साथ-साथ ठुमरी गान के लिए भी सुप्रसिद्ध थे। स्वर्गीय उस्ताद फ़ैयाज़ हुसैन खाँ के संबंध में स्वर्गीय उस्ताद विलायत हुसैन खाँ ने अपना संस्मरण लिखा है "फ़ैयाज़ हुसैन खाँ शास्त्रीय संगीत के अतिरिक्त ठुमरी, दादरा, भजन, ग़ज़ल इतना सुंदर गाते थे कि सुनने वाले तड़प जाते और यह सोचने लगते कि शायद खाँ साहब सारी उम्र इन्हीं के गाने का अभ्यास करते रहे हों। इस रंग में लखनऊ और बनारस वाले तक इनका लोहा मानते थे और सच्चे दिल से इनकी तारीफ़ करते थे"।[111] स्वर्गीय पं० भास्करराव बुआ बखले तथा स्वर्गीय उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ के सुयोग्य शिष्य वयोवृद्ध सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ पं० दिलीपचन्द्र वेदी जी भी अपने समय में ध्रुवपद, ख्याल, तराना, टप्पा इत्यादि गान शैलियों के साथ-साथ ठुमरी गाने के लिए भी सुविख्यात रहे हैं। जनवरी सन् 1938 में कलकत्ते में हुए अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन में पं० दिलीपचन्द्र वेदी को उनके उत्कृष्ट ठुमरी-गान के लिए वाजिदअली शाह के सुपुत्र प्रिंस अकरम् हुसैन ने उन्हें 'किंग वाजिदअली शाह' स्वर्णपदक प्रदान कर सर्वोत्तम ठुमरी-गायक के रूप में सम्मानित किया। स्वर्गीय उस्ताद अब्दुल करीम खाँ की गाई ठुमरियों के अनेक सुमधुर ग्रामोफोन रिकॉर्ड्स उनकी ठुमरी-गान-कुशलता के परिचायक हैं। स्वर्गीय मुश्ताक़ हुसैन खाँ ने तो भैया गनपत राव से ठुमरी की बाक़ायदा तालीम ली थी और स्वर्गीय बड़े ग़ुलामअली खाँ को तो ठुमरी गाने की एक विशिष्ट शैली 'पंजाब अंग' के प्रवर्तकों में से माना जाता है।

वर्तमान शताब्दी के लगभग चार दशक तक के विख्यात संगीतज्ञों में से बंबई के स्वर्गीय उस्ताद अब्दुल करीम खाँ, हैदराबाद के बाबा नसीर खाँ, लखनऊ के दुन्नी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

खाँ, कलकत्ता के स्वर्गीय प्यारे साहब, जमीरुद्दीन खाँ, स्वर्गीय गिरिजाशंकर चक्रवर्ती और श्री भीष्मदेव (विश्वदेव) चटर्जी इत्यादि गायक ठुमरी गाने के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध हुए।[112] इनमें से प्रत्येक की ठुमरी-गायकी में निजी विशेषता होते हुए भी ये सभी व्यापक रूप से 'पूरब अंग' की ठुमरी ही गाते थे।

स्वर्गीय उस्ताद अब्दुल करीम खाँ का मूल संबंध उत्तर प्रदेश के मुज़फ़्फ़र-नगर ज़िले में स्थित किराना नामक स्थान के बीनकार व सारंगीवादकों के खानदान से था। परंतु इन्होंने गाने में परिश्रम करके देश भर में बहुत नाम पैदा किया। वे ख्याल गान के अतिरिक्त ठुमरी गान के लिए भी विशेष रूप से विख्यात थे। उनकी गाई हुई ठुमरियों के अनेक ग्रामोफोन रिकॉर्ड्स बड़े लोकप्रिय हुए, जिनमें से झिंझोटी की ठुमरी 'पिया बिन नाहीं आवत चैन०,' भैरवी की ठुमरी 'जमुना के तीर०,' जोगिया की ठुमरी 'पिया के मिलन की आस०' और पीलू की ठुमरी 'सोच समझ नादान०' इत्यादि के ग्रामोफोन रिकॉर्ड्स विशेष उल्लेखनीय हैं। अब्दुल करीम खाँ की मृत्यु सन् 1938 में पाँडिचेरी जाते हुए बीच के किसी छोटे से स्टेशन पर हुई थी। इनके शिष्यों में स्वर्गीय सवाई गंधर्व, स्वर्गीय गणेश रामचन्द्र बहरे बुवा, स्वर्गीय सुरेश बाबू माने और शिष्याओं में रोशनआरा बेगम व हीराबाई बड़ोदकर ने गाने में बड़ी ख्याति प्राप्त की।[113] स्वर्गीय सुरेश बाबू माने तो ठुमरी गाने के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध थे।

हैदराबाद के बाबा नसीर खाँ ने अपने पिता मोहम्मद सिद्दीक़ खां से संगीत शिक्षा पाई थी। वे ध्रुवपद, ख्याल व तराने के अतिरिक्त 'पूरब अंग' की ठुमरी भी बहुत उत्तम गाते थे, जो कि इनकी एक निजी विशेषता थी और जिसके लिए ये सारे भारत में प्रसिद्ध थे। हैदराबाद से आकर यह कुछ समय तक दिल्ली और फिर लखनऊ रहे। वहाँ इन्होंने मैरिस म्यूज़िक कॉलेज में अनेक वर्षों तक संगीध्यापन कार्य किया। मैरिस कॉलेज छोड़ने के बाद भी यह पर्याप्त समय तक लखनऊ में ही रहे। उसके पश्चात् दिल्ली में सन् 1944 में इनकी मृत्यु हो गई।[114] लखनऊ के दुन्नी खाँ भी ठुमरी गाने के लिए बहुत प्रसिद्ध हो गए हैं। स्वर्गीय रामकृष्ण बुवा वझे के अनुसार दुन्नी खाँ ने अप्रतिम कंठ स्वर पाया था।[115]

कलकत्ता के प्यारे साहब भी अपने समय के सुप्रसिद्ध ठुमरी गायक हुए।[116] वे मटियाबुर्ज में वाजिद अली शाह के एक कर्मचारी के सुपुत्र थे। स्वर्गीय गिरिजा-शंकर चक्रवर्ती ने तानसेन के वंशजों में से रामपुर के मोहम्मदअली 'बड़कू मियाँ' व वज़ीर खाँ एवं विलसी (रामपुर) के नवाब 'छम्मन' साहब से ध्रुवपद, धमार. दिल्ली वाले तानरस खाँ से ख्याल, और भैया गनपत राव व मौजुद्दीन खाँ से ठुमरी गान सीखा था।[117] बंगाल के तत्कालीन संगीतज्ञों में स्वर्गीय गिरिजाशंकर चक्रवर्ती का विशिष्ट स्थान था। वे ख्याल के अतिरिक्त ठुमरी गाने में बहुत प्रवीण थे। उनका देहांत सन् 1941 के लगभग कलकत्ता में हुआ। स्वर्गीय गिरिजाशंकर चक्रवर्ती के वर्तमान शागिर्दों में कलकत्ता के स्वर्गीय तारापद चक्रवर्ती, श्री ज्ञानप्रकाश घोष, श्री

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चिन्मय लाहिड़ी, दिल्ली के श्री सुनील कुमार बोस व श्रीमती नैना देवी का नाम उल्लेखनीय है। ये सभी ठुमरी के उन्नति व प्रचार के लिए बहुत प्रयत्नशील हैं। श्री विश्वदेव (भीष्मदेव) चटर्जी बंगाल के अत्यंत प्रतिभाशाली संगीतज्ञों में से थे। इन्होंने पानीपत के स्वर्गीय बदल खाँ[118] और बाद में रँगीले व आगरा घराने के स्वर्गीय उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ से संगीत की शिक्षा प्राप्त की। श्री चटर्जी ख्याल गान के साथ-साथ ठुमरी गाने में भी बड़े प्रसिद्ध हुए। इनकी गाई तिलककामोद की ठुमरी 'दुखवा मैं कासे कहूं मोरी सजनी०' और धानी की ठुमरी 'मनभावनियाँ तिरछी नजरिया०' के ग्रामोफोन रिकॉर्ड्स बड़े लोकप्रिय हुए।

वर्तमान समय में गया के स्वर्गीय रामूजी (रामप्रसाद मिश्र) भी ठुमरी के उत्तम विद्वान व गायक हो गए हैं।[119] कलकत्ता के स्वर्गीय अनाथ नाथ बोस भी उत्तम ठुमरी गायक थे। वहाँ के वर्तमान ठुमरी गायक-गायिकाओं में श्री ए० कानन व श्रीमती संध्या मुखर्जी का नाम उल्लेखनीय है।

इनके अतिरिक्त स्वर्गीय मुरव्वत खाँ, स्वर्गीय सैयद अली क़दर 'बब्बन' तथा सफ़दर हुसैन का नाम भी इस शताब्दी के ठुमरी रचनाकारों व गायकों में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कालपी घराने के प्रसिद्ध सितारिये अब्दुल ग़नी खाँ के छोटे भाई मुरव्वत खाँ बहुत अच्छे हारमोनियम व सितारवादक थे। उन्होंने 'मुरव्वत पिया' उपनाम से अनेकों ख्याल, सादरे व ठुमरियों की उत्तम रचनाएँ कीं जिनमें बोल-बाँट और बोलबनाव दोनों प्रकार की ठुमरियाँ हैं। ये उत्तर प्रदेश के रायबरेली ज़िले में स्थित चंदापुर रियासत में थे[120] और वहीं सन् 1945 के लगभग इनकी मृत्यु हुई। लखनऊ के सैयद अली क़दर 'बब्बन' भी ठुमरी के उत्तम गायक व विशेषज्ञ थे। इनके पास पुरानी ठुमरियों का बहुत बड़ा भंडार था। 22 सितंबर सन् 1963 को लखनऊ में इनका निधन हुआ।[121] आजकल इनके शिष्यों में बंबई के फिल्म-संगीत-निर्देशक श्री नौशाद अली बहुत प्रसिद्ध हैं।[122] लखनऊ के श्री सफ़दर हुसैन भी ठुमरी गान में बहुत कुशल हुए हैं। लगभग पच्चीस-तीस वर्ष पहले ये उत्तर प्रदेश की जहाँगीराबाद रियासत से संबद्ध थे।

आज से लगभग चालीस वर्ष पहले अर्थात् वर्तमान शताब्दी के चौथे दशक से ठुमरी गाने की एक अन्य शैली बड़ी लोकप्रिय हुई है, जिसे आजकल 'पंजाब अंग' कहा जाता है। इस शैली के प्रवर्तकों में पंजाब के स्वर्गीय बड़े गुलामअली खाँ और उनके छोटे भाई बरकतअली खाँ का नाम विशेष रूप से लिया जाता है।[123] इस युग के सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ पं० दिलीपचंद्र वेदी की सूचनानुसार पंजाब अंग की ठुमरी का सूत्रपात वास्तव में स्वर्गीय उस्ताद बड़े गुलामअली खाँ और बरकतअली खाँ के पिता स्वर्गीय उस्ताद अलीबख्श खाँ द्वारा हुआ था। श्री वेदी जी ने लख़नऊ में हुए सन् 1925 के अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन में उस्ताद अलीबख्श खाँ को पंजाबी शैली में ठुमरी 'पहाड़ी झिंझोटी' गाते हुए स्वयं सुना था जिसकी श्रोताओं ने बड़ी प्रशंसा की थी। श्री वेदी जी के कथनानुसार स्वर्गीय अलीबख्श खाँ को ठुमरी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का ज्ञान महाराज बिंदादीन व कालिकाप्रसाद के संपर्क से हुआ था, जिसे उन्होंने पंजाबी लोक धुनों का रंग देकर नई शैली में प्रस्तुत किया था। इस प्रकार स्वर्गीय अलीबख्श खाँ ही पंजाबी शैली की ठुमरी के वास्तविक प्रवर्तक थे।

आज भी पंजाब अंग की ठुमरियों में बंदिशें तो पूरब अंग की ठुमरियों, होलियों, दादरों की भांति हिंदी की ब्रज, अवधी, भोजपुरी इत्यादि बोलियों में विरचित होती हैं, परंतु गायकी में पंजाबी लोकधुनों का प्रभाव रहता है। इसलिए स्व० उस्ताद ग़ुलामअली खाँ ठुमरी को विशेषरूप से पूरब अंग की गानविधा मानते हुए पंजाबी शैली को उससे अलग न मानकर उसकी शाखा मात्र मानते थे।

उस्ताद बड़े ग़ुलामअली खाँ का जन्म 4 अप्रैल, सन् 1902 को लाहौर में हुआ था। उनके छोटे भाई उस्ताद बरकतअली खाँ का जन्म भी उसके कुछ वर्षों बाद हुआ। बड़े ग़ुलामअली खाँ ने अपने चाचा अर्थात् पिता अलीबख्श के बड़े भाई काले खाँ से संगीत शिक्षा पाई थी। इस शताब्दी के प्रतिष्ठित गायकों में स्वर्गीय बड़े ग़ुलामअली खाँ, ख्याल और ठुमरी दोनों में और उनके भाई स्वर्गीय बरकत अली खाँ ठुमरी गाने में बहुत विख्यात हुए। उस्ताद बड़े ग़ुलामअली खाँ का निधन 23 अप्रल, सन् 1968 को हुआ। उस्ताद बरक़तअली खाँ की मृत्यु इसके चार पाँच वर्ष पहले ही हो चुकी थी। इन दोनों भाइयों ने पंजाब प्रदेश में गाए जाने वाले टप्पा, माहिया, हीर, पहाड़ी, सिंधी काफ़ी, मुल्तानी काफ़ी इत्यादि लोकगीतों की धुनों के विशिष्ठ स्वरसन्निवेशों और स्वरों के कोमल, शुद्ध व तीव्रादि रूपों को क्रमशः एक के बाद एक प्रयोग करने के वैचित्र्य का समावेश करते हुए अपने ठुमरी गाने में एक नया और चमत्कारपूर्ण रंग पैदा किया।

स्वर्गीय बड़े ग़ुलामअली खाँ और स्वर्गीय बरकतअली खाँ ने अपनी ठुमरी-गायकी में 'पंजाब अंग' के स्वरवैचित्र्य और चमत्कार के साथ-साथ पूरब अंग के 'बोलबनाव' अर्थात् भावाभिव्यक्ति की विशेषता को भी क़ायम रखा। परंतु इन दोनों गायकों के बाद पंजाब अंग की ठुमरी गाने वालों में वह बात न रही। आज-कल इस शैली में बोलबनाव गौण होकर केवल स्वर-वैचित्र्य व चमत्कार की ही प्रधानता रह गई है। पंजाब अंग की ठुमरी गाने वाले वर्तमान गायकों में पाकिस्तान के सलामतअली व नज़ाकतअली, इन दोनों बंधुओं के नाम उल्लेखनीय हैं।

पटियाला घराने के उस्ताद अब्दुल रहमान खाँ पंजाब अंग की ठुमरी के कुशल ठुमरीकार व गायक होने के साथ-साथ उत्तम शिक्षक भी हैं। उनकी शिष्याओं में श्रीमती लक्ष्मीशंकर तथा श्रीमती निर्मला अरुण ने ठुमरी गाने में अच्छी ख्याति अर्जित की है।

आधुनिक युग की प्रतिष्ठित ठुमरी-गायिकाओं में लखनऊ की स्वर्गीया बेगम अख़्तर का नाम भी बहुत प्रसिद्ध हुआ। इनकी ठुमरी-गायकी में पूरब और पंजाब दोनों अंगों का मिला-जुला रूप रहता है। इसी प्रकार, स्वर्गीय बरक़तअली खाँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की ठुमरी-गायकी से प्रभावित होने पर भी, नगीने के श्री अफ़ज़ल हुसैन खाँ की ठुमरी गायकी में भी प्रायः दोनों अंगों का समन्वय रहता है।

वर्तमान प्रतिष्ठित गायकों में सहसवान घराने के सुप्रसिद्ध ख्याल गायक उस्ताद निसार हुसैन खाँ ठुमरी भी अत्यंत कुशलतापूर्वक गाते हैं। वर्तमान युग की नवोदित ठुमरी गायिकाओं में बंबई की श्रीमती शोभा गुर्टू की भी उत्तम ख्याति है।

गायक-गायिकाओं के अतिरिक्त वर्तमान युग में सितार, सरोद इत्यादि तंत्री-वाद्यों के वादकों ने भी ठुमरी को बहुत आदर व प्रेम से अपनाया है। तंत्री-वाद्यों में बजने वाली रज़ाखानी गत का मूल संबंध तो बोलबाँट की ठुमरियों से था ही। वर्तमान युग के सितार व सरोदवादकों ने भी उस परंपरा के अनुसरण पर प्रायः मध्यलय में बोलबाँट की ठुमरियों की धुनों को ही अधिकतर बजाने का रिवाज अपनाया। प्रख्यात सितारवादकों में पं० रविशंकर, उस्ताद विलायत खाँ, उस्ताद अब्दुल हलीम जाफ़र खाँ और सरोद वादकों में उस्ताद अली अकबर खाँ अपने कार्यक्रम का अंत प्रायः ठुमरी धुन बजाकर करते हैं।

ठुमरी को हावभाव से अभिव्यक्त करने वाले कथक-नर्तकों की परंपरा में महाराज विंदादीन के भतीजे स्वर्गीय जगन्नाथ प्रसाद उर्फ़ 'अच्छन महाराज,' स्वर्गीय लच्छू महाराज और स्वर्गीय शंभू महाराज बड़े प्रवीण हुए। शंभू महाराज ने ठुमरी गाने की शिक्षा, अपने समय के अप्रतिम ठुमरी गायक मौजुद्दीन खाँ के छोटे भाई रहीमुद्दीन खाँ से और नृत्य तथा भावाभिनय की शिक्षा अपने बड़े भाई अच्छन महाराज से पाई थी।[126] कहा जाता है कि महाराज विंदादीन के समय ठुमरी का भावप्रदर्शन प्रायः खड़े होकर किया जाता था। बैठकर भाव बताने की प्रथा को सर्वप्रथम शंभू महाराज ने ही प्रश्रय दिया।[127] ठुमरी के एक-एक बोल को, विभिन्न भावों और अर्थों के अनुसार केवल नैन और मुख से घंटों अभिव्यक्त करने की क्षमता, केवल शंभू महाराज के ही बस की बात थी। शंभू महाराज के संबंध में दक्षिण भारत की सुप्रसिद्ध नृत्यांगना बाला सरस्वती के उद्गार हैं "नैन और मुख के माध्यम से शंभू महाराज आशा, हर्ष, शोक, व्यथा, उमंग, प्रतीक्षा का भाव इतनी कुशलता से व्यक्त करते हैं कि लगता है उनके पास बैठकर फिर से उनसे शिक्षा ग्रहण करूँ"।[128] शंभू महाराज का निधन दिल्ली में 4 नवम्बर सन् 1970 को 66 वर्ष की आयु में हुआ।[129] भावाभिनय के माध्यम से ठुमरी को अभिव्यक्त करने वालों में शंभू महाराज के बड़े भाई लच्छू महाराज भी सुप्रसिद्ध हुए हैं और इस शैली से ठुमरी प्रदर्शित करने वाले नई पीढ़ी के लोगों में स्वर्गीय अच्छन महाराज के पुत्र श्री ब्रजमोहन उर्फ़ 'बिरजू महाराज' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भावभिनय सहित ठुमरी प्रदर्शित करने वाले अन्य कलाकारों में बंबई की श्रीमती सितारा देवी तथा श्री गोपीकृष्ण हैं।

आजकल भारतीय संगीत में ठुमरी के प्रति लोकाभिरुचि इतनी बढ़ गई है कि प्रायः सभी संगीत-सभाओं व संगीत-सम्मेलनों में लोग प्रत्येक गान, वादन व कथक-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नर्तन कार्यक्रम के अंतिम भाग में ठुमरी के गान, वादन या भावप्रदर्शन की अपेक्षा करते हुए बड़ी उत्सुकता से उसकी प्रतीक्षा करते हैं और ऐसा न होने पर बीच में ही अपने हार्दिक उद्गार प्रकट करते हुए कलाकार से उसके लिए आग्रह भी करते हैं। इतना ही नहीं, अपने माधुर्य व लोकप्रियता के कारण, ठुमरी ने उत्तर भारतीय संगीत की ख्याल, भजन, ग़ज़ल आदि गान-विधाओं व सितार-वादन की वर्तमान शैलियों को भी बहुत कुछ प्रभावित किया है। इसीलिए आजकल अनेक गायक-गायिकाओं के ख्याल, भजन व ग़ज़ल गान तथा सितारवादकों के बाज में ठुमरी के बोलबनाव जैसे स्वर-सन्निवेश व कण, खटका, मुर्की आदि के बहुल प्रयोग की विशेषता प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त वर्तमान नाट्य व सिनेमा संगीत में ठुमरी गान के प्रचुर उपयोग के साथ-साथ उनमें प्रयुक्त होने वाले गीतों की नई धुनों के निर्माण के लिए भी ठुमरी और उसकी शैली का आश्रय लिया जा रहा है। जिसका प्रमाण विभिन्न फिल्मों में कुंदन लाल सहगल, मोहम्मद रफ़ी, लता मंगेशकर व संध्या मुखर्जी द्वारा गाई अनेक मधुर ठुमरियों से मिलता है। खेमचंद्र प्रकाश, सचिनदेव बर्मन, मदनमोहन, सी० रामचंद्र व नौशाद इत्यादि सुप्रसिद्ध फिल्मसंगीत निर्देशकों द्वारा बनाई गई अनेक गीतों की लोकप्रिय धुनें भी ठुमरियों व दादरों पर आधारित हैं। इन सबके पर्यवेक्षण से यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि वर्तमान भारतीय संगीत की लोकप्रिय गीतविधाओं में ठुमरी का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है।

संदर्भ-संकेत

1. भरत, "नाट्यशास्त्र", प्रथम अध्याय, श्लोक सं० 44 से 50.
2. तृतीय अध्याय में पृ० 113 देखिए.
3. देखिए : (*i*) Tagore, Sir Saurindra Mohan, *Universal History of Music*, p. 60.
   (*ii*) बंदोपाध्याय, कृष्णधन, "गीतसूत्रसार", पृ० 87.
   (*iii*) भातखण्डे, वि० ना०, "क्रमिक पुस्तक मालिका" (चौथें पुस्तक) पृ० 49.
4. जोशी, लक्ष्मण दत्तात्रेय, "संगीत शास्त्रकार व कलावंत यांचा इतिहास", पृ० 191.
5. Tagore, Sir S.M., *Universal History of Music*, p. 60.
6. वही पुस्तक, पृ० 61.
7. बंदोपाध्याय, कृष्णधन, "गीतसूत्रसार" (प्रथम भाग), पृ० 87.
8. पं० सुदर्शनाचार्य, "संगीत सुदर्शन", भूमिका, पृ० 62, 63 व 64.
9. "गीतवाद्यपाठ्यनृत्तनाट्यक्षरचित्रवीणावेणुमृदंगपरचित्तज्ञानगन्धमाल्यसंयूहन-सम्पादन-संवाहन-वैशिककलाज्ञानानि गणिका दासी रंगोपजीविनीश्च ग्राह्यतो राज्यमण्डलादाजीवं कुर्यात्।" (कौटिल्य, "अर्थशास्त्र", 44/29).

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

10. (क) फ़क़ीरुल्लाह सैफ़ख़ान, "रागदर्पण" पृ० 85.
    (ख) मिर्ज़ा ख़ान, "तोहफ़तुल हिंद", पृ० 400, 419.
11. Willard, Captain N. Augustus, *A Treatise on the Music of Hindoostan*, p. 103.
12. (क) गर्ग, लक्ष्मीनारायण, "कथक नृत्य", पृ० 22 व 24.
    (ख) नागर, अमृतलाल, "ये कोठेवालियाँ", पृ० 88, 93, 98, 103, 108, 109, 118, 151, 156.
13. वही पुस्तक, पृ० 88, 93, 98, 103, 108, 109, 118, 151, 156.
14. रातांजनकर, डॉ० श्रीकृष्ण, "तानसेन समारोह पत्रिका" (1959), ध्रुवपद के पुनरुत्थान में गायकों का उत्तरदायित्व, पृ० 5, 6.
15. पं० सुदर्शनाचार्य, "संगीत सुदर्शन", भूमिका, पृ० 22.
16. (क) मोहम्मद करम इमाम, "मादनुल मूसीक़ी, पृ० 162.
    (ख) 'शरर', अब्दुल हलीम, "गुज़श्ता लखनऊ" (पुराना लखनऊ) पृ० 151, 162.
17. मोहम्मद करम इमाम, "मादनुल मूसीक़ी", पृ० 44, 45.
18. "The measure is lively and so peculiar, that it is not mistaken by one who has heard a few songs of this class. It is useless to waste words in description, which must after all prove inadequate, of a subject which Will impress the mind more sensibly when attention is bestowed on a few songs." (Willard, Captian N. Augustus, A Treatise on the Music of Hindoostan, p. 103.)
19. Pant, Chandra Shekhar, Literary Aspect of Thumari, "कला-भारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका", 1965, पृ० 40.
20. मोहम्मद करम इमाम, "मादनुल मूसीक़ी", पृ० 49.
21. गर्ग, लक्ष्मीनारायण, "कथक नृत्य", पृ०34, 35.
22. (क) वही पुस्तक, पृ० 24.
    (ख) 'शरर', अब्दुल हलीम, "गुज़श्ता लखनऊ" (पुराना लखनऊ), पृ० 162.
23. (क) भावे, नरहर शंभुराव, "नर्तक म० शेख राहत अली इनका ठुमरी संग्रह" (प्रथम भाग), म० शेख़ राहत अली इनकी अल्प जीवनी, पृ० (॥-).
    (ख) गर्ग, लक्ष्मी नारायण "कथक नृत्य", पृ० 32.
24. वही पुस्तक, पृ० 34, 35.
25. वही पुस्तक, पृ० 34, 35.
26. Pant, Chandra Shekhar, Literary Aspect of Thumari, "कला-भारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका", 1965, पृ० 40.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

27. "धर्मयुग", साप्ताहिक (25 अप्रैल से 1 मई, 1982), पृ० 19.

28. (क) गर्ग, लक्ष्मीनारायण, "कथक नृत्य", पृ० 34, 35.

(ख) 'शरर', अब्दुल हलीम, "गुज़श्ता लखनऊ" (पुराना लखनऊ), पृ० 61.

29. वही पुस्तक, पृ० 168.

30. वही पुस्तक, पृ० 52 व 53.

31. रिज़वी, डॉ० मसऊद हसन, "लखनऊ का आवामी स्टेज और इंदरसभा", पृ० 15, 50 व 52.

32. 'अमानत', सैयद आग़ा हसन, "इंदरसभा अमानत", पृ० 5 पुखराजपरी (होली), पृ० 9 नीलमपरी (ठुमरी व होली), पृ० 12 लालपरी (ठुमरी), पृ० 14 लालपरी (होली), पृ० 23 सब्ज़परी (ठुमरी परज), पृ० 34 सब्ज़परी (होली).

33. भातखण्डे, पं० वि० ना०, "क्रमिक पुस्तक मालिका" (दुसरें पुस्तक), पृ० 138.

34. वही (चौथें पुस्तक), पृ० 602.

35. वही (दुसरें पुस्तक), पृ० 397.

36. "इश्क़ चमन" (पहिला भाग), पृ० 6.

37. हीरालाल, "मजमुए राग", पृ० 21.

38. मोहम्मद करम इमाम, "मादनुल मूसीक़ी", पृ० 162 व 163.

39. वही पुस्तक, पृ० 162.

40. वही पुस्तक, पृ० 41 व 43.

41. (क) जोशी, लक्ष्मण दत्तात्रेय, "संगीत शास्त्रकार व कलावत यांचा इतिहास", पृ० 194, 195, 196, 197, 199, 200, 201, 202, 203, 204 व 205.

(ख) नागर, अमृतलाल, "ये कोठेवालियां", पृ० 153, 156.

42 Chaube Dr. S.K , The Lucknow Thumari, *Uttar Pradesh*, December 1957, P. 27.

43. चक्रवर्ती, श्री गिरिजाशकर, स्वर्गत भइया साहेब गनपतराव, "संगीत विज्ञान प्रवेशिका" (मासिक पत्रिका), 11श वर्ष, सप्तम संख्या, वं० 1341 साल (सन् 1934), पृ० 385.

44. (क) स्वर्गीय उस्ताद सादिक़ अली खां के प्रधान शिष्य स्वर्गीय उस्ताद ख़ुर्शेद अली ख़ां के सुपुत्र श्री इक़बाल अली उर्फ़ 'बल्लन ख़ां' से प्राप्त जानकारी के अनुसार.

(ख) वझे बुवा, श्री रामकृष्ण नरहर, "संगीत कला प्रकाश" (भाग पहिला), पृ० 158.

45. विलायत हुसैन ख़ां, "संगीतज्ञों के संस्मरण", पृ० 71.

46. स्वर्गीय शंभू महाराज द्वारा सन् 1965 में बताए गए तथ्यानुसार.

47. वही.

48. मोहम्मद करम इमाम, "मादनुल मूसीकी", पृ० 44.

49. Tagore, Sir S.M., *Universal History of Music*, p. 76.

50. वही पुस्तक, पृ० 76.

51. Apte, V.S., *The Practical Sanskrit English Dictionary*, p 711.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

52. (क) गर्ग, लक्ष्मीनारायण, "कथक नृत्य", पृ० 32, 33, 34 व 35.
(ख) 'शरर', अब्दुल हलीम, "गुज़श्ता लखनऊ"(पुराना लखनऊ) पृ० 163 से पृ० 166 तक.
(ग) जोशी, ल० द०, "संगीत शास्त्रकार व कलावंत यांचा इतिहास", पृ० 185, 187.

53. भावे, नरहर शंभुराव, "नर्तक म० शेख़ राहत अली, इनका ठुमरी संग्रह" (प्रथम भाग), म० शेख़ राहत अली, इनकी अल्प जीवनी, पृ० (I) व (II-).

54. "पूर्वं गानं ततोवाद्य ततोनृत्यं प्रयोजयेत् ।
गीतवाद्यांगसंयोगः यो भावः सोऽङ्गाभिनयनैरथ ।
निवृत्यांकुरसूचास्तु (सु) कार्यस्त्वभिनयान्वितः ।
तत्र प्रासादिकी योज्या प्रहर्षार्थगुणोद्भवा ।।379।।"

"या च रसान्तरमुपगतमापेक्षपवशात् कृतं प्रसादयति ।
रागप्रसादजननी विद्यात् प्रासादिकीं तां तु ।।314।।"

"हर्षेऽथ प्रार्थने चैव शृंगाराद्भुतदर्शने ।
ध्रुवा प्रासादिकी कार्या तज्ज्ञैर्मध्यलयाश्रया ।।325।।" (भरत, नाट्यशास्त्र, द्वात्रिंशोध्यायः)

55. (क) मोहम्मद करम इमाम, "मादनुल मूसीकी", पृ० 44.
(ख) "संगीत" (मासिक पत्रिका), अक्तूबर 1971, पृ० 19.

56. गर्ग, लक्ष्मीनारायण, "कथक नृत्य", पृ० 66.

57. Thakur Jaideva Singh, Evolution of Thumari, "कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका" पृ० 36.

58. Tagore, Sir Saurindra Mohan, *Universal History of Music*, p 86

59. "संगीत विज्ञान प्रवेशिका" (मासिक पत्रिका), षष्ठ वर्ष, ज्येष्ठ, बंगला सन् 1336 (मई, जून, 1929), 2 य संख्या, पृ० 135.

60. चक्रवर्ती, गिरिजाशंकर, स्वर्गत भइया गनपतराव, "संगीत विज्ञान प्रवेशिका" (11श वर्ष), सप्तम् संख्या, कार्तिक, बं० 1341 साल, (सन् 1934) पृ० 385.

61. वही पत्रिका, पृ० 384.

62. जोशी, लक्ष्मण दत्तात्रेय, "संगीत शास्त्रकार व कलावंत यांचा इतिहास", पृ० 194 व 195.

63. चक्रवर्ती, गिरिजाशंकर, स्वर्गत भइया गनपतराव, "संगीत विज्ञान प्रवेशिका" (11श वर्ष), सप्तम् संख्या, कार्तिक, बं० 1341 साल, (सन् 1934), पृ० 384.

64. वही पत्रिका, पृ० 385.

65. वही पत्रिका, पृ० 385.

66. श्रीमती सुमित्रा आनंदपाल सिंह, रामपुर की एक शोधयात्रा, "कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका" (1965), पृ० 21.

67. बंदोपाध्याय, कृष्णधन, "गीतसूत्रसार" (प्रथम भाग), पृ० 225.

68. चक्रवर्ती, गिरिजाशंकर, "संगीत विज्ञान प्रवेशिका" (11श वर्ष), सप्तम् संख्या, कार्तिक, बं 1341 साल (सन् 1934), पृ० 386.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

69. बब्बन साहब (एक श्रद्धांजलि), "कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका", (1965), पृ० 21.
70. चक्रवर्ती, गिरिजाशंकर, "संगीत विज्ञान प्रवेशिका" (11श वर्ष) सप्तम् संख्या, कार्तिक, ब 1341 साल (सन् 1934), पृ० 387.
71. ठाकुर जयदेवसिंह द्वारा सन् 1968 ई० में बताए गए संस्मरणों के अनुसार.
72. वही.
73. (*i*) ठाकुर जयदेवसिंह द्वारा सन् 1968 में बताये गये संस्मरणों के अनुसार,
    (*ii*) Thakur Jaideva Singh, Evolution of Thumari "कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका" (1965), पृ० 38.
74. 'सुमन', रामनाथ, छायावाद युगीन काशी (संगीत की रसधारा), "कादम्बिनी" (मासिक), (मई 1966), पृ० 57.
75. वही पत्रिका, पृ० 57.
76. स्व० रामा जी द्वारा सन् 1968 ई० में बताए गए तथ्यानुसार ।
77. 'सुमन', रामनाथ, छायावाद युगीन काशी (संगीत की रसधारा), कादम्बिनी (मासिक), मई 1966, पृ० 57.
78. स्व० रामा जी द्वारा सन् 1968 में बताए गए तथ्यानुसार,
79. 'सुमन', रामनाथ, छायावाद युगीन काशी (संगीत की रसधारा), "कादम्बिनी" (मासिक), मई 1966, पृ० 56 व 57.
80. बंदोपाध्याय, कृष्णधन, "गीतसूत्रसार" (प्रथम भाग), 1934, प्रथम बारेर विज्ञापन, पृ० (घ) तथा द्वितीय बारेर विज्ञापन, पृ० (च).
81. वही पुस्तक, पृ० 220 व 221.
82. Tagore, Sir S.M., *Universal History of Music*, Preface.
83. वही पुस्तक, पृ० 60.
84. वही पुस्तक, पृ० 61.
85. वही पुस्तक, पृ० 86.
86. श्री मोहनलाल, श्रीमती सिद्धेश्वरी देवी से एक भेंट, "कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका", (1965), पृ० 6.
87. जोशी, लक्ष्मण दत्तात्रेय, "संगीत शास्त्रकार व कलावंत यांचा इतिहास, पृ० 185.
88. श्री मोहनलाल, श्रीमती सिद्धेश्वरी देवी से एक भेंट, "कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका" (1965), पृ० 6 व 7.
89. देखिए : (*i*) "संगीत" (मासिक), अक्टूबर, 1971, पृ० 18 से पृ० 23 तक.
    (*ii*) "धर्मयुग" (साप्ताहिक), जून, 1971, पृ० 13.
    (*iii*) नागर, अमृतलाल, "ये कोठेवालियाँ", पृ० 139 से पृ० 177 तक.
    (*iv*) "कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका", 1965)(पृ० 7, 28.
    (*v*) जोशी, लक्ष्मण दत्तात्रेय, "संगीत शास्त्रकार व कलावंत यांचा इतिहास" पृ० 189 से पृ० 205 तक.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

90. देखिए : (*i*) "संगीत" (मासिक), अक्टूबर 1971, पृ० 18 से 23 तक.
(*ii*) "कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका" (1965), पृ० 7.
(*iii*) मिश्र, शंभुनाथ, "साप्ताहिक हिन्दुस्तान" (2 अप्रैल, 1972), पं० गोपाल मिश्र से बातचीत, पृ० 30 व 58.
91. वझे. गायनाचार्य रामकृष्ण नरहर, संगीत कला प्रकाश (भाग पहिला), पृ० 158.
92. श्रीमती सुमित्रा आनंदपाल सिंह, रामपुर की एक शोधयात्रा "सुर-सिंगार" (Volvme 3, April-October, 1965, Joint Number (3-4), पृ० 45.
93. ललन पिया, "ललनसागर", स्वदेशजन्मभूमिभूमिकावर्णनिका, पृ० 26, 27 तथा "ललन-प्रकाश", उत्तरार्ध, पृ० 21 से 31 पर्यंत.
94. वही पुस्तक, पृ० 26, 27.
95. वही पुस्तक, पृ० 21, 24, 25, 31.
96. वही पुस्तक, द्वितीय मुख पृष्ठ.
97. विलायत हुसैन ख़ाँ, "संगीतज्ञों के संस्मरण", पृ० 202 व 203.
98. 'कुँवर श्याम' की पुत्री के पौत्र श्री ज्ञानेश्वर पंडित से प्राप्त तथ्यानुमार.
99. वही.
100. स्वर्गीय गंगाप्रसाद पाठक द्वारा बताए गए तथ्यानुसार.
101. राजाभैया पूछवाले, "ठुमरी तरंगिणी", प्रस्ताविक हृदय-निवेदन, पृ० 3.
102. पं० बखशराम पांडे, "संगीतशिखा" पृ० 7, 8, 9, 11, 12, 14, 15, 16, 17.
103. हीरालाल, "मजमुये राग", पृ० 17 से पृ० 39 तक.
104. "इश्क़ चमन" पृ० 2 से पृ० 26 तक.
105. भावे, नरहर शंभुराव, "नर्तक म० शेख राहत अली इनका ठुमरीसंग्रह" (प्रथम भाग), निवेदन, पृ० (।) व (।-).
106. वझे, गायनाचार्य रामकृष्ण नरहर, "संगीत कला प्रकाश", (पहिला भाग), पृ० 158.
107. "राजाभैया की संगीतोपासना", अल्प-परिचय, पृ० 13.
108. विलायत हुसैन ख़ाँ, "संगीतज्ञों के संस्मरण", पृ० 137, 138 व 139.
109. भातखंडे, पं० वि० ना०, ' क्रमिक पुस्तक मालिका" (चौथी पुस्तक), पृ० 50.
110. Pant, Chandra Shekhar, Literary Aspect of Thumari "कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका", (1965), पृ० 44.
111. विलायत हुसैन ख़ाँ, "संगीतज्ञों के संस्मरण", पृ० 117.
112. Naina Devi, Thumari Gayeki "कलाभारती ठुमरी-सम्मेलन पत्रिका" (1965), पृ० 66.
113. विलायत हुसैन ख़ाँ, "संगीतज्ञों के संस्मरण", पृ० 209 व 210.
114. वही पुस्तक, पृ० 82 व 83.
115. वझे, गायनाचार्य रामकृष्ण नरहर, "संगीत कला प्रकाश" (भाग पहिला), पृ० 164.
116. (अ) Rai Chowdhury, Harendra Kishore, *The Musicians of India* (Part I), P. 45.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(आ) वझे, गायनाचार्य रामकृष्ण नरहर, "संगीतकला प्रकाश" (भाग 1), पृ० 164.

117. सेनगुप्त, श्री परेशचन्द्र, संगीत साधक गिरिजाशंकर "संगीत विज्ञान प्रवेशिका" (प्रथम वर्ष, दशम संख्या, माघ, बं० 1337 (साल, सन् 1943), पृ० 624, 625.

118. गर्ग, लक्ष्मीनारायण, "हमारे संगीत रत्न", पृ० 466.

119. "संगीत" (मासिक), ठुमरी अंक, जनवरी, फरवरी, 1947, पृ० 27.

120. विलायत हुसैन खाँ, "संगीतज्ञों के संस्मरण", पृ० 217.

121. "कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका, 1965, बब्बन साहब (एक श्रद्धांजलि)", पृ० 6.

122. वही, पत्रिका, पृ० 6.

123. Naina Devi, Thumari Gayeki, "कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका", (1965), पृ० 66.

124. "संगीत" (मासिक पत्रिका), मई 1968, पृ० 60.

125. वही पत्रिका, पृ० 60.

126. (*i*) स्व० शंभू महाराज द्वारा सन् 1965 में बताए गए तथ्यानुसार.
(*ii*) गर्ग, लक्ष्मीनारायण, "कथक नृत्य", पृ० 25.

127. चतुर्वेदी नंदराम, 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' (22 नवम्बर, 1970), 'वे यहां रुकेंगे क्यों कर जिनके पावों में गति है' शीर्षक लेख, पृ० 11.

128. वही पत्रिका, पृ० 11.

129. वही पत्रिका, पृ० 11.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

5

ठुमरी के धुन-राग

भारतीय मान्यता के अनुसार गीत के स्वर, पद, ताल व मार्ग ये चार अंग हैं, जैसे

"स्वरैः पदैस्तालैर्मार्गैरेवं चतुर्भिरंगैरूपेतं ध्रुवादिसंज्ञकम् गीतमिति ।। 30-32 ।।"
(कल्लिनाथ, कलानिधि, संगीतरत्नाकर, द्वितीय रागविवेकाध्याय)

गीत के धुन व राग का संवध 'स्वर' से, काव्य का संबंध पद (शब्द) से, लयतालादि का संवंध 'ताल' से और रचना व शैली का संबंध 'मार्ग' से है। अतएव ठुमरी के विकास का विश्लेषण भी गीत के इन्हीं चार आवश्यक अंगों के अनुसार करना युक्तिसंगत और समुचित होगा।

'ध्वनि' और 'काल' संगीत के मूल तत्त्व हैं जिनमें से 'ध्वनि' संगीत संरचना का नितांत अनिवार्य तत्त्व है। अतएव संगीत में 'ध्वनि' प्रधान और 'काल' उसका सहायक रहता है। संगीत में ध्वनि का उपयोग 'स्वर' व 'पद' के रूप में और काल का प्रयोग 'ताल' के रूप में होता है।

ध्वनि के दो रूपों में से 'स्वर' संगीत के ध्वनिमाधुर्य की अभिव्यक्ति का और 'पद' (शब्द) काव्य के अर्थ की अभिव्यक्ति का साधन है। अर्थरहित, अमूर्त व भावनात्मक होने के कारण स्वर 'अनुभूतिगम्य' और अर्थयुक्त, मूर्त व विश्लेषणात्मक होने के कारण पद 'बुद्धिगम्य' होते हैं। अतएव संगीत में ध्वनि द्वारा मनोभावों की अभिव्यक्ति स्वरों से होती है और स्वरों से ही भारतीय संगीत के धुन व राग बने हैं।

भारतीय संगीत में सांगीतिक नाद के तारत्व (pitch) गुण के अनुसार नीची ऊँची ध्वनियों पर स्थित मूल सात स्वर क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम धैवत व निषाद हैं, जो कि सा, री (रे), ग, म, प, ध, नि इन संक्षिप्त नामों से शुद्ध व विकृत रूपों में गाए-बजाए जाते हैं। समय-समय पर इन सात स्वरों के शुद्ध व विकृत रूपों में अनेक परिवर्तन होते रहे हैं। वर्तमान हिंदुस्तानी संगीत में यद्यपि सात स्वरों के शुद्ध व विकृत भेदों के अचल, तीव्र, कोमल आदि रूपों को मिलाकर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कुल बारह रूपों के नाम ही प्रचलित हैं, फिर भी अनेक धुनों व रागों में उपयुक्त भावाभिव्यंजना के लिए यथोचित ध्वनि प्रयोग की सूक्ष्मता से स्वरों के अनेक भेद हो जाते हैं।

भारतीय संगीत में 'स्वर और वर्ण के योग से बनी विशिष्ट ध्वनिरचना' को 'राग' कहा गया है, जैसे

''योऽसौ ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः।
रंजको जनचित्तानां स रागः कथितो बुधैः॥''

(मतंग, बृहद्देशी)

अर्थात् स्वर व वर्ण से विभूषित और लोगों के चित्त को आनंद देने वाली ध्वनिरचना को प्रबुद्धजन 'राग' कहते हैं। यहां 'वर्ण' का तात्पर्य स्वरों के प्रत्यक्ष क्रियात्मक प्रयोग की स्थायी, आरोही, अवरोही और संचारी विधियों से है। एक ही स्वर का बार-बार प्रयोग स्थायी वर्ण, जैसे—सासा, ग ग ग, म म म म इत्यादि; नीची ध्वनि से ऊँची ध्वनि की ओर स्वरों का चढ़ाव आरोही वर्ण, जैसे—सा रे ग म प ध नी सां; ऊँची ध्वनि से नीची ध्वनि की ओर स्वरों का उतार अवरोही वर्ण, जैसे—सां नि ध प म ग रे सा और किन्हीं दो या तीन वर्णों का मिलाजुला रूप संचारी वर्ण है, जैसे—ग ग म प ध ध ध प म ग रे सा इत्यादि।

भारतीय संगीत में 'राग' को ध्वनिमाधुर्य का सर्वश्रेष्ठ आदर्श माना गया है। भारत के परंपरागत शास्त्रीय संगीत में 'राग' का जो स्थान है, लोकसंगीत में वही स्थान 'धुन' को प्राप्त है।

'धुन' शब्द संस्कृत के ध्वनि शब्द का अपभ्रंशरूप है ध्वनि>धुनि>धुन।[1] अतः 'धुन' शब्द स्वयं ही ध्वनि की माधुर्याभिव्यक्ति का प्रतीक है। इस प्रकार यद्यपि 'धुन' और 'राग' दोनों ही मूलतः 'स्वरवर्णयुक्त ध्वनि की विशिष्ट रचनाएँ' हैं और दोनों कुछ हद तक परस्पर संबद्ध भी हैं; फिर भी दोनों में विशेष अंतर यह है कि धुन का अस्तित्व मूलतः किसी निबद्धगीत (बंदिश) से जुड़ा होता है, जैसे सोहर की धुन, कजली की धुन, चैती धुन, भटियाली धुन इत्यादि; परंतु राग का अस्तित्व और उसका स्वरूप स्वतंत्र होता है। अनेक गीतभेदों की निबद्ध रचनाएँ (बंदिशें) और आलाप आदि अनिबद्ध गान, राग के स्वरूप पर आधारित होते हैं, जैसे भैरव का ध्रुवपद, मालकौंस का ख्याल, भैरवी की ठुमरी इत्यादि। गीतों पर निर्भर होने के कारण धुनों का स्वरूप बहुत ही सीमित होता है, जबकि रागों का स्वरूप विशिष्ट लक्षणों से युक्त और विस्तृत होता है। धुन में लोकतत्त्व और राग में शास्त्रीयता की प्रधानता है। इसीलिए राग में नियम और क्रमबद्धता अधिक दिखाई पड़ती है।

धुन और राग का अंतर ठीक वैसा ही है जैसा कि बोली और भाषा में है। जिस प्रकार साधारण जनसमुदाय में बोली जाने वाली भाषा को बोली और विशिष्ट

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साहित्यिक बोली को भाषा कहा जाता है, उसी प्रकार जनसामान्य में गाई जाने वाली 'स्वरवर्णयुक्त विशिष्ट ध्वनि रचना' को 'धुन' और प्रबुद्धवर्गीय संगीत में शास्त्रीय नियमों के आधार पर निर्मित 'स्वरवर्णविभूषित विशिष्ट ध्वनि रचना' को 'राग' कहा जाता है।[2] जिस प्रकार मनोभाव अभिव्यक्त करने में 'भाषा', 'बोली' की अपेक्षा अधिक सक्षम, शृंखलाबद्ध और विस्तृत होती है, उसी प्रकार 'धुन' की तुलना में 'राग' भी ध्वनि सौंदर्याभिव्यक्ति में अधिक क्रमबद्ध, विस्तीर्ण और सशक्त होता है। यह अंतर होते हुए भी किसी सीमा तक दोनों में अन्योन्याश्रय संबंध भी है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि 'राग' का लोकरूप 'धुन' और 'धुन' का परिष्कृत शास्त्रीय रूप 'राग' है। जैसे अनेक जनबोलियाँ कालक्रमानुसार लोकप्रिय और परिष्कृत होकर साहित्यिक अभिव्यक्ति में अधिक सक्षम होने पर 'भाषा' की श्रेणी में परिगणित होने लगती हैं, उसी तरह लोक में प्रचलित अनेक धुनें भी धीरे-धीरे लोकप्रिय और परिष्कृत होकर कालांतर में रागों की शास्त्रीय परिधि में आ जाती हैं। उदाहरण के लिए पीलू, बरवा, गारा, झिंझोटी, माँड, जँगला इत्यादि अनेक राग हैं, जो कि अपने पूर्व रूप में लोकधुनें ही थीं। आज भी इन रागों के अंश पुरबी, चैती, कजरी, बनजारा, झूमर, लावनी, लेद, भटियाली, माँड इत्यादि अनेक लोकगीतों की धुनों में ढूंढ़े जा सकते हैं। संगीतरत्नाकर में उपरागों के अनंतर जातियों से उत्पन्न होने वाले रागों में 'ध्वनि' नामक राग-विशेष की गणना की गई है।[3] इससे भी धुन (ध्वनि) और राग के पारस्परिक संबंध का आभास मिलता है।

धुनों के रागों के रूप में परिवर्तित होने की प्रक्रिया साधारणतया निम्न-लिखित चार प्रकारों से होती हैं :

1. संगीतज्ञों द्वारा किसी 'धुन' का विश्लेषण किए जाने और उसका सामंजस्य परंपरागत किसी विशेष राग के स्वरूप से पाए जाने पर उसी राग में उस धुन का अंतर्भाव हो जाता है,[4] जैसे काफ़ी राग में गाई जाने वाली 'होली' की धुन या वृंदाबनी-सारंग में गाए जाने वाले लोकगीत 'रसिया' की धुन इत्यादि।

2. किसी धुन में दो रागों की छाया दिखाई देने पर साधारणतः दोनों रागों का संयुक्त नाम दे दिया जाता है, जैसे, पहाड़ी-झिंझोटी, माँड-पहाड़ी, झिंझोटी-गारा इत्यादि।

3. किसी धुन में दो से अधिक विभिन्न रागों की छाया दिखाई देने पर उसमें निहित प्रमुख राग के पूर्व 'मिश्र' और दो से अधिक समप्राकृतिक रागों की छाया दिखाई देने पर प्रमुख राग के पूर्व 'ज़िला' विशेषण जोड़ दिया जाता है, जैसे मिश्रखमाज या ज़िलाकाफ़ी इत्यादि।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

4. किसी धुन में परंपरागत रागों की छाया न मिलने पर उसे स्वतंत्र नाम दे दिया जाता है, जो कि प्रायः उसमें गाए जाने वाले लोकगीत या उसके क्षेत्र से संबंधित होता है, जैसे, माँड, पहाड़ी इत्यादि। कभी-कभी किसी धुन में परंपरागत रागों के तत्त्व मिलने पर भी उस धुन में गाए जाने वाले गीतविशेष की लोकप्रियता के कारण जनसाधारण में गीत का नाम ही राग के नाम से प्रसिद्ध हो जाता है, जैसे राग होली, राग झूमर इत्यादि।

लगभग सन् 1665 में लिखित फ़क़ीरुल्लाह के फ़ारसी ग्रंथ रागदर्पण का ठुमरी-संबंधी वर्णन अभी तक प्राप्त ठुमरी के उल्लेखों में से सबसे पुराना है। उसमें बरवा और ठुमरी को एक ही बताते हुए उसे एक लोक-प्रचलित धुन बताया गया है।[5] किंतु इससे तत्कालीन ठुमरी के प्रत्यक्ष स्वररूप की कोई स्पष्ट कल्पना नहीं हो पाती।

वर्तमान समय में बरवा नामक एक राग अवश्य प्रचलित है, जिसे मूलतः धुन समझा जाता है। इसमें ठुमरी, होली आदि उपशास्त्रीय गीत भी गाए जाते है। बरवा राग का स्वरूप विशेषकर काफ़ी राग में गाए जाने वाले होली गीत की धुन से बहुत मिलता-जुलता है। अतः इसे काफ़ी अंग का राग माना जाता है।[6] इससे केवल यह अनुमान किया जा सकता है कि सत्रहवीं शताब्दी में गाई जाने वाली ठुमरी धुन का स्वरूप वर्तमान बरवा या काफ़ी राग में गाई जाने वाली होली की धुन के समान रहा होगा।

फ़क़ीरुल्लाह के पश्चात् सन् 1675 के लगभग मिर्ज़ा ख़ान ने तोहफ़तुल-हिंद नामक अपने ग्रंथ में ठुमरी का वर्णन एक रागिनी के रूप में करते हुए उसमें शंकराभरण और मारू का मिश्रण बताया है। उसी ग्रंथ में वर्णित पहाड़ी रागिनी में भी इन्हीं रागों का मिश्रण बताया गया है।[7] इससे तत्कालीन ठुमरी का स्वरूप पहाड़ी रागिनी के समान सिद्ध होता है। आज भी पहाड़ी में ठुमरी गाई जाती है।

तोहफ़तुलहिंद में वर्णित काफ़ी रागिनी का स्वरूप भी अनेक अंशों में ठुमरी और पहाड़ी से मिलता-जुलता है[8]। आगे चलकर सन् 1855 में मोहम्मद करम इमाम ने भी यमनी-पहाड़ी में काफी के स्वरों का व्यवहार होना बताया है।[9] अतः यह भी अनुमान किया जा सकता है कि मिर्ज़ा ख़ान के समय ठुमरी और पहाड़ी बहुत-कुछ काफी रागिनी के समान थी। यद्यपि यह अनुमान तोहफ़तुलहिंद के उल्लेखों पर आधारित है, तथापि उस ग्रंथ में कहीं भी ठुमरी रागिनी के स्वर रूप का वर्णन न किए जाने के कारण तत्कालीन ठुमरी के प्रत्यक्ष स्वररूप की स्पष्ट कल्पना होना दुष्कर है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ठुमरी राग में व्यवहृत स्वरों और उसके रागरूप का प्रत्यक्ष दर्शन सर्वप्रथम, जयपुर नरेश सवाई प्रतापसिंह के श्रीराधागोविंद संगीतसार नामक ग्रंथ से मिलता है। सवाई प्रतापसिंह का राज्यकाल सन् 1779 से 1804 तक माना जाता है।[10] अतएव श्री राधागोविंद संगीतसार ग्रंथ से अठारहवीं शताब्दी में प्रचलित ठुमरी के स्वररूप की कल्पना पर्याप्त अंशों में प्रत्यक्ष हो जाती है।

श्रीराधागोविंद संगीतसार के अनुसार ठुमरी राग में गारा और काफ़ी का मिश्रण है तथा उसका आरोहावरोह संपूर्ण है।[11] उसी ग्रंथ में ठुमरी राग के स्वर-रूप का जंत्र इस प्रकार दिया गया है[12] :

रि	रिषभ चढ़ी, मात्रा एक	स	षड्ज असलि, मात्रा एक
स	षड्ज असलि, मात्रा एक	रि	रिषभ चढ़ी, मात्रा एक
ध	धैवत चढ़ी, मात्रा एक	ग	गांधार उतरी, मात्रा एक
नि	निषाद उतरी, मात्रा एक	रि	रिषभ चढ़ी, मात्रा एक
स	षड्ज असलि, मात्रा एक	स	षड्ज असलि, मात्रा एक
रि	रिषभ चढ़ी, मात्रा एक	रि	रिषभ चढ़ी, मात्रा एक

ग	गांधार चढ़ी, मात्रा एक	रि	रिषभ चढ़ी, मात्रा एक
रि	रिषभ चढ़ी, मात्रा एक	म	मध्यम उतरी, मात्रा एक
स	षड्ज असलि, मात्रा एक	प	पंचम असलि, मात्रा एक
नि	निषाद उतगी, मात्रा एक	म	मध्यम उतरी, मात्रा एक
स	षड्ज असलि मात्रा एक	रि	रिषभ चढ़ी, मात्रा एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग	गांधार उतरी, मात्रा एक	ग	गांधार उतरी, मात्रा एक
रि	रिषभ चढ़ी, मात्रा एक	रि	रिषभ चढ़ी, मात्रा एक
स	षड्ज असलि, मात्रा एक	स	षड्ज असलि, मात्रा एक
रि	रिषभ चढ़ी, मात्रा एक		

इस जंत्र के आधार पर ठुमरी राग का स्वरूप वर्तमान स्वरलिपि में इस प्रकार होगा :

रे सा ध नि सा रे सा रे ग रे सा रे ग रे सा नि सा रे म प म रे ग रे सा रे ग रे सा।

श्री राधागोविंद संगीतसार के ठुमरी-संबंधी वर्णन और उपरोक्त स्वर-विन्यासों का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर अठारहवीं शताब्दी में प्रचलित ठुमरी के ध्वनिरूप के संबंध में निम्नलिखित तथ्य दिखाई पड़ते हैं :

1. ठुमरी संपूर्ण जाति का राग था और उसमें साधारणतया कोमल ग नी तथा शेष शुद्ध स्वरों का व्यवहार होता था। कभी-कभी शुद्ध गांधार का भी किंचित् प्रयोग कर लिया जाता था। दूसरे शब्दों में तत्कालीन ठुमरी में मुख्यतः काफ़ी राग के स्वरों का व्यवहार किया जाता था और काफ़ी के ही समान उसमें शुद्ध गांधार का भी कहीं-कहीं प्रयोग कर लिया जाता था।
2. ठुमरी में गारा और काफ़ी इन दो रागों का मिश्रण था। गारा का विशिष्ट स्वरस्थाय या रागांग केवल 'रे सा, ध नि सा रे सा' और थोड़ा 'ग रे सा' स्वरसमूहों में ही झलकता है। इसके अतिरिक्त स्वर-विस्तार के अधिकांश भाग में काफ़ी राग की ही प्रधानता दिखाई पड़ती है। इससे प्रतीत होता है कि तत्कालीन ठुमरी का स्वरूप मुख्यतः काफ़ी के समान था और उसमें कहीं-कहीं गारा की छाया भी पड़ती थी।
3. यद्यपि ठुमरी राग वर्णन में इसका कोई उल्लेख नहीं किया गया है, फिर भी स्वर विस्तार का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर उसके 'रे म, प म रे ग रे सा' स्वरस्थाय में बरवा राग की झलक दिखाई पड़ती है। इससे सत्रहवीं शताब्दी में प्रचलित ठुमरी से बरवा और काफ़ी के संबंध की श्रृंखला भी दिखाई पड़ती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ब्रज के साथ ही लगे हुए बुंदेलखंड प्रदेश में होली के अवसर पर जनता में 'लेद' नामक लोकगीतों को गाए जाने की प्रथा है, जिनकी गानशैली ठुमरी से बहुत मिलती-जुलती है। अतएव लेद को सुनने पर ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे बुंदेली बोली में कोई ठुमरी गाई जा रही हो। इन लेद गीतों की कुछ धुनें श्रीराधागोविंद-संगीतसार में वर्णित ठुमरी राग के स्वररूप से बहुत समानता रखती है, जैसे :

लेद[13] (ताल-त्रिताल या कहरवा)

स्थायी

														नि	सा
														य	ही
					म		सा					म			
रे	ग	रे	म	रे	ग	रे	नि	सा	—	रे	रे	ग	रे,	सा	रे
आ	ऽ	स	जि	या	ऽ	में	ऽ	आ	ऽ	ख	ट	की	ऽ,	र	खें
0				3				×				2			
सा			नि						म		सा				
नि	सा	सा	ध	नि	—	सा	सा	रे	ग	रे	नि	सा	—,	नि	सा
ला	ऽ	ज	मो	री	ऽ	ह	र	घूं	ऽ	घ	ट	की	ऽ,	हाँ	ऽ
0				3				×				2			
	म														
रे	ग	रे	सा	रे	—	रेग	म	रे	ग	रे	रे	रे	ग	सा	रे
घूं	ऽ	घ	ट	की	ऽ	घूंऽ	ऽ	घ	ट	प	ट	की	ऽ	न	र
0				3				×				2			
								म	रे	सा					
नि	सा	नि	ध	नि	-सा	नि	सा	मम	गग	रे	नि	सा	—,	नि	सा
हूं	ऽ	अ	ट	की	ऽऽ	न	फि	रूंऽ	ऽऽ	म	ट	की	ऽ,	य	ही
0				3				×				2			

इस लेद की धुन और श्रीराधागोविंद संगीतसार के ठुमरी राग, इन दोनों में कहीं-कहीं रे पर किंचित् न्यास और 'ध नि सा'; 'म रे ग रे'; 'नि सा रे ग रे' इत्यादि स्वर समूहों के प्रयोग में अद्भुत साम्य दिखाई पड़ता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस शताब्दी के पूर्वार्ध में एक पुरानी ठुमरी बड़ी लोकप्रिय थी, जिसकी धुन उक्त लेद और श्रीराधागोविंद संगीतसार में वर्णित ठुमरी राग के स्वरूप से बहुत साम्य रखती है। यह धुन इस प्रकार है :

ठुमरी (ताल-त्रिताल या कहरवा)

स्थायी

–	रे	रे	ग	सा	रे	(नि)ध	नि	सा	–	–	सा	(सा)	–	नि	ध
ऽ	चु	रि	याँ	क	र	की	ऽ	जा	ऽ	ऽ	यें	हाँ	ऽ	मो	री
0				3				×				2			
नि	रेरे	–	रे	रे	–	ग	रे	ग	सा	रे	म	रे	ग	सा	–
ना	जुक्	ऽ	क	लै	ऽ	याँ	ऽ	ऽ	छो	ऽ	ड़ो	वैं	ऽ	यां	ऽ
0				3				×				2			

सावन के महीने में पूर्वी उत्तर प्रदेश के मिर्ज़ापुर, बनारस, इलाहाबाद, अयोध्या इत्यादि क्षेत्रों में गाई जाने वाली मिर्ज़ापुरी कजरी की निम्नलिखित सुप्रसिद्ध लोकधुन भी पूर्वोक्त ठुमरीराग, लेद व ठुमरी की धुनों से बहुत मिलती जुलती है :

मिर्ज़ापुरी कजरी (ताल-कहरवा)

स्थायी

(सा)	–	नि	ध	नि	रे	–	रे	रे	ग	(म)	–	रे	–	ग	–
झू	ऽ	ला	ऽ	प	ड़ा	ऽ	क	द	म	की	ऽ	डा	ऽ	री	ऽ
0				×				0				×			
रे	ग	सा	–	–	रे	रे	ग	सा	रे	ध	नि	सा	–	–	–
झू	ऽ	लें	ऽ	ऽ	कृ	ष्ण	मु	रा	ऽ	री	ऽ	ना	ऽ	ऽ	ऽ
0				×				0				×			

श्रीराधागोविंद संगीतसार में लिखित ठुमरी राग के जंत्र, बुंदेलखंड की लेद, पूर्वोक्त ठुमरी और मिर्ज़ापुरी कजरी के स्वररूप की तुलना करने पर इन तीनों के स्वर-विन्यासों में समानता के साथ-साथ गारा, काफ़ी तथा बरवा रागांशों की झलक भी दिखाई पड़ती है। जैसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

ठुमरी राग (श्रीराधागोविन्द संगीतसार)	लेद	ठुमरी व कजरी	रागांश
1. रे सा, ध नि सा या रें सा, ध नि सा रे सा	सा रे नि सा, सा (नि) ध नि सा या सा रे नि सा, नि ध नि सा या नि ध नि सा रे ग रे	रे रे ग सा रे, ध नि सा या सा, नि ध नि रे, रे ग रे	1. गारा
2. सा रे ग रे सा रे	सा, रे रे, ग रे, सा रे या नि सा रे ग रे सा रे	रे रे ग सा रे या रे रे ग रे ग, सा रे	2. काफ़ी
3. रे म प म रे ग रे सा	रे म रे ग रे नि सा	सा रे म रे ग (रे) सा	3. बरवा

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट होता है कि उक्त तीनों धुनों में गारा, काफी और बरवा रागों का संमिश्रण है। यद्यपि ऐसी धुन से मिलता-जुलता सिंध नामक एक राग भी प्रचलित है, जो कि ठुमरी आदि गीतों में प्रयुक्त होने वाला काफी अंग का राग है।[14] कभी-कभी कुछ सितारिए सिंध राग में एक गत बजाते हैं, जिसकी रूपरेखा प्रायः इस प्रकार है :

स्थायी

नि	रे	गग	मम	ग –	गरे	– सा	गग	रे	सासा	ध	नि	सा	– सा	नि	ध
दा	रा	दिर	दिर	दाऽ	रदा	ऽर	दिर	दा	दिर	दा	रा	दा	ऽर	दा	रा
2				0				3				×			

पूर्वोक्त तीनों धुनों में गारा की मात्रा कम और काफी तथा बरवा का अंश अधिक है। इससे ज्ञात होता है कि अठारहवीं शताब्दी में गाई जाने वाली ठुमरी की मुख्य धुन में काफ़ी और बरवा के मिले-जुले रूप की प्रधानता थी। फ़क़ीरुल्लाह के सत्रहवीं शताब्दी के ठुमरी-संबंधी वर्णन से भी इस ठुमरी धुन का मेल ठीक बैठ जाता है। काफ़ी तथा बरवा दोनों एक ही परिवार के राग हैं और दोनों में काफ़ी अंग ही प्रधान होने के कारण ठुमरी के प्रारंभिक स्वरूप में भी काफ़ी राग की प्रधानता सिद्ध होती है।

उत्तर भारत में गाई जाने वाली होली (चाँचर) को ठुमरी गान के अंतर्गत ही समझा जाता है। होली (चाँचर) का गान लोकपरंपरा में बहुत पहले से ही होता आया है। होली और वसंत ऋतु के गीतों की प्रमुख और लोकप्रिय धुनें अधिकतर काफ़ी राग में गाई जाती हैं। इनमें से होली (चाँचर) की एक प्रमुख धुन में काफ़ी के साथ-साथ बरवा की झलक भी पर्याप्त अंशों में मिलती है। अतएव ठुमरी तथा होली (चाँचर) के पारस्परिक संबंध और दोनों की इन धुनों में समान लक्षणों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में गाई जाने वाली ठुमरी और होली (चाँचर) की इन धुनों का विकास मूलत: किसी ऐसी लोकधुन से हुआ है, जिसमें लगने वाले स्वर वर्तमान काफ़ी राग के स्वरों जैसे रहे होंगे।

शार्ङ्गदेव ने वसंतोत्सव पर गाए जाने वाले चच्चरी (चर्चरी) प्रबंध में हिंदोल राग का प्रयोग बताया है।[15] हिंदोल षाड्जी, गांधारी, मध्यमी, पंचमी, निषादी नामक पाँच शुद्ध जातियों से उत्पन्न राग था, जिसमें रि ध स्वर वर्ज्य और ग्रह, अंश, न्यास षड्ज स्वर था। यह मध्यमग्राम की शुद्धमध्या नामक चौथी मूर्च्छना का राग था और उसके बीच-बीच में काकली निषाद का प्रयोग होता था। वसंत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऋतु के चतुर्थ प्रहर में गाए जाने वाले इस राग में संभोग शृंगार का विनियोग होता था और इसी से वसंत राग का उद्भव होता था।[16] हिंदोल के लक्षणों से युक्त सप्त स्वर वाले संपूर्ण रूप को वसंत या देशीहिंदोल कहा जाता था[17] और पूर्ण सप्तस्वरता ही इस देशीहिंदोल या पूर्णहिंदोल (वसंत)[18] को हिंदोल से अलग करती थी।

ऋतु नाम ग्रहण करने वाले वसंत राग का वसंतोत्सव से विशेष संबंध है। अतएव हिंदोल का भेद और ऋतु राग होने के कारण वसंत (देशीहिंदोल) का प्रयोग भी वसंतोत्सव पर गाए जाने वाले चर्चरी (चच्चरी) गान में होता था। संगीतराज में महाराणा कुंभा ने भी चच्चरी प्रबंध में वसंत राग का व्यवहार बताया है।[19]

तुलनात्मक दृष्टि से प्राचीन हिंदोल व अर्वाचीन धानी[20] और प्राचीन वसंत व आधुनिक काफ़ी के स्वरों में बहुत सामीप्य दिखाई पड़ता है। मध्यम-ग्रामीय राग होने के कारण प्राचीन वसंत का पंचम स्वर त्रिश्रुतिक था, जबकि काफ़ी में पचम स्वर चतुःश्रुतिक है। अतः इन दोनों रागों के पंचमों में केवल एक श्रुत्यंतर के अतिरिक्त शेष सभी स्वरों की स्थिति एक जैसी दिखाई देती है।

कल्लिनाथ के अनुसार स्वरनामयुक्त षाड्जी, गांधारी, मध्यमा, पंचमी तथा निषादी जातियों को ग्रहण करने के कारण हिंदोल को मध्यम और षड्ज दोनों ग्रामों से उत्पन्न कहा गया है। रि ध स्वरों का त्याग होने से, यद्यपि हिंदोल का संबंध मध्यमग्राम से था, तथापि लोक में इसके प्रत्यक्ष क्रियात्मक रूप में चतुःश्रुतिक पंचम का व्यवहार होने के कारण हिंदोल का संबंध षड्जग्राम से भी दिखाई पड़ता था। इसलिए हिंदोल को द्विग्रामीय कहा गया है।[21] इसकी पुष्टि महाराणा कुंभा ने भी की है। महाराणा कुंभा ने संगीतराज में हिंदोल के लक्षण इस प्रकार बताए हैं:

"धैवत्यार्षभिकावर्जशुद्धजातिसमुद्भवः।
ग्रहांशन्यासषड्जश्च धैवतर्षभवर्जितः ॥499॥

आरोहिवर्णसंयुक्तः प्रसन्नादिविभूषणः।
काकलीस्वरभूयिष्ठः शुद्धमध्यमादिमूर्च्छनः ॥500॥

वीररौद्राद्भुतरसो नियोज्योवासरान्तिमे।
यामे वसन्तकाले च शम्बरारिप्रियंकरः ॥501॥

सम्भोगे च विशेषेण हिन्दोलः स्यादिहोद्भवः।
केचिद् ऋषभालोपेन हिंदोलं षड्जसंश्रितम् ॥502॥

वदन्ति, तन्मतं नार्हं मतंगादिविरोधतः।
धैवतस्यादिलोपेन द्विग्रामत्वेऽपि मध्यगम् ॥503॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मध्यमग्रामजात्युत्थं शुद्धमध्याख्यमूर्च्छनम् ।
अमुं रागविवेकज्ञ: प्राह श्रीकालजिन्नृप: ।।504।।

महाराणा कुंभा के उपरोक्त हिंदोल वर्णन के अनुसार भी तत्कालीन प्रच' में हिंदोल को द्विग्रामीय माना जाना सिद्ध होता है। इससे पता चलता है कि उस समय हिंदोल के विभेद में भी चतु:श्रुतिक पंचम का व्यवहार लोक में प्रचलित था, जो कि वर्तमान काफ़ी ठाठ में व्यवहृत होने वाले पंचम स्वर के ही समान था।

प्राचीन हिंदोल में रि ध वर्ज्य औडुवत्व और वसंत में संपूर्णत्व के अतिरिक्त दोनों रागों के समस्त लक्षण एक समान होने के कारण वसंत को देशीहिंदोल या पूर्णहिंदोल भी कहा जाता था और उसे एक प्रकार का हिंदोल ही समझा जाता था।[22] अतएव हिंदोल अंग का यह प्राचीन वसंत भी इस न्याय के द्विग्रामीय सिद्ध होता है और प्रत्यक्ष रूप से उसमें भी चतु:श्रुतिक पंचम का व्यवहार होता था। इस दृष्टि से प्राचीन वसत और अर्वाचीन काफ़ी के सभी स्वरों की स्थिति और पारस्परिक संवादों में समानता दिखाई पड़ती है। प्राचीन वसंत और अर्वाचीन काफी के स्वरों का तुलनात्मक विवेचन इस प्रकार हैं:

श्रुति संख्या	प्राचीन वसंत के स्वर	काफ़ी के स्वर	श्रुति संख्या	पं० भातखंडे द्वारा मान्य श्रुतिस्वर व्यवस्था
22	नि	नि॒	1	सा
1			2	
2			3	
3			4	
4	सा	सा	5	रे
5			6	
6			7	
7	रे	रे	8	[illegible]
8			9	
9	ग	ग॒	10	म
10			11	
11			12	
12			13	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

13	म	म	14	प
14			15	
15			16	
16	प (मध्यमग्रामीय त्रिश्रुतिक)		17	
17	प (षड्जग्रामीय चतु:श्रुतिक)	प	18	ध
18			19	
19			20	
20	ध	ध	21	नि
21			22	
22	नि	नि	1	सां

पं० विष्णु नारायण भातखंडे द्वारा मान्य श्रुतिस्वर व्यवस्थानुसार आधुनिक शुद्ध स्वर मेल बिलावल है।[23] यदि इसके ऋषभ स्वर पर षड्जसंक्रमण विधि से षड्ज स्थापित कर दिया जाय तो क्रियात्मक रूप में काफ़ी या प्राचीन वसंत के समान सप्त स्वरावलि प्राप्त होती है, जैसे

सा रे ग म प ध नि सां रें—बिलावल

नि सा रे ग म प ध नि सां—काफ़ी या प्राचीन वसंत

अनेक विद्वानों का विचार है कि सूक्ष्म ध्वनि दृष्टि से षड्जग्राम प्रचलित काफ़ी के सदृश शत-प्रतिशत भले ही न रहा हो, परंतु षड्जग्राम की श्रुति स्वर व्यवस्था में स्वरांतरों को देखते हुए ऐसा अनुमान होता है कि मोटे तौर पर वह लगभग वर्तमान काफ़ी की स्वरावलि के समान अवश्य रहा होगा। इस दृष्टि से प्राचीन वसंत और वर्तमान काफ़ी में सूक्ष्म ध्वन्यंतर होने पर भी वह मोटे तौर पर काफी जैसा ही अनुमानित होता है। चच्चरी गान में प्रयुक्त वसंत और वर्तमान होली (चाँचर) तथा ठुमरी की धुनों में व्यवहार होने वाले काफ़ी राग में यह सूक्ष्म भेद संभवतः संगीत के परवर्ती प्रभावों और परिवर्तनों का परिणाम है।

हिंदुस्तानी संगीत का वर्तमान वसंत राग पूर्वी ठाठ में है।[24] मुहम्मद करम इमाम ने इसे क़व्वालों का वसंत कहा है, जिसकी परंपरा हज़रत अमीर ख़ुसरो से मानी जाती है।[25] कहा जाता है कि अमीर ख़ुसरो के समय प्राचीन वसंत के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वरों का ठाठ लौट (उलट) कर उसे पूर्वी ठाठ की स्वरावलि में परिवर्तित किया गया।[26] ऐसी उपलब्धि काफी की स्वरावलि को लौटने (उलटने) पर ही संभव है, जैसे

प्राचीन वसंत (आधुनिक काफ़ी ठाठ) के स्वर	आधुनिक वसंत (पूर्वी ठाठ) के स्वर
सा (अचल)	सा (अचल)
रे (तीव्र या शुद्ध)	<u>रे</u> (कोमल)
<u>ग</u> (कोमल)	ग (तीव्र या शुद्ध)
म (कोमल या शुद्ध)	मं (तीव्र)
प (अचल)	प (अचल)
ध (तीव्र या शुद्ध)	<u>ध</u> (कोमल)
<u>नि</u> (कोमल)	नि (तीव्र या शुद्ध)

इससे भी काफी के स्वरों का प्राचीन वसंत के स्वरों से संबंध दिखाई पड़ता है।

प्राचीन हिंदोल में काकली निषाद का प्रयोग भी होता था।[27] इस न्याय से हिंदोल के सभी लक्षणों वाले पूर्णहिंदोल अर्थात् वसंत (देशीहिंदोल) में भी काकली निषाद का प्रयोग विहित था। षड्ज से दो श्रुत्यंतर पूर्वस्थित होने के कारण प्राचीन काकली और वर्तमान तीव्र या शुद्ध निषाद स्वर एक-जैसे हैं। अतः प्राचीन वसंत में होने वाले इस काकली प्रयोग की समता आज के युग में काफ़ी, तथा काफ़ी अंग के बरवा, सिंदूरा इत्यादि रागों में गाई जाने वाली होली (चाँचर) और ठुमरी की धुनों में किए जाने वाले शुद्ध या तीव्र निषाद के प्रयोग से की जा सकती है।

श्रीराधागोविंद संगीतसार में ठुमरी राग के जंत्र, बुंदेलखंड की लेद, पूर्वोक्त ठुमरी और मिर्जापुरी कजरी में व्यवहृत कुछ स्वरस्थाय महाराणा कुंभाकृत संगीत-राज में वर्णित वसंत राग के स्वरकरण तथा आलाप में दिए गए कुछ स्वरस्थायों से बहुत समानता रखते हैं, जैसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ठुमरीराग (श्री रा० गो० संगीतसार), लेद, ठुमरी तथा कजरी	वसंत (संगीतराज)
1. म रे ग रे सा रे	1. म रि गा रि सा रि (करण में)[28]
2. कहीं-कहीं ऋषभ का बहुत्व	2. कहीं कहीं ऋषभ का बहुत्व (करण में)[29]
3. रे सा, ध नि सा या रे ग सा रे ध नि सा	3. गा रि स री ध नि स (आलाप में)[30]

इस प्रकार न केवल होली (चाँचर) और ठुमरी में प्रयुक्त काफ़ी राग की समता प्राचीन वसंत राग से दिखाई पड़ती है, अपितु प्रारंभिक ठुमरी की प्रमुख धुन और प्राचीन वसंत के स्वरसन्निवेश भी एक-जैसे प्रतीत होते हैं। अतएव इन आधारों के अनुसार वर्तमान होली (चाँचर) और सत्रहवीं, अठारहवीं शताब्दी में गाई जाने वाली ठुमरी की प्रमुख धुनों व रागों की विकास शृंखला प्राचीन चर्चरी (चच्चरी) गान में व्यवहृत होने वाले वसंत राग से जुड़ती है।

वर्तमान होली और ठुमरी को कई अन्य रागों में गाए जाने पर भी होली की धुनों में मुख्यतः काफ़ी तथा काफ़ी अंग के बरवा, सिंध, सिंदूरा इत्यादि रागों की प्रधानता अधिक मिलती है। होली (चाँचर) गान को तो ठुमरी के अंतर्गत माना ही जाता है, इसके अतिरिक्त इन रागों में अन्य प्रकार की ठुमरियाँ भी गाई जाती हैं। सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी की प्रारंभिक ठुमरी धुन या राग का स्वरूप भी काफी अंग के अंतर्गत सिद्ध होता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वसंतोत्सव के अवसर पर प्राचीन चर्चरी गान में व्यवहार किया जाने वाला वसंत राग ही लोक-संगीत की परंपरा में होते हुए कालांतर में होली और प्रारंभिक ठुमरी की प्रमुख धुनों के रूप में विकसित हुआ।

पूर्वोक्त ठुमरी धुन या राग के अतिरिक्त अठारहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक जँगला[31], मुलतानी[32] तथा कालिंगड़ा[33] आदि कुछ अन्य धुनों या रागों का यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है, जो कि ठुमरी गान के लिए उपयुक्त समझे जाते थे। अठारहवीं शताब्दी के नवाब दरगाह क़ुली ख़ाँ कृत मुरक्क़ये देहली नामक ग्रंथ से पता चलता है कि तत्कालीन दिल्ली और उसके आस-पास जँगला धुन बड़ी लोकप्रिय थी।[34] जँगला आज भी ठुमरी की लोकप्रिय धुनों में से एक है, जिसमें कई रागों के अंश मिले-जुले रहते हैं।[35] तुलनात्मक दृष्टि से जँगला की धुन पर्याप्त अंशों में पूर्वोक्त ठुमरी राग से मिलती-जुलती है, जैसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जंगला धुन	ठुमरी राग
1. सा रे नि ध, ध नि सा नि सा	1. सा रे नि ध, ध नि सा या रे सा, ध नि सा रे सा
2. नि प, ध सा, रे ग रे	2. ध नि सा रे सा, रे ग रे
3. रे ग रे सा रे, ग म ग रे सा	3. रे ग रे सा रे, ग रे सा
4. रे प ग रे, ग रे सा	4. रे म प म रें, ग रे सा

पं० भातखंडे जी ने जँगला को आसावरी थाट के अंतर्गत माना है।[36] यदि जँगला के उपरोक्त स्वरूप को, पंचम स्वर पर षड्ज मान कर गाया जाए तो आसावरी मेलजन्य जँगला राग का स्वरूप प्राप्त हो जाएगा, जैसे

1. म प ग रे, रे ग म ग म।
2. ग सा, रे म, प ध प।
3. प ध प म प, ध नि ध प म।
4. प सां ध प, ध प म।

अठारहवीं शताब्दी में मोहम्मद शाह रँगीले कृत 'मुलतानी ठुमरी'[37] और उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में जोधपुर के महाराजा मानसिंह कृत 'राग कालिंगड़ो ठुमरी'[38] के उदाहरणों से ज्ञात होता है कि उस समय तक विभिन्न प्रकार के और भी कई धुनों व रागों में ठुमरियाँ गाई जाने लगी थीं। आगे चलकर श्री कृष्णानंद-देवव्यास ने सिंधु, देशी, भैरवी, भैरवी-पहाड़ी, झिंझोटी, सिंधु काफी, मुलतानी, बरवा, देश, खंभावती, गारा, बिहारी, बिहाग, देश-सोरठ, पीलू, जंगला, खम्माइची (खमाज), कालिंगड़ा, इत्यादि[39]; हकीम मोहम्मद करम इमाम ने पहाड़ी, झिंझोटी, पहाड़ी-झिंझोटी, बिहारी, सिंधु, सिंधूरी, खमाच, सिंधु-खमाच, धौल, भैरवी, फूलानी, मुलतानी, सोव, तिलककामोद, लूम, पीलू, चँगड़ो, कल्यानी, धानी, इत्यादि[40]; तथा श्रीयुत कृष्णधन बनर्जी ने भैरवी, खमाज, कालिंगड़ा, देश, सिंधु, काफी, झिंझोटी, पीलू बरवा, माँझ, इमनी, लूम, जँगला, बिहाग इत्यादि धुन व रागों का उल्लेख किया है।[41] ये सभी ठुमरी गान के उपयुक्त समझे जाते हैं। इससे ज्ञात होता है कि उन्नसवीं शताब्दी के मध्य तक ठुमरी में व्यवहृत होने वाले रागों की संख्या बहुत बढ़ गई थी। इन रागों के पर्यवेक्षण से पता चलता है कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इनमें से कुछ राग तो लोकसंगीत की धुनों से मध्ययुग में विकसित हुए और कुछ पहले से ही संगीत की शास्त्रीय परंपरा में व्यवहृत होते चले आ रहे हैं। ठुमरी गान में व्यवहृत होने वाले, लोकधुनों से संबद्ध अनेक रागों का विकास लगभग सत्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी पर्यंत हुआ है। अतः मुस्लिम शासन काल में विकसित और प्रतिष्ठित होने के कारण ऐसे रागों को प्रायः यावनिक समझा जाता है।

शृंगार की अभिव्यक्ति में सहायक हो सकने वाले राग ठुमरी के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं। इसलिए ठुमरी गान में प्रायः हलके और चपल प्रकृति के रागों का अधिक व्यवहार होता है। इनमें ठुमरी की शृंगारिक प्रकृति के अनुकूल खटका, मुर्की, मींड आदि क्रियाओं का प्रचुर उपयोग किया जा सकता है। शब्दप्रधान गीत-भेद होने के कारण ठुमरी में बोलों का बहुत महत्त्व है। बोलों में निहित भावों की अभिव्यक्ति के लिए ठुमरी गायक को प्रायः अन्य रागों के स्वरसंदर्भों का उपयोग भी करना पड़ता है। अतएव ठुमरी गान के लिए ऐसे राग अधिक उपयुक्त होते हैं, जिनका स्वरूप इतना सुगम हो कि उसमें अन्य रागों का मिश्रण भी सरलता-पूर्वक किया जा सके।

आनंद, उमंग और शृंगारपूर्ण लोकगीतों की धुनों में शास्त्रीय दृष्टि से प्रायः चपल और हलके रागों का प्रयोग अधिक मिलता है। थोड़े से ही स्वरस्थानों में सीमित रहने के कारण लोकधुनों में प्रायः हलके या क्षुद्र समझे जाने वाले ऐसे रागों की रूपरेखा अधिक दिखाई पड़ती है, जिनके स्वरविस्तार की परिधि कम होती है। इन रागों की स्वर-सीमा भी प्रायः कम ही होती है। इनमें से कुछ रागों की सीमा तो केवल एक से लेकर डेढ़ सप्तक तक ही होती है, जैसे सिंध, गारा, बिहारी इत्यादि। अधिकांश लोकधुनों में ऐसे रागों के तत्त्व प्रायः मिले-जुले रूप में पाए जाते हैं। अतः लोकधुनों में चपलता और संकीर्णत्व का होना स्वाभाविक ही है। अपने इन गुणों के कारण लोकधुनें ठुमरी की शृंगारिक प्रकृति के बहुत अनुकूल रहीं। परिणामतः समय-समय पर अनेक लोकधुनों और उनमें सन्निहित रागों का व्यवहार ठुमरी-गान में होता रहा है। उदाहरण के लिए पश्चिमी उत्तर प्रदेश का एक लोकगीत प्रस्तुत है, जिसकी धुन का स्पष्ट प्रभाव अनेक ठुमरी-रचनाओं में दिखाई पड़ता है, जैसे

ताल दीपचंदी (चाँचर—मात्रा 14)

प̣	प̣	–	नि̣	–	नि̣	–	नि̣	सा	–	(सा)ग	रे	ग	म
सु	नो	ऽ	स	ऽ	खि	ऽ	सँ	याँ	ऽ	जो	ऽ	गि	ऽ
×			2						.	3			

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मग	–	-रे	सासा	–	रे	नि॒ (रे)	सा	–	–	–	–	नि	सा
याऽ	ऽ	ऽऽ	होय	ऽ	ऽ	ग	ये	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
×			2				0			3			

(म)रे	रे	–	म	–	म	–	प	प	–	–	–	–	–
ह	म	ऽ	हूं	ऽ	जो	ऽ	गि	न	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
×			2				0			3			

प	–	–	म	–	पध	-प	म	–	ग	(रे)ग	-रे	सा	नि
हो	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽऽ	ऽय	जा	ऽ	ऽ	ऽ	ऽऽ	यँ	ऽ
×			2				0			3			

इस लोकधुन की रूपरेखा साधारणतया तिलककामोद राग में है। इस लोकधुन से तादात्म्य रखने वाली अनेक ठुमरियों में से एक प्रसिद्ध ठुमरी इस प्रकार है :

ठुमरी (ताल दीपचंदी चाँचर—14 मात्रा)

स्थायी

प॒	प॒	–	नि	–	नि	–	नि	सा	–	(रे)ग	सारे	ग	म
अ	ब	ऽ	की	ऽ	सा	ऽ	व	न	ऽ	ऽ	ऽऽ	घ	र
×			2				0			3			

(म)ग	–	-रे	सा	–	–	–	(सा)	–	–	नि	–	–	–
आ	ऽ	ऽऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	जा	ऽ	ऽ	रे	ऽ	ऽ	ऽ
×			2				0			3			

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अंतरा

रे(म) रे —	म — म —	प — —	प — प —
उ ड़ ऽ	जा ऽ रे ऽ	का ऽ ऽ	गा ऽ ले ऽ
×	2	0	3
म म —	प — — प	म पध प	म ग-रे सा —
ज इ ऽ	यो ऽ ऽ सँ	दे ऽऽ स	वा ऽऽऽ ऽ ऽ
×	2	0	3

इत्यादि........

यही ठुमरी सोलह मात्राओं वाले चाँचर (जत) में इस प्रकार गाई जाती है :

स्थायी

प़ प़ नि़ नि़	सा गसारे(रे)- ग म	ग(म) — — -रे	(सा) — नि़ —
अ व की सा	व नऽऽऽ घ र	आ ऽ ऽ ऽऽ	जा ऽ रे ऽ
0	3	×	2

अंतरा

रे(म) रे म म	प — प -प	मम — प -प	म पधप मग(रे) सा
उ ड़ जा रे	का ऽ गा ऽले	जइ ऽ यो ऽसँ	दे ऽऽस वाऽ ऽ
0	3	×	2

इत्यादि..............

कभी-कभी ठुमरी और उसके गीतभेदों में व्यवहार होने वाली किसी धुन का सामंजस्य किसी एक क्षेत्र की विशिष्ट लोकधुन से ही न होकर विभिन्न क्षेत्रों की विभिन्न लोकधुनों से भी दिखाई पड़ता है, जैसे एक प्रसिद्ध दादरा गीत प्रस्तुत है, जिसकी धुन अलग-अलग क्षेत्रों में प्रचलित विभिन्न लोकगीतों से मिलती-जुलती है :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ताल दादरा (6 मात्रा)

स्थायी

सा										ध	
ग	ग	ग	ग	ग	म	म	ग	रे	सा	निंनि	-ध
को	य	लि	या	म	त	क	रे	पु	का	ऽऽ	ऽर
×			0			×			0		
			रे								
धनि	निरे	रे	ग	-रे	गप	म	ग	रे	सा	नि	सा
कऽ	रेऽ	ज	वा	ऽऽ	मेंऽ	ला	गे	क	टा	ऽ	र
×			0			×			0		

बुंदेलखंड की लेद (ताल दादरा—6 मात्रा)

स्थायी

,	नि	सा
,	ढु	ढ
0		

रे							म				
ग	ग	ग	ग	ग	म	म	गग	रे	सा	नि	ध
वा	लो	सि	री	म	हा	रा	ऽज	ह	मा	रे	ऽ
×			0			×			0		
					ग						
धनि	निरे	रे	गरे	-ग	प	म	ग	रे	सा	नि	सा
मोऽ	तीऽ	बि	खर	ऽग	ये	रे	ऽ	तु	म	ढु	ढ
×			0			×			0		

बनारस की चैती (ताल दीपचंदी—चाँचर, 14 मात्रा)

स्थायी

रे													
ग	ग	—	ग	—	ग	म	मग	रे	—	ग	—	ग	म
य	ही	ऽ	ठाँ	ऽ	ईं	ऽ	मोऽ	ति	ऽ	या	ऽ	है	ऽ
×			2				0			3			

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

म	ग	-रे	सासा	–	नि	सा	ध	नि	ध	नि	रे	–	–
रा	ऽ	ऽय्	गइ	ऽ	ले	ऽ	रा	ऽ	ऽ	मा	ऽ	ऽ	ऽ
×			2				0			3			
ध	ध	–	सा	–	–	रे	ग	रे	ग	सा	–	ध	सा
क	ह	ऽ	वाँ	ऽ	ऽ	मैं	ढूं	ऽ	ऽ	ढौं	ऽ	ऽ	ऽ
×		.	2				0			3			

उपरोक्त दादरा, लेद और चैती की इन धुनों को देखने से विदित होता है कि इनमें परस्पर गहरा संबंध है। इससे पता चलता है कि ठुमरी के रागों के विकास में विभिन्न क्षेत्रीय लोकधुनों का भी पर्याप्त योगदान रहा है। जैसे-जैसे ठुमरी गान का प्रचार व प्रसार बढ़ता गया, वैसे-वैसे उसमें अनेक क्षेत्रीय लोकधुनों का समन्वय होता गया।

शास्त्रीय दृष्टि से लोकधुनें साधारणतया झिंझोटी, गारा, पीलू, बरवा, धानी, पहाड़ी, आसा, लूम, माँड, तिलंग, खमाज, तिलककामोद, विहारी, सिंध, काफी, जँगला, भैरवी, जोगिया इत्यादि रागों में होती हैं। इन रागों में से कुछ को छोड़कर अधिकांश का उल्लेख प्राचीन और मध्यकालीन संगीतग्रंथों में नहीं मिलता। अतः इन्हें अपेक्षाकृत नवीन और लोकधुनों से विकसित समझा जाता है। रागकल्पद्रुम के लेखक श्री कृष्णानंददेव व्यास ने ऐसे अर्वाचीन रागों को विभिन्न देशीय उपरागों की श्रेणी में रक्खा है।[42]

विभिन्न प्रादेशिक लोकधुनों से विकसित जँगला, झिंझोटी, पीलू, बरवा, माँड, सिंधु, गारा, विहारी, आसा, लूम इत्यादि रागों के अतिरिक्त सिंदूरा, बिहाग, खंभावती, खमाज, तिलककामोद, परज, जोगिया, जयजयवंती, आसावरी, जौनपुरी, शहाना, बहार, कान्हरा इत्यादि शास्त्रीय परंपरा के रागों में भी ठुमरी रचनाएँ मिलती हैं। यद्यपि इनमें से कई राग भी अधिक प्राचीन नहीं हैं, जिसके कारण इनका उल्लेख केवल कुछ मध्यकालीन ग्रंथों को छोड़कर प्राचीन ग्रंथों में नहीं मिलता, जैसे जौनपुरी, मुलतानी, बहार इत्यादि; फिर भी ध्रुवपद और ख्याल गायकों द्वारा अपना लिए जाने के कारण ये सब शास्त्रीय संगीतज्ञों की परंपरा के राग समझे जाते हैं।

ठुमरी गान में इन रागों के व्यवहृत होने के अनुमानतः दो कारण हैं। पहला यह है कि कुछ लोकधुनों में स्वतः ही कुछ शास्त्रीय परंपरागत रागों के तत्त्व सन्निहित थे, जिन्हें लक्ष्य करके संगीतज्ञ उनमें ठुमरी रचना करने लगे। अथवा दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि संगीतज्ञगण ठुमरी-गान से प्रभावित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसकी श्रृंगारात्मक तथा सुकुमार प्रकृति के अनुकूल शास्त्रीय परंपरा के रागों में ठुमरी रचना की ओर प्रवृत्त हुए। ऐसा होना असंभव भी नहीं है। क्योंकि लोक-संगीत में प्रयोग होने वाली अनेक धुनों ने समय-समय पर अपनी भावात्मकता, सरलता और माधुर्य के कारण साधारण जनमानस के साथ ही साथ प्रबुद्ध संगीतज्ञों को भी प्रभावित किया है।

उदाहरण के लिए नवविवाहिता दुलहन के पितृगृह से विदाई के अवसर का एक गीत प्रस्तुत है, जिसे हज़रत अमीर खुसरो ने लोकगीतों की शैली पर रचा है :

काहे को ब्याही बिदेस रे, लक्खि बाबुल मोरे।
भइया को दीनो महल दुमहले, हम को दियो परदेस रे।
हम तो रे बाबुल बेले की कलियाँ, घर घर माँगी जायें रे॥
हम तोरे अँगना की भोरी रे चिरैयाँ, चुग्गी पायें उड़ जायें रे॥
हम तोरे खूंटे की भोली रे गैयाँ, हाँके जिधर हँक जायें रे॥
ताख भरी मैं ने गुड़ियाँ जो छोड़ीं, छूटा सहेली का साथ रे॥
सोना भी दीनो रूपा भी दीनो, दीनो रतन जड़ाव रे॥
एक न दी मोरे सर की रे कंघी, सास ननद तानें मारे रे॥
नंगे नंगे पांव मेरा बाबुल दौड़े, समधी डोला थाम रे॥
डोली का पर्दा उठाकर जो देखा आया पिया का गाम रे॥
अमीर खुसरो यूँ कहे तेरा धन धन भाग सुहाग रे॥

उत्तर भारत में यह गीत बहुत प्रसिद्ध है और विवाह के बाद दुलहन के पितृगृह से विदा होते समय प्रायः स्त्रियों द्वारा गाया जाता है। इस गीत की धुन या तर्ज़ इस प्रकार है :

ताल चाँचर (14 मात्रा)

स्थायी

														सा	रे
														ल	क्खि
प	–	–	म	–	पध	प	म	ग	-रे	सा	–	नि	–		
बा	S	S	बु	S	SS	ल	मो	S	SS	रे	S	S	S		
×			2				0			3					

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(नि)प	–	–	नि	–	–	नि	सा	–	–	रे	-ग	सा	रे
का	ऽ	ऽ	हे	ऽ	ऽ	को	ब्या	ऽ	ऽ	ही	ऽऽ	ऽ	वि
×			2				0			3			

प	–	–	म	–	पध	प	म	–	-ग	(रे)ग	–,	सा	रे
दे	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽऽ	स	रे	ऽ	ऽऽ	ऽ	ऽ,	ल	क्खि
×			2				0			3			

अंतरा

(म)रे	रे	–	म	–	–	म	प	–	–	प	–	–	–
म	इ	ऽ	या	ऽ	ऽ	को	दी	ऽ	ऽ	नो	ऽ	ऽ	ऽ
×			2				0			3			

प	ध	–	म	–	–	म	प	ध	प	ध	सांनि	रेंसां	नि
म	ह	ऽ	ल	ऽ	ऽ	दु	म	ह	ऽ	ले	ऽऽ	ऽऽ	ऽ
×			2				3			3			

नि	नि	–	नि	–	–	नि	(प)ध	–	–	म	–	म	–
ह	म	ऽ	को	ऽ	ऽ	दि	यो	ऽ	ऽ	प	ऽ	र	ऽ
×			2				0			3			

प	–	–	म	–	पध	प	म	–	-ग	(रे)ग	–,	सा	रे
दे	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽऽ	स	रे	ऽ	ऽऽ	ऽ	ऽ,	ल	क्खि
×			2				0			3			

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दूसरा अंतरा

(म)रे	रे	–	म	–	–	म	प	–	–	प	–	प	–
ह	म	ऽ	तो	ऽ	ऽ	रे	बा	ऽ	ऽ	बु	ऽ	ल	ऽ
×			2				0			3			

प	ध	–	म	–	–	म	प	ध	प	ध	सांनि	रेंसां	नि
बे	ऽ	ऽ	ले	ऽ	ऽ	की	क	लि	ऽ	याँ	ऽऽ	ऽऽ	ऽ
×			2				0			3			

नि	नि	–	नि	–	नि	–	(प)ध	–	–	म	–	–	–
घ	र	ऽ	घ	ऽ	र	ऽ	माँ	ऽ	ऽ	गीं	ऽ	ऽ	ऽ
×			2				0			3			

प	–	–	म	–	पध	प	म	–	-ग	(रे)ग	–	सा	रे
जा	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽऽ	यँ	रे	ऽ	ऽऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
×			2				0			3			

प	प	–	प	–	–	ध	म	म	–	ग	–	ग	–
ह	म	ऽ	तो	ऽ	ऽ	रे	अँ	ग	ऽ	ना	ऽ	की	ऽ
×			2				0			3			

सा	रे	–	सारे	गम	–	ग	रे	ग	-रे	सा	–	नि़	–
भो	ली	ऽ	रेऽ	ऽऽ	ऽ	चि	रै	ऽ	ऽऽ	याँ	ऽ	ऽ	ऽ
×			2				0			3			

प़	–	–	नि़	–	–	नि़	सा	–	–	रे	ग	सा	रे
चु	ऽ	ऽ	ग्गी	ऽ	ऽ	पा	यें	ऽ	ऽ	उ	ऽ	ड़	ऽ
×			2				0			3			

प	–	–	म	–	पध	प	म	–	-ग	(रे)ग	–,	सा	रे
जा	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽऽ	यँ	रे	ऽ	ऽऽ	ऽ	ऽ,	ल	खि
×			2				0			3			

(अन्य अंतरे भी इन्हीं अंतरों की भाँति गाए जाते हैं)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस गीत की धुन साधारणतया तिलककामोद राग में है। यह धुन उत्तर प्रदेश के ग्राम्य अंचलों में बहुत प्रचलित है और इसका प्रयोग अनेक लोकगीतों में मिलता है। उदाहरण के लिए इसी धुन में गाया जाने वाला सावन का एक गीत 'अँबुवा तले धर दे डोला मुसाफिर सावन की आई बहार रे०' बहुत लोकप्रिय और प्रसिद्ध है। उन्नीसवीं शताब्दी में सेनिया घराने के सुप्रसिद्ध रबाबवादक उस्ताद प्यार खाँ भी ऐसी ही लोकधुन से बहुत प्रभावित हुए थे और उन्होंने विश्लेषण करके उसे तिलककामोद राग के अंतर्गत बताया था।[43] मोहम्मद करम इमाम ने इस धुन में गाये जाने वाले लोकगीत को देहात में गाई जाने वाली 'गवाँगी ठुमरी' के नाम से संबोधित किया है,[44] जो कि इस प्रकार है :

ताल दीपचदी (चाँचर—14 मात्रा)

स्थायी

प	प	–	प	–	–	ध	म	म	–	ग	–	ग	–
चि	ल	ऽ	म	ऽ	ऽ	भ	र	त	ऽ	मो	ऽ	री	ऽ
×			2				0			3			
सा	रे	–	सारे	गम	–	ग	रे	ग	-रे	सा	–	नि़	–
ज	र	ऽ	गई	ऽऽ	ऽ	चु	ट	कि	ऽऽ	या	ऽ	ऽ	ऽ
×			2				0			3			
प़	प़	–	नि़	–	नि़	–	सा	सा	–	रे	-ग	सा	रे
सैं	यां	ऽ	नि	ऽ	र	ऽ	मो	हि	ऽ	या	ऽऽ	के	ऽ
×			2				0			3			
प	–	–	म	–	पध	प	म	–	-ग	(रे)ग	–	सा	रे
रा	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽऽ	ज	रे	ऽ	ऽऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
×			2				0			3			

अंतरा

रे	–	–	म	–	–	म	प	–	–	–	–	प	प
बा	ऽ	ऽ	य	ऽ	ऽ	ब	हे	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	पु	र
×			2				0			3			

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

 CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प	ध	–	म	–	–	म	पं	ध	प	ध	सांनि	सा	निं
वै	ऽ	ऽ	या	ऽ	ऽ	रि	न	न	ऽ	दी	ऽऽ	ऽ	ऽ
×			2				0			3			

नि	नि	–	नि	–	–	नि	ध	ध	–	म	–	म	–
गों	ह	ऽ	टा	ऽ	ऽ	न	सु	ल	ऽ	ग	ऽ	त	ऽ
×			2				0			3			

प	–	–	म	–	पध	प	म	–	–	ग	–	सा	रे
आ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽऽ	गि	रे	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
×			2				0			3			

प	–	म	मप	धप	ध	प	म	म	–	ग	–	ग	–
ना	ऽ	ऽ	न्हेऽ	ऽऽ	ऽ	से	मो	रा	ऽ	सैं	ऽ	याँ	ऽ
×			2				0			3			

सा	रे	–	सारे	गम	–	ग	रे	ग	–रे	सा	–	नि	–
चि	ल	ऽ	मऽ	ऽऽ	ऽ	भ	र	व	ऽऽ	ले	ऽ	ऽ	ऽ
×			2				0			3			

प	प	–	नि	नि	नि	–	सा	सा	–	रे	–	–	रे
ज	र	ऽ	ग	इ	ले	ऽ	नि	र	ऽ	स	ऽ	ऽ	क
×			2				0			3			

प	–	–	मप	धप	ध	प	म	–	–	ग	–	सा	रे
रे	ऽ	ऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽ	ज	रे	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
×			2				0			3			

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वास्तव में यह लोकगीत मूलतः संत कबीर के एक निर्गुण पद का अंश है।[45]

संगीत सुदर्शन ग्रंथ में, सेनिया घराने के ही एक अन्य संगीतज्ञ, उन्नीसवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध सितारिए उस्ताद अमृतसेन द्वारा एक ग्रामीण गीत की धुन को सितार पर बजाए जाने का उल्लेख है।[46]

इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि लोकसंगीत की धुनों का माधुर्य समय-समय पर उच्चकोटि के प्रतिष्ठित संगीतज्ञों को भी अपनी ओर आकर्षित और अभिभूत करता रहा है। फलतः इन धुनों को उन संगीतज्ञों ने स्वकल्पना से सवाँर, सुधार और निखार कर शास्त्रीय रूप दिया। अतएव ठुमरी में प्रयोग होने वाले रागों के विकास में एक ओर जहाँ लोकसंगीत की धुनों और लोक गायक गायिकाओं की देन रही है, वहाँ दूसरी ओर शास्त्रीय रागों और शास्त्रीय परंपरा के संगीतज्ञों का भी बहुत बड़ा योगदान रहा है। इसीके परिणामस्वरूप ठुमरी का संबंध लोकसंगीत के साथ-साथ प्रबुद्धवर्गीय संगीत से भी बना रहा।

लोकधुनों में प्रयुक्त स्वरसंदर्भों का क्षेत्र सीमित होने के कारण उनमें विस्तार की गुंजायश बहुत कम होती है। अतः लोकधुनों से विकसित रागों में विस्तार के लिए उनसे मिलते-जुलते रागों के स्वरविन्यासों का सहारा भी लेना पड़ता है। फलतः ठुमरी गान में विस्तार, वैचित्र्य और भावाभिव्यक्ति के लिए रागों को प्रायः मिले-जुले रूप में व्यवहार करने की प्रथा चल पड़ी। इसलिए ठुमरी-गान में व्यवहृत होने वाले रागों के मान्य नियमों का उतनी कठोरता से पालन नहीं किया जाता, जितना कि ध्रुवपद और ख्याल गान में होता है।

किसी मुख्य राग के साथ कई अन्य रागों का 'मिश्र' या 'ज़िला' के रूप में संकीर्ण प्रयोग या किसी राग में 'माँझ'(मध्य) का प्रयोग भी ठुमरी गान की विशेषता है, जैसे—मिश्र पहाड़ी, ज़िला काफ़ी, माँझ खमाज, पीलू की माँझ इत्यादि। किसी राग की स्वरावलि के मध्य (माँझ) किसी विशेष स्वर (प्रायः मध्यम या पंचम) को प्रधान स्वर मानकर, जैसे माँझ खमाज में मध्यम स्वर को प्रधान करके—

रे ध
सा ग ग म, प, ग म, नि ध नि, प ध नि सां नि ध, म ग -रे

रे
सा, ग ग म—अथवा किसी राग में किसी विशेष स्वर के शुद्ध, कोमल या तीव्र रूप में परिवर्तन द्वारा किसी अन्य राग की छाया उत्पन्न करके 'माँझ' का प्रयोग किया जाता है, जैसे तिलककामोद में गांधार स्वर कोमल करने पर पीलू की

रे
माँझ[47]——सां, प ध (म) ग, सा नि, सा रे ग, सा रे म प ध,

रे
म ग, सा नि सा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वर्तमान युग में ठुमरी-गान के अंतर्गत प्रमुखतया माँड, बिहाग, पहाड़ी, खमाज, गारा, झिंझोटी, तिलंग, तिलककामोद, बिहारी, देस, कालिंगड़ा, जोगिया, परज, सोहनी, काफ़ी, धानी, सिंदूरा, बरवा, सिंध, पीलू, जँगला, भैरवी, सिंध-भैरवी, इत्यादि रागों के व्यवहार का प्रचलन है।

संदर्भ संकेत

1. देखिए : (क) टंडन, प्रेमनारायण, "सूरकोश" (प्रथम भाग), पृ० 943.
   (ख) श्यामसुंदरदास, "हिंदी शब्दसागर" पृ० 2467.
2. "योऽसौ ध्वनि विशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः।
   रञ्जको जनचित्तानां स रागः कथितो बुधैः ॥ (मतंग, बृहद्देशी)
3. शार्ङ्गदेव, "संगीतरत्नाकर", द्वितीयोरागविवेकाध्यायः, श्लोकांक 17 व निरुपपदरागाः, पृ० 144.
4. उन्नीसवीं शताब्दी में सेनिया वंश के प्रसिद्ध संगीतज्ञ प्यार ख़ाँ ने इसी प्रकार एक 'गँवारी ठुमरी' (ग्राम्यगीत) की धुन का अंतर्भाव राग तिलककामोद में किया था। (मोहम्मद करम इमाम, "मादनुल मूसीक़ी", पृ० 155).
5. "व नग़मा के दराँ बरवः भी ख़ानंद व बिलफ़ेल ज़बाँजद रोजगार बह-बरवा व बाजे ठुमरी गोयन्द।" (फ़क़ीरुल्लाह, "रागदर्पण" पृ० 85).
6. भातखंडे, पं० वि० ना०, "क्रमिक पुस्तक मालिका" (सहावें पुस्तक), पृ० 86 व 87.
7. "तोहफ़तुलहिंद", पृ० 419 व 420.
8. वही पुस्तक, पृ० 420.
9. मोहम्मद करम इमाम, "मादनुल-मूसीक़ी", पृ० 154.
10. सवाई प्रतापसिंह देव, "श्रीराधागोविंद संगीतसार", भूमिका, पृ० 2.
11. 'कोईक यवनाचार्य ने गारा संकीर्ण काफी गाई के। वामे नये राग को आभास देखि वाको ठुमरी नाम कीनों।" (वही पुस्तक, सप्तमो रागाध्यायः, पृ० 185).
12. वही पुस्तक, सप्तमो रागाध्यायः, पृ० 286 व 287.
13. भावे, कै० नरहर शंभुराव, "नर्तक म० शेख़ राहत अली इनका ठुमरी-संग्रह" (तृतीय भाग), पृ० 77 व 78 पर मुद्रित लेद की स्थायी, भातखंडे स्वरलिपि में उद्धृत.
14. (अ) भातखंडे, पं० विष्णु नारायण, "क्रमिक पुस्तक मालिका" (सहावें पुस्तक), पृ० 84.
   (आ) पं० विष्णु शर्मा, "हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति", (चौथे पुस्तक) पृ० 912

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

15. "रागो हिन्दोलकस्तालश्चच्चरी बहवोऽङ् घ्रयः ।
यस्यां षोडशमात्राः स्युर्द्वौ द्वौ च प्राससंयुतौ ॥290॥".
सा वसन्तोत्सवे गेया चच्चरी प्राकृतैः पदैः ।
(शार्ङ्गदेव "संगीतरत्नाकर", चतुर्थ प्रबंधाध्याय)

16. धैवत्यार्षभिकावर्ज्यस्वरनामकजातिजः ॥93॥
हिन्दोलको रिधत्यक्तः षड्जन्यासग्रहांशकः ।
आरोहिणि प्रसन्नाद्ये शुद्धमध्याख्यमूर्च्छनः ॥94॥
काकलीकलितो गेयो वीरे रौद्रेऽद्भुते रसे ।
वसन्ते प्रहरे तुर्ये मकरध्वजवल्लभः ॥95॥
सम्भोगे विनियोक्तव्यो वसन्तस्तत्समुद्भवः ।"
(शार्ङ्गदेव, "संगीतरत्नाकर", द्वितीय रागविवेकाध्याय).

17. "पूर्णस्तल्लक्षणो देशीहिन्दोलोऽप्येष कथ्यते ॥96॥
इति वसन्तः ।
(वही पुस्तक)

18. "वसन्तं लक्षयति—वसन्त इति । पूर्णः सप्तस्वरः । एतावता कारणभूतात् पूर्णहिन्दोलकाद्भेदः ॥96॥" (सिंहभूपाल, "संगीत सुधाकर", सं० र०, द्वितीय रागविवेकाध्याय).

19. "चच्चरी सा निगदिता गीतशास्त्रविशारदैः ।
ज्ञे (गे) या वसन्तरागेण वसन्तादिमहोत्सवे ॥75॥"
(महाराणा कुम्भा, "संगीतराज", द्वितीय गीतरत्नकोश, चतुर्थ प्रबन्धोल्लास, चतुर्थ प्रकीर्णप्रबन्ध परीक्षण) ।

20. वझलवार, विद्याधर व्यंकटेश, "चतुर्दण्डिप्रकाशिका सटीक विवेचन", राग प्रकरण, पृ० 64.

21. तथा हिन्दोलस्यापि—
"धैवत्यार्षभिकावर्ज्यस्वरनामकजातिजः ।
हिन्दोलको रिधत्यक्तः षड्जन्यासग्रहांशकः ॥"
इति लक्षणवशादत्र स्वरनामकजातीनां षाड्जीगान्धारीमध्यमापञ्चमीनिषादीनां ग्रहणेन ग्रामद्वयजात्युत्पन्नत्वे सति रिधत्यक्ततानकत्वान्मध्यमग्रामसंबन्धेसाक्षादवगते, तथा च प्रयोगे चतुःश्रुतिकपञ्चमोपलम्भात् षड्जग्रामसंबंधे च साक्षादवगते द्विग्राम इति विशेषणमुपपन्नम् ।"
(कल्लिनाथ, कलानिधि, "संगीतरत्नाकर" द्वितीय रागविवेकाध्याय, 30-32)

22. धैवत्यार्षभिकावर्जस्वरनामकजातिजः ॥93॥
हिन्दोलको रिधत्यक्तः षड्जन्यासग्रहांशकः ।
आरोहिणि प्रसान्नाद्ये शुद्धमध्याख्यमूर्च्छनः ॥94॥
काकलीकलितो गेयो वीरे रौद्रेऽद्भुते रसे ।
वसन्ते प्रहरे तुर्ये मकरध्वजवल्लभः ॥95॥
संभोगे विनियोक्तव्यो वसन्तस्तत्समुद्भवः ।
पूर्णस्तल्लक्षणो देशीहिन्दोलोऽप्येष कथ्यते ॥96॥
(शार्ङ्गदेव, "संगीतरत्नाकर" द्वितीय रागविवेकाध्याय, श्लोक सं० 93 से 96 तक).

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

23. भातखंडे, पं० वि० ना०, "हिंदुस्तानी संगीत पद्धति" (भातखंडे संगीत शास्त्र), पहला भाग, पृ० 9.

24. भातखंडे, पं० वि० ना०, "क्रमिक पुस्तक मालिका" (चौथें पुस्तक), पृ० 364, 365.

25. मुहम्मद करम इमाम, "मादनुल मूनीक़ी", पृ० 147.

26. आचार्य बृहस्पति, "संगीत चिंतामणि", पृ० 378 व 395.

27. शाङ्‌र्गदेव, "संगीत रत्नाकर", द्वितीय रागविवेकाध्याय, हिंदोल रागलक्षण, श्लोक सं० 95 ("काकलीकलितो गेयो").

28. महाराणा कुंभा, "संगीतराज", गीतरत्नकोश (2), रागोल्लास (2), रागांगोपांग परीक्षणम् (3), श्लोकांक 80 (करण-द्वितीय पंक्ति).

29. वही पुस्तक, श्लोकांक 80 (करण).

30. वही पुस्तक, श्लोकांक 95 (आलाप-द्वितीय पंक्ति).

31. दरगाह क़ुली ख़ाँ, "मुरक्क़ये देहली" (पुरानी दिल्ली के हालात, पृ० 65, 84, व 85.

32. गुप्त, डॉ० शालिग्राम, मुहम्मद शाह रंगीला की रचनायें "संगीत" (मासिक पत्रिका), सितंबर 1970, पृ० 22.

33. डॉ० हेम भटनागर, "हिन्दी साहित्य के शृंगार-युग में संगीत काव्य", पृ० 80.

34. दरगाह क़ुली ख़ाँ, "मुरक्क़ये देहली" (पुरानी दिल्ली के हालात), पृ० 65, 84 व 85.

35. वंदोपाध्याय, कृष्णधन, "गीतसूत्रसार" (प्रथम भाग), पृ० 87.

36. भातखंडे, पं० वि० ना०, "क्रमिक पुस्तक मालिका" (छठवें पुस्तक), पृ० 360.

37. गुप्त, डॉ० शालिग्राम, मुहम्मद शाह रंगीला की रचनायें; "संगीत" (मासिक पत्रिका), सितंबर 1970, पृ० 22.

38. डॉ० हेम भटनाकर, "हिन्दी साहित्य के शृंगार-युग में संगीतकाव्य", पृ० 80.

39. व्यास, कृष्णानंददेव, "सगीत रागकल्पद्रुम", रंगीनगान या रंगीन गान मजमुवा, पृ० 1. से 326 तक।

40. मोहम्मद करम इमाम, "मादनुल मूसीक़ी", पृ० 154, 155, 156.

41. वंदोपाध्याय, कृष्णधन, "गीतसूत्रसार" (प्रथम भाग), पृ० 81, 82, 83, 86, 87.

42. अथोपरागाः

"झिंझोटी जंगला पीलू बरवा धानी तिलंगिका ।
आसा घाटो लूहरश्च लूम लहरी तथैव च ॥
सिंध सोहर सोहनी च गर्भा (गरबा) धवल ध्वनिस्तथा ।
गारा गोधुनी भटीयारी (भटियाली) च विरहा कज्जलिका (कजली) पुनः ॥
साजगिरी सरपरदा च जौनपुरी उशाखिका (उश्शाक़) ।
सनम् गनम् नारेजश्च (नैरेज) वाकरेजो (वाख़रेज) यवन्निका ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लावणी जोगिया जंगी अहंगसहानास्तथा ।
इत्युपरागास्तथाप्रोक्ता देशे देशे तु विस्तरात् ॥"
("संगीत रागकल्पद्रुम" स्वराध्याय, पृ० 9).

43. मोहम्मद करम इमाम, "मादनुल मूसीकी", पृ० 155.

44. वही पुस्तक, पृ० 155.

45. व्यास, कृष्णानंददेव, "संगीतरागकल्पद्रुम", ध्रुवपदख्यालादिगान, पृ० 152.

46. पं० सुदर्शनाचार्य, "संगीत सुदर्शन", भूमिका, पृ० 32.

47. रातांजनकर, डॉ० श्रीकृष्ण, "अभिनव गीतमंजरी" (भाग 2, उत्तरार्ध), पृ० 47.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

6

ठुमरी का काव्य

संगीत के अंतर्गत पद (शब्द) की संयोजना गेयकाव्य के रूप में होती है। अतः पद (शब्द) को गीत का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है।

जिह्वा और मुख के विभिन्न अवयवों के संस्पर्श द्वारा मानव कंठध्वनि के विविध उच्चारों से विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति हुई है। यद्यपि वाद्यों में भी ध्वनिप्रयोग की विभिन्नता से कुछ वर्णों का आभास होता है, किंतु उनके ध्वनिरूप की अनुकृति मानव कंठध्वनि से उच्चारण किए जाने वाले वर्णों के आधार पर ही परिकल्पित होती है, जैसे सितार के वर्ण (बोल) दा दिर दा रा या तबले के वर्ण (बोल) धा तिर किट तक इत्यादि। अतएव मानवकंठ ही वर्णोत्पत्ति का मूल कारण है।

वर्णों के संयोग से ही पद (शब्द) बने हैं, जो कि सार्थक और निरर्थक दो प्रकार के होते हैं। भाषा व साहित्य में वाक्य और काव्य की संरचना बुद्धिगम्य नियत अर्थ वाले सार्थक पदों के संयोग से होती है। निरर्थक पदों (शब्दों) का यद्यपि कोई बुद्धिगम्य नियत अर्थ नहीं होता, फिर भी संगीत में उनकी विशेष ध्वनि व छंद संयोजना मन को प्रभावित करने में सक्षम होती है, जैसे—तोम् ताना नोम् आदि शब्दों से युक्त रागालाप या तराना इत्यादि।

निबद्धगान के स्वर, विरुद, पद, तेनक, पाट व ताल ये छह अंग बताए गए हैं। इनमें से गुणवर्णन व प्रसंशात्मक सार्थक शब्द 'बिरुद', अन्य विषयों वाले सार्थक शब्द 'पद', मंगलसूचक निरर्थक शब्द 'तेनक' और वाद्य पर बजाए जाने वाले निरर्थक शब्द 'पाट' हैं। यद्यपि पं० शार्ङ्गदेव और सिंहभूपाल ने ध्वनिव्यंजक स्वरनामों को भी शब्द के अंतर्गत रखा है[1], परंतु स्वरों का विशुद्ध ध्वनिरूप शब्द के अंतर्गत नहीं आता। इस प्रकार देखा जाय तो वास्तव में स्वर व ताल को छोड़कर शेष बिरुद, पद, तेनक व पाट ये चार अंग सार्थक या निरर्थक पद (शब्द) के ही भेद मात्र हैं। अतएव निबद्ध गीतों की संरचना में 'पद' का अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान है।

निबद्धगान में प्रयुक्त होने वाले छह अंगों में से, विषय की दृष्टि से ठुमरी का काव्य 'पद' की श्रेणी में आता है। किसी भी काव्य में भाषा और विषय ये दो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्त्व प्रमुख रूप से विद्यमान रहते हैं। अतः ठुमरी की पद-रचना या काव्य का पर्यवेक्षण भाषा व विषय इन दोनों दृष्टियों से करना समुचित होगा।

ठुमरी की भाषा

भाषा के दो प्रमुख भेद हैं। पहला 'बोली' और दूसरा 'भाषा'। साधारण जनसमुदाय द्वारा बोली जाने वाली देशभाषा को 'बोली' और प्रबुद्ध व सुसंस्कृत जनों द्वारा व्यवहार की जाने वाली भाषा को 'भाषा' कहा जाता है। 'बोली' का साहित्य लोकमानस से उद्भूत होकर साधारणतः लोकगीतों, कहावतों और लोक-कथाओं आदि के रूप में जन परंपरा की धारा में प्रवाहित होता रहता है और 'भाषा' का साहित्य विद्वज्जनों द्वारा विविध रूपों में विरचित व सुगठित होकर समाज में प्रतिष्ठा अर्जित करता है।

प्रत्येक भाषा की प्रायः एक निजी लिपि भी होती है, जिसके द्वारा उसका साहित्य लिखित रूप में सुरक्षित रहता है। स्वयं की कोई निजी लिपि न होने के कारण 'बोली' का साहित्य अधिकतर अपने परंपरागत मौखिक रूप में ही चलता रहता है, किंतु आवश्यकतानुसार उसे अपनी प्रकृति के अनुकूल, अपने ही वर्ग की किसी निकटस्थ 'भाषा' की लिपि का आश्रय भी लेना पड़ता है। उदाहरण के तौर पर हिंदी क्षेत्र की व्रज, अवधी, भोजपुरी इत्यादि बोलियाँ हिंदी में व्यवहृत होने वाली देवनागरी लिपि में, और बंगाल की क्षेत्रीय वोलियाँ बँगला भाषा में व्यवहृत होने वाली शारदा लिपि में लिखी जाती हैं।

'भाषा' के देशी रूप 'बोली' या लोकभाषा का संबंध सीधा जनमानस और विशेषकर ग्राम-संस्कृति से होने के कारण उसकी प्रकृति सरल, स्वाभाविक व स्वच्छंद होती है। अतः इन गुणों के कारण 'भाषा' की तुलना में 'बोली' अधिक सरल व माधुर्यपूर्ण होती है और वह सबको प्रिय लगती है। मैथिल कोकिल विद्यापति ने भी अपने ग्रंथ कीर्तिलता में कहा है "देसिल वयना सब जन मिट्ठा" अर्थात् देशी वाणी (बोली) सब लोगों को मीठी लगती है।

जिस प्रकार स्वच्छंद गति से बहने वाली प्राकृतिक जलधारा के प्रवाह में क्रमशः अन्य जलधाराओं का परस्पर संगम होता रहता है, उसी प्रकार भाषा नियमों के कठोर बंधनों से उन्मुक्त और स्वछंद प्रकृति की होने के कारण, जनप्रवाह के अनुसार, लोकभाषाओं में भी परस्पर आदान-प्रदान चलता रहता है। फलतः एक बोली में अन्य बोलियों के शब्दों का व्यवहार भी प्रायः मिश्रित रूप में दिखाई पड़ता है। अपने प्रदेश के अतिरिक्त अन्य प्रदेशों में गायकों के आवागमन और गान प्रदर्शन होते रहने के कारण भी उनके द्वारा गाये जाने वाले गीतों में विभिन्न प्रदेशों की जनबोलियों के शब्दों का मिश्रित व्यवहार होता रहा है। फिर माधुर्य का लक्ष्य प्रधान होने से गीतों में यह प्रवृत्ति कुछ अधिक ही रही है। इसीलिए संगीत की गेय 'बंदिशों' में यह प्रवृत्ति प्रायः देखने को मिलती है। इस संबंध में स्वर्गीय डॉ०

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीकृष्ण नारायण रातांजनकर का कथन है "रागदारी चीज़ों (बंदिशों) के संबंध में यह बता देना आवश्यक होगा कि इनकी भाषा-शैली, हिंदी साहित्य में एक स्वतंत्र भाग समझना होगा।...बहुत से शब्दों का मृदु रूपांतर करना पड़ता है। कभी-कभी पूर्वी बोली (अवधी, भोजपुरी, मगही आदि), ब्रजभाषा, मारवाड़ी, उर्दू, पंजाबी इन सबके मुहावरे (शब्द) चीज़ों (गेय रचनाओं) में एक साथ आए हुए दिखाई पड़ते हैं"।[1]

अत्यंत प्राचीन काल से ही लोकप्रचलित देशी संगीत की गानविधाओं में देशभाषाओं अर्थात् जनबोलियों का उपयोग होता आया है। हरिवंश पुराण में रास नृत्य के साथ गाए जाने वाले गीतों में देशभाषा के प्रयोग का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, जैसे

"चक्रुर्हसन्त्यश्च तथैव रासं तद्देशभाषाकृतिवेशयुक्ताः।
सहस्ततालं ललितं सलीलं वारांगना मंगलसंभृतांग्यः॥7॥

(हरिवंश, छालिक्यक्रीड़ा, 89)

प्राचीन भारत में देशभाषा या जनभाषा के रूप में प्राकृत भाषाओं का प्रचलन था। तेरहवीं शताब्दी में आचार्य जिनपाल उपाध्याय ने तो चर्चरी या रासक प्रबंध को स्पष्टतः प्राकृत भाषा में विरचित बताया है।[3] पंडित शार्ङ्गदेव कृत संगीतरत्नाकर तथा महाराणा कुंभा कृत संगीतराज इत्यादि ग्रंथों में चच्चरी (चर्चरी) प्रबंधों की रचना प्राकृत भाषा में होने का उल्लेख है।[4] इससे पता चलता है कि अत्यंत प्राचीन काल से ही देशी संगीत की नृत्यगान विधाओं में देशभाषाएँ अर्थात् जनबोलियाँ व्यवहृत होती रही हैं।

प्राकृत भाषाओं में से मध्यदेश के शौरसेन जनपद अर्थात् ब्रज प्रदेश की प्राचीन जनबोली से विकसित शौरसेनी प्राकृत के गेयपद प्राचीन काल में बहुत लोकप्रिय थे। भरत ने भी शृंगारप्रधान प्रासादिकी के संदर्भ में बताते हुए ध्रुवा गीतों की रचना शौरसेनी प्राकृत में करने को कहा है, जैसे

"भाषां तु शौरसेनीं हि ध्रुवाणां सम्प्रयोजयेत्।"

(भरत, नाट्यशास्त्र, द्वात्रिंशोध्यायः, श्लोक सं० 383)

मध्यदेश में गाए जाने वाले शौरसेनी प्राकृत के गेयपदों का आविर्भाव मुख्यतः राससंगीत से हुआ था। अतएव प्राचीन रास व चर्चरी गीतों की भाषा भी मुख्यतः शौरसेनी प्राकृत ही थी।

प्राकृत भाषाओं का संबंध मूलतः प्राचीन जनभाषाओं से था। अतः बहुत समय तक तो वे स्वभावतः जनसाधारण के लिए सरल व सुबोध बनी रहीं। किंतु बाद में व्याकरण के नियमों से अधिक बँध जाने पर वे धीरे-धीरे जनता में दुर्बोध होती गईं और उनका स्थान अपभ्रंश भाषाओं ने ले लिया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पतंजलि ने अशुद्ध और भर्तृहरि ने संस्कारहीन शब्दों को अपभ्रंश कहा है :

"एकस्यैव शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद् यथा गौरित्यस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतालिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः ।।" (पतंजलि, महाभाष्य)

"शब्द संस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते ।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थ निवेशिनम् ।।148।।
(भर्तृहरि, वाक्यपदीयम्, काण्ड 1)

भ्रष्ट बोली के अर्थ में प्रयुक्त यही अपभ्रंश आगे चलकर काव्य व सांगीतिक गेयपदों की भाषाएँ बनीं। उदाहरण के लिए, बारहवीं शताब्दी ईसवी के पूर्वार्ध में दक्षिण के चालुक्यवंशीय महाराज सोमेश्वर 'भूमल्ल' कृत मानसोल्लस से अपभ्रंश भाषा में विरचित चच्चरी (चर्चरी) का एक गेयपद यहाँ प्रस्तुत है :

"मधुरिपुनायकु पहुतरसाहारकिसलयवउ ।
विचकिलपरिमालाग्रोषुस्यौं ।
अलिकुलझंकारबहुकुसुमैः ।
कोइलि कउरउ करइ ।
मुहावउतरणीहं कुसुमसररक्राखारउ हालकें ।
नरवैकचुपविनसितालिहिद्दं देगारि पुडिज्जइ ।
कुंकुमसलिले नणुरञ्जइ तरुणियणिम्मदुरुण जिज्जइ ।
पठहिदो लउवडि खेलिज्जइ ।
जुवतिहं चरणहं दियुदु पेलज्जइ ।
चंदणे अच्च इलेवेणु किज्ज इमल्लिय मञ्जरि शिरे तुरुं ।
विज्जइसि अधु विश्व, अवरुड विज्जइनोभाहलनवसरूप ।
हरिज्जइकभ्रूरमन्निपुमसिसे विज्जइ । रागे वसन्ते ।
पिउ गाइज्जइ हंसे तुलायिमुं ।
देसो विज्जइ । विरुलं तउवाणि नाणिज्जै ।।302।।"

(मानसोल्लास, गीतविनोद, 16वाँ विनोद)

इस चच्चरी (चर्चरी) गीत की भाषा मुख्यतः महाराष्ट्री अपभ्रंश होने पर भी उसके साथ शौरसेनी अपभ्रंश, संस्कृत व तत्कालीन क्षेत्रीय लोकभाषा का मिला-जुला प्रयोग दिखाई पड़ता है। इससे ज्ञात होता है कि सदा से ही गेयपदों की रचना में भाषा की शुद्धता से अधिक उसकी संगीतात्मकता पर बल दिया जाता रहा है। इसीलिए सांगीतिक गेयपद भाषा के कठोर बंधनों से सदैव मुक्त रहे हैं और उनमें मिलीजुली भाषा का प्रयोग होता रहा है, जैसाकि आज भी है।

इतना ही नहीं, वरन् उक्त चच्चरी (चर्चरी) और अनेक ठुमरियों की कुछ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विशेष पंक्तियों पर तुलनात्मक रूप से ध्यान देने पर उनमें विषय, भाव और किन्हीं अंशों में शब्दचयन में भी परस्पर अद्भुत समता दिखाई पड़ती है। जैसे चच्चरी में शौरसेनी अपभ्रंश की "कोइल कउरउ करइ" पंक्ति से 'सनदपिया' कृत राग खमाज की सुप्रसिद्ध ठुमरी के मुखड़े "कोयलिया कूक सुनावे" या विख्यात ठुमरी व गजल गायिका स्वर्गीया बेगम अख्तर द्वारा गाए गए दादरे की पहली पंक्ति "कोयलिया मत करे पुकार" की विशेष रूप से समानता दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार चच्चरी की "अलिकुलझंकारबहुकुसुमैः" इस संस्कृत पंक्ति से श्रीलाल गोस्वामी 'कुंवरश्याम' कृत राग बहार की ठुमरी के अंतरे की पंक्ति "कलियन कलियन करत खेल मदमाते भँवरा" या अन्य ठुमरी की पंक्ति "कलियन कलियन गूंजत भँवरा" विशेष रूप से तुलनीय है।

अपभ्रंश भाषाओं में महाराष्ट्री और शौरसेनी प्रमुख हैं और इन दोनों में इतना साम्य है कि कुछ लोग इन्हें एक ही अपभ्रंश की दो शाखाएँ तक मानते हैं। उत्तरभारत में शौरसेनी प्राकृत के बाद शौरसेनी अपभ्रंश के गेयपदों का जनता में व्यापक प्रचार हुआ। बाद में बारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश भाषाओं के भी क्लिष्ट व दुर्बोध हो जाने पर उनसे विकसित जनभाषाओं (बोलियों) के काव्यों व गेयपदों की लोकप्रियता बढ़ती गई। वर्तमान हिंदी की 'ब्रजभाषा' और 'खड़ी' इत्यादि बोलियाँ शौरसेनी अपभ्रंश से ही विकसित हुई हैं। इस प्रकार शौरसेनी प्राकृत से चली आ रही गेयपदों की परंपरा शौरसेनी अपभ्रंश से होते हुए ब्रजभाषा के गेयपदों तक पहुँची है।

देशी संगीत की नृत्यगान विधा और रास व चर्चरी आदि की विकास परंपरा से संवद्ध होने के कारण ठुमरी गीतों में भी सदा से ही जनबोलियों का प्रयोग होता आया है। मध्यदेश का केंद्र ब्रज और उसके आसपास का प्रदेश ठुमरी के विकास व प्रसार का प्रमुख क्षेत्र होने के कारण, मध्यदेशीय गेयपदों में प्रयुक्त होने वाली प्रधान बोली 'ब्रजभाषा' प्रारभ से ही ठुमरी गीतों की भी प्रमुख भाषा रही है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, सरल व स्वच्छंद प्रकृति के कारण जनबोलियों के गीतों में भाषा-नियमों का कठोरता से पालन नहीं होता। साथ ही हृदयगत भावों की अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता तथा माधुर्य की लक्ष्यपूर्ति के लिए उनमें अन्य बोलियों के शब्दों व मुहावरों का भी यथानुकूल प्रयोग होता रहता है। फलतः ठुमरी गीतों में प्रयोग की जाने वाली 'ब्रजभाषा' का स्वरूप भी व्याकरणादि भाषानियमों के कठोर बंधनों से विनिर्मुक्त, सरल और साधारणतः मिश्रित रहा है। इसीलिए, पिछली शताब्दी के प्रसिद्ध संगीत ग्रंथकार कैप्टन विलर्ड ने भी ठुमरी को 'इम्प्योर डायलेक्ट ऑफ़ ब्रजभाखा'[5] अर्थात् अशुद्ध ब्रजभाखा (मिश्रित ब्रजभाषा) का गीत बताया है।

किसी विशेष प्रदेश की जनभाषा के विशिष्ट गीतभेदों का प्रचार व प्रसार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्य प्रदेशों में होने पर, उन प्रदेशों के वाग्गेयकारों द्वारा विरचित उसी प्रकार की गीत-रचनाओं पर वहाँ की क्षेत्रीय भाषाओं का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। अतः कालांतर में जैसे-जैसे विभिन्न प्रदेशों में ठुमरी-गान का प्रचार व प्रसार होता गया वैसे-वैसे ठुमरी रचनाओं की भाषा पर वहाँ की विभिन्न क्षेत्रीय बोलियों का प्रभाव पड़ता गया। उन्नीसवीं शताब्दी में लखनऊ के सुप्रसिद्ध ठुमरीकार 'कदरपिया' ने अपनी ठुमरियों में ऐसी ही मिश्रित जनबोली का प्रयोग करते हुए उसे 'भाखा' कहा है, जोकि लखनऊ और उसके आसपास ग्रामीण क्षेत्रों में बोली जाने वाली जनभाषा से बहुत प्रभावित थी।[6] आज ठुमरी रचनाओं की भाषा का जो व्यापक स्वरूप हमारे सामने है, उसमें साधारणतः ब्रजभाषा के साथ-साथ खड़ी, अवधी और कहीं-कहीं किंचित उर्दू का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। यहाँ ठुमरी की पद रचना के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं, जिनमें हिंदी की इन बोलियों के दर्शन होते हैं।

ब्रजभाषा में विरचित एक ठुमरी इस प्रकार है :

1. ठुमरी

स्थायी—बाँकी छबि दिखलाय साँवरो, मेरो मन ठगौ री।
अंतरा—भौंहें कमान, बान पलकन, बेधत प्रान हियौ री॥[7]

वाजिदअली शाह 'अख्तर' कृत निम्नलिखित ठुमरी की भाषा भी प्रधानतः 'ब्रजभाषा' है :

2. ठुमरी राग काफ़ी (ताल अद्धा)

स्थायी—मोरी आली, मैं पनियाँ कैसे जाऊँ री॥टेक॥
सखी री, नागर नटखट मुकुट वारौ,
मोसों करत ढिठाई बंसीबट जमुनातट,
पनियाँ कैसे लाऊँ री॥

अंतरा—उझक उझक और उचक उचक झाँके री 'अखतर',
तट पनघट बंसीबट जमुना तट,
पनियाँ कैसे जाऊँ री॥[8]

'कदर पिया' की निम्नलिखित ठुमरी पर खड़ी बोली का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है :

3. ठुमरी

स्थायी—एरी गुइयाँ, मैं कैसे भेजूँ पाती, ॥ टेक ॥
कदर पिया को कैसे भेजूँ पाती॥
अतरा—एक तो पापिन रैन अँधेरी, दूजे सूनी सेज नागिन।
तीजे मेरा बाला जोबन, हाय स जाती॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निम्नलिखित कुछ प्रसिद्ध ठुमरियों में पूरबी हिंदी की अवधी बोली के विभिन्न रूपों के दर्शन होते हैं :

4. ठुमरी पीलू

स्थायी—मोरी अँखियों ने बैर किया ।।टेक।।
देखो, मोसे, 'कदर पिया' ।।

अंतरा—आप लरत और मन का फँसावत ।
इनही कारन घायल होत जिया ।।[10]

5. ठुमरी भैरवी

स्थायी—बारे बलम फुलगेंदवा न मारो,
लगत करेजवा में चोट ।।

अंतरा—सैयाँ निरमोहिया दरदिया न जाने,
रखत पलकिया की ओट ।।[11]

6. ठुमरी भैरवी

स्थायी—नाहक लाए गवनवाँ ।।टेक।।
अरे, आप तो जाय बिदेसवा में छाए ।।नाहक०......

अंतरा—जब से गए मोरी सुधहू न लीनी,
बीतो हि जाय जोबनवाँ ।।नाहक०[12]...

निम्नलिखित ठुमरी पूरबी हिंदी में विरचित है। इसकी भाषा में अवधी के साथ-साथ थोड़ा भोजपुरी का रंग भी है :

7. ठुमरी

स्थायी—ए री दैया, मोरी झुलनी हेरानी ।

अंतरा—मूँद किवरवा मैं जो सोई, भीतर सोवै देवरा ।
भिनसरवा की नींद, मोरी झुलनी हेरानी ।।[13]

निम्नलिखित ठुमरी की भाषा में अवधी और उर्दू का मिला-जुला रूप देखने को मिलता है :

8. ठुमरी

स्थायी—सुध लाग रही तोरी आठ पहर ।।टेक।।
तन मन की नहिं मोहे खाक खबर ।। सुध०...

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पहला अंतरा—निस बासर मोहे कल न परत है।
दिखलावैं कहुँ एक नज़र ।।सुध०…

दूसरा अंतरा—अरज करत, मोरा जियरा डरत है।
दिल धड़कत, देहियाँ थर थर ।।सुध०[14]…

निम्नलिखित ठुमरी की भाषा पर उर्दू का अधिक प्रभाव है :

9. ठुमरी

स्थायी—अपने शहज़ादे आलम के लिए,
जंगल सहरा बियाबान फिरी।

पहला अंतरा—तन खाक मली, कफ़नी पहनी।
कर जोगन का सामान चली ।।अपने०…

दूसरा अंतरा—उत्तर, दक्खिन, पूरब, पच्छिम।
दिल्ली शहर, मुलतान फिरी ।।अपने०[15]…

निम्नलिखित ठुमरी में पूरबी और पच्छिमी दोनों क्षेत्रों की बोलियों का समन्वय दिखाई देता है :

10. ठुमरी

स्थायी—मैं तो शहज़ादे को ढूँढन चलियाँ रें ।।

पहला अंतरा—अंग भभूत, जोगन बन, मलियाँ।
छान फिरी सब गलियाँ रें ।।मैं तो०…

दूसरा अंतरा—जी चाहत है, डगर नहि आवत।
हम महलों की रनियाँ रें ।।मैं तो०[16]…

कभी-कभी कुछ पुरानी ठुमरी रचनाओं की भाषा पर किंचित राजस्थानी भाषा का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। परंतु ऐसी रचनाएँ कम प्रचलित हैं। उदाहरण के लिए उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए, जोधपुर के महाराजा मानसिंह कृत एक ठुमरी की पदरचना प्रस्तुत है, जिसमें ब्रजभाषा के साथ-साथ राजस्थानी बोली का भी किंचित प्रभाव है :

राग कालिंगड़ो, ठुमरी, आड़ो तितालो

स्थायी—अलबेले चंपा चीर में ।।

अंतरा – बिजली सी चमके पियारी जी रो।
पियरी घटा की भीर में ।।[17]

ब्रज में ठुमरी की उत्पत्ति; उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान, आदि हिंदीभाषी प्रदेशों में उसके प्रचलन तथा लखनऊ, बनारस आदि स्थानों में उसके क्रमिक विकास की प्रगति को देखते हुए, ठुमरी-गीतों में ब्रजभाषा के साथ-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साथ साधारणतः हिंदी भाषा के अंतर्गत आने वाली अन्य जनबोलियों का उपयोग होना नितांत स्वाभाविक था। फलतः ठुमरी-गीतों की रचना के लिए समान्यतः हिंदी भाषा की जनबोलियों का उपयोग होता चला आया और आगे चलकर प्रचार में वैसा ही रूढ़ भी हो गया। इसीलिए वर्तमान ठुमरी-रचयिता व ठुमरी-गायक किसी भी प्रदेश के क्यों न हों, अपने ठुमरी गान में वे सदैव हिंदी की ही जनबोलियों का प्रयोग करने की चेष्टा करते हैं। यद्यपि दो एक पुरानी ठुमरियाँ ऐसी भी मिलती हैं, जिनकी भाषा पंजाबी से बहुत प्रभावित है। परंतु उनकी संख्या इतनी कम है कि उन्हें अपवाद ही समझना चाहिए। पंजाबी की एक पुरानी ठुमरी का उदाहरण इस प्रकार है :

ठुमरी (त्रिताल-मध्यलय)

स्थायी

वेखो सोणा मैनूँ छल बल अपनी दिखान्दा ॥

1. अंतरा

नाज़ो अदा करवे चंचल कामिनि वे।
नैनों दी सैन चलान्दा, वारी वे चलान्दा ॥

2. अंतरा

नैन लगा लीनो वे इश्क़दा तन मन वे।
इश्क़ दी आग लगान्दा, वारी वे लगान्दा ॥[18]

आज ठुमरी-गीतों में हिंदी की जो बोलियाँ व्यवहार में आती हैं, उनमें व्रजभाषा के अतिरिक्त अवधी और भोजपुरी प्रमुख हैं। कुछ ठुमरियों में कहीं-कहीं किंचित खड़ी बोली और उर्दू की झलक भी दिखाई पड़ती है, जैसे

1. ठुमरी (त्रिताल)

स्थायी—देखा गोरा गोरा मुखड़ा तिहारा।
मुखड़ा तिहारा प्यारा प्यारा, मुखड़ा तिहारा ॥

अंतरा—देखी 'कदर' ऐसी साँवरी सूरत।
माथे चाँद ठोढ़ी तारा ॥[19]

ठुमरी खमाज (त्रिताल-मध्यलय)

स्थायी—अब कब तक तरसाये रखियो जी।
मैं तो नैन भर छवि देखन की हूँ गरजी ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अंतरा—'कदर पिया' मैं तोपे वारी।
बिन दामों से चेरी तिहारी।
हूँ राजी जिसमें तेरी मरजी ॥[10]

ठुमरी-रचनाओं में मोटे तौर पर प्रायः बोलबाँट अर्थात् पछाहीं ठुमरियों में ब्रजभाषा और कहीं-कहीं उसके साथ किंचित खड़ी बोली व उर्दू का प्रयोग तथा बोलबनाव अर्थात् पूरबअंग की ठुमरियों में ब्रजभाषा के साथ-साथ अवधी व भोजपुरी बोलियों का प्रयोग दिखाई पड़ता है। ठुमरी की बढ़ती हुई लोकप्रियता से प्रभावित होकर बंगाल प्रदेश के कतिपय संगीतज्ञों ने बँगला भाषा में ठुमरी रचना करके उसके बँगलाकरण का प्रयास भी किया। परंतु यह प्रयोग अधिक सफल और प्रचलित न हो सका। फलतः आज भी ठुमरी रचनाओं में हिंदी की ही लोकभाषाओं (जनबोलियों) का वर्चस्व दिखाई पड़ता है।

ठुमरी के विषय

कैशिकी वृत्यात्मक गीतभेद होने के कारण, ठुमरी-गीतों द्वारा स्त्रियोचित व शृंगारिक भावनाओं की अभिव्यंजना, ठुमरी रचयिताओं का प्रमुख उद्देश्य था। फलतः ठुमरी गीतों की शब्द-योजना अधिकतर शृंगारपरक रही है और उसमें प्रायः किसी स्त्री की ओर से प्रणय अथवा विरह की अभिव्यक्ति दृष्टिगत होती है। इससे ठुमरी-गीतों का काव्य स्त्रियोचित व शृंगारप्रधान होना सिद्ध होता है।

शृंगार के दो भेद हैं : 1. संयोग और 2. वियोग, जिन्हें क्रमशः संभोग-शृंगार और विप्रलंभ शृंगार भी कहा जाता है।[21] मिलन, प्रणय, प्रियतम का संग व हास विलास आदि सभोग शृंगार और प्रियतम से मान, बिछोह व प्रवासजन्य वियोग आदि विप्रलंभ शृंगार के विषय हैं। ठुमरी-गीतों में शृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का चित्रण देखने को मिलता है।

भावनाओं की दृष्टि से विभिन्न ठुमरी गीतों में प्रेम, भक्ति, अनुराग, हर्ष, शोक, मान, उपालंभ, आशा, निराशा इत्यादि अनेकों स्थायी व अस्थायी मनोभावों की अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है। इन सभी मनोभावों के मूल में या तो सुख अथवा दुःख की अनुभूति अंतर्निहित होती है। दुःख की अनुभूति करुणा का विषय होने के कारण, वियोगजन्य दुःख की अभिव्यंजना के लिए करुण रस का आश्रय लिया जाना स्वाभाविक ही है। अतएव वियोगात्मक ठुमरियों में प्रायः शृंगार के साथ-साथ करुण रस का प्रयोग भी मिलता है। परंतु वहाँ भी प्रधानता शृंगार रस की ही रहती है। वियोगात्मक ठुमरियों के उदाहरण इस प्रकार हैं :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

1. ठुमरी जोगिया चाँचर (दीपचंदी), विलंबित लय

स्थायी

बीत गई सारी रैन सखी री ।
मोहे पिया बिन गिनत तारे ॥

अंतरा

अँखियाँ मोरी द्वारे लगी हैं ।
कब घर आवेंगे पिया प्यारे ॥

2. ठुमरी तिलककामोद (त्रिताल-मध्यलय)

स्थायी

दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी ।
तरप तरप निकस जात जिया,
पिया बिन कल नाहिं परे, एक घरि पल छिन ।।

अंतरा

न जानूँ कौन देस बिलम रहे 'प्रेमदास',
कौन सौतन बैरन घर, एरी सखी,
मोहे तरप तरप बीती रतियाँ, तारे गिन गिन ।।[22]

जहाँ तक ठुमरी के विषयवस्तु का संबंध है, वे विविध प्रकार के होते हैं, जिनमें साधारण नर-नारी के लौकिक प्रेम अथवा भक्ति मार्गीय तथा सूफ़ी व रहस्य-मार्गीय संतों के अलौकिक ईश्वरीय प्रेम की अभिव्यक्ति मिलती है । लौकिक प्रेम को अभिव्यक्त करने वाली ठुमरियों में सांसारिक नर नारी को नायक व नायिका माना जाता है, जैसे

ठुमरी

स्थायी

पिया कैसी प्रीत लगाई ॥

अंतरा

आप जाय सौतिन घर छाये, सगरी रैन गँवाई ।
'आजिज पिया' से जाय कहो, तुम ऐसी करत निठुराई ॥[23]

भक्तिमार्गीय प्रेमाभिव्यक्ति के लिए प्रायः ठुमरियों में नायक के रूप में कृष्ण और नायिकाओं के रूप में राधा व गोपियों को प्रतिष्ठित किया जाता है, जैसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ठुमरी

स्थायी

श्याम के सँदेशो ऊधो, पाती ना पठाई रे ।।

अन्तरा

गोकुल उजाड़ गये, मथुरा बसाई रे ।।
कुवरी से प्रीति कर राधा बिसराई रे ।।[24]

कुछ ठुमरियों में भक्तिमार्गीय प्रेमाभिव्यक्ति के ललितभाव के साथ-साथ आराध्य से भक्त के विनय करने की भावाभिव्यक्ति भी सन्निहित रहती है, जैसे

ठुमरी बरवा

स्थायी

बेगि दरस दिखला जा रे, मैका, तोरे बिन जिया घबराय सँवलिया ।।

अंतरा

बहुत गई रहि गइ पिय थोरी रे, तामे हुं नितहि घटाय सँवलिया ।
अब कवलौं तरसाए हि रखिहौ, तुम बिन कोउ न दिखाय सँवलिया ।।

अंतरा 2

हौं मन सों रुचि सों जन तेरो, सब जग रह्यो जनाय सँवलिया ।
तोरी शरण गहि दामन तुम्हरोहि, मोरी सुधि दे ना भुलाय सँवलिया ।।

अंतरा 3

गरज बावरी है गरीब की रे, अरज करत गुन गाय सँवलिया ।।
है मोरी बात हाथ प्रभु तोरेहि, जन की देहु बनाय सँवलिया ।।

अंतरा 4

तुम अंतर घट की सब जानत, तुम सों कछु न छिपाय सँवलिया ।
निज जन जानि बेगि अपनावो, 'ललन' की करहु सहाय सँवलिया ।।[25]

सूफ़ी व रहस्यमार्गीय ईश्वरीय प्रेमाभिव्यक्ति वाली ठुमरियों की भाषा सुनने में तो साधारण लौकिक नर नारी के प्रेम-व्यापार को अभिव्यक्त करती है, परंतु उसका गूढ़ार्थ अलौकिक ईश्वरीय प्रेम की ओर इंगित करता है। अतएव ऐसी ठुमरियाँ द्वयर्थक होती हैं, जैसे

ठुमरी भैरवी

स्थायी

बाबुल मोरा नैहर छूटोहि जाय ।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अंतरा

चार कहार मिल डोलिया मँगावो ।
अपना बेगाना छूटोहि जाय ॥

दोहा

अँगना तो परबत भयो देहरी भई बिदेस ।
जा बाबुल घर आपने मैं चली पिया के देस ॥
बाबुल मोरा नैहर छूटोहि जाय ॥[26]

भैरवी की इस प्रसिद्ध ठुमरी में जहाँ एक ओर विवाहोपरांत नवविवाहिता वधू के पितृगृह से बिछुड़ने और चार कहारों द्वारा उठाई जाने वाली डोली में बैठकर पतिगृह को प्रयाण करने का वर्णन किया गया है, वहाँ दूसरी ओर इसके गूढ़ार्थ द्वारा, मृत्यु के पश्चात् मनुष्य की आत्मा के संसार से बिछुड़ने, चार व्यक्तियों के कंधों पर रखी अर्थी द्वारा शव की श्मशान यात्रा और आत्मा के परमात्मा से मिलने की अभिव्यक्ति भी की गई है।

भारतीय संगीत में प्रायः कृष्णलीलाप्रधान गीत बहुत अधिक संख्या में गाए जाते हैं। इस संबंध में कैप्टेन एन० ऑगस्टस विलर्ड का अभिमत है कि यदि भारत के गीतों को विषयानुसार वर्गीकृत किया जाए तो संभवतः कृष्ण की प्रेमलीलाओं को वर्णन करने वाले गीतों का संग्रह सर्वाधिक होगा।[27] इसी भाँति ठुमरी-गीतों में भी कृष्ण और राधा या गोपियों को नायक व नायिका मानकर रची जाने वाली, कृष्णलीला प्रधान ठुमरियों की संख्या संभवतः सर्वोपरि होगी।

स्त्रियोचित गानविधा होने तथा मध्ययुग के उत्तर भारतीय सामंती वैभव व विलासपूर्ण वातावरण में विकसित होने के कारण ठुमरी-रचनाओं के विषय तत्कालीन हिंदी के शृंगारिक रीतिकाव्य के नायिकाभेदों से भी बहुत प्रभावित रहे हैं। स्त्री-पुरुष के शृंगारिक प्रेम-संबंधों के अनुसार, साहित्य व नाट्यादि में, नारी को विविध प्रकार की नायिकाओं के रूप में प्रस्तुत करने की परंपरा बहुत प्राचीन है, जिसका प्रभाव मध्ययुगीन हिंदी के रीति-साहित्य पर भी बहुत रहा है।

भरत ने विभिन्न आधारों पर नायिका के विभिन्न भेद माने हैं। भरत ने सामाजिक व्यवहार के आधार पर बाह्या (कुलीना), आभ्यंतरा (वेश्या) और बाह्याभ्यंतरा या कृतशोचा (वेश्यावृत्ति त्याग कर शुद्ध भाव से प्रेमी के साथ रहने वाली) ये तीन भेद और इसी आधार पर कुलजा व कन्यका नामक दो अन्य भेद भी बताए हैं। नायक के साथ संयोग, वियोग की स्थिति के अनुसार वासकसज्जा, विरहोत्कंठिता, स्वाधीनपतिका, कलहांतरिता, खंडिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका और अभिसारिका नामक आठ भेद; नायक के प्रति प्रेमाधार पर मदनातुरा, अनुरक्ता व विरक्ता ये तीन भेद; प्रकृति के अनुसार उत्तमा, मध्यमा और अधमा ये तीन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भेद; यौवनलीला के आधार पर प्रथम यौवना, द्वितीय यौवना, तृतीय यौवना और चतुर्थ यौवना एवं गुण के आधार पर दिव्या, नृपपत्नी, कुलस्त्री और गणिका नामक चार भेदों को माना है।

भरत के बाद रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में नायिकाओं के आत्मीया, परकीया और वेश्या नामक तीन प्रमुख भेद मानते हुए रतिविलास के आधार पर आत्मीया के मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा नामक तीन भेद बताए हैं। इनमें से मध्या और प्रगल्भा प्रत्येक के क्रमशः ज्येष्ठा और कनिष्ठा नामक दो भेद मानकर, फिर इन दोनों में से प्रत्येक के मान, व्यवहार के अनुसार क्रमशः धीरा, अधीरा व मध्या ये तीन भेद माने हैं। आत्मीया के दो अन्य भेद स्वाधीनपतिका व प्रोषितपतिका और परकीया के दो भेद कन्या व अन्योढ़ा बताए हैं। इनके अतिरिक्त आत्मीया, परकीया तथा वेश्या इन तीनों में से प्रत्येक के अभिसारिका व खंडिता नामक अन्य दो भेद भी बताए हैं। सुव्यवस्थित होने के कारण रुद्रट द्वारा प्रस्थापित नायिकाभेद प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों द्वारा अनुकरणीय रहा है।[28]

रुद्रट के बाद भोजराज ने नायिकाओं के कुछ नये भेदोपभेद बताये हैं। **सरस्वतीकंठाभरण** में उन्होंने कथावस्तु के आधार पर नायिका, प्रतिनायिका, उपनायिका, अनुनायिका और नायिकाभास नामक पाँच; उपयमन के आधार पर ज्येष्ठा व कनीयसी नामक दो; मानवृद्धि के आधार पर उद्धता, उदात्ता, शांता और ललिता नामक चार; आजीविका के आधार पर गणिका, रूपजीवा और विलासिनी नामक तीन एवं वृत्ति के आधार पर सामान्या, पुनर्भू व स्वैरिणी नामक तीन भेदों की गणना की है। शृंगारप्रकाश ग्रंथ में भोज ने सामान्या नायिका के ऊढ़ा, अनूढ़ा, स्वयंवरा, स्वैरिणी व वेश्या नामक पाँच और पुनर्भू नायिका के अक्षता, क्षता, यातायाता व यायावरा नामक चार उपभेद बताए हैं।

भोज के उपरांत भानु मिश्र ने अपने ग्रंथ रसमंजरी में उस समय तक के प्रचलित नायिकाभेदों को सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करते हुए हिंदी के रीतिकालीन काव्य के आचार्यों का मार्ग प्रशस्त किया। भानु मिश्र के अनुसार नायिका के स्वीया, परकीया और सामान्या यह तीन प्रमुख भेद हैं। स्वीया के मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा नामक तीन भेद हैं। इनमें से मुग्धा के अज्ञातयौवना और ज्ञातयौवना और फिर पति के प्रति विश्रब्धता के आधार पर नवोढ़ा व विश्रब्धनवोढ़ा यह दो अन्य भेद हैं। मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं में से प्रत्येक के मानावस्थाजन्य धीरा, अधीरा व धीराधीरा नामक तीन भेद और फिर पतिस्नेह के आधार पर इन सब छह भेदों में से प्रत्येक के क्रमशः ज्येष्ठा व कनिष्ठा दो भेद हुए। प्रगल्भा के रतिप्रीतिमती व आनंदसम्मोहवती नामक दो अन्य भेद भी बताए गए हैं। इस प्रकार भानु मिश्र के अनुसार स्वीया के मुख्य तेरह भेद हुए। परकीया के परोढ़ा व कन्यका नामक दो मुख्य भेद मानते हुए भानु मिश्र ने गुप्ता विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयना, मुदिता, आदि नायिकाभेदों और उनके उपभेदों का अंतर्भाव परकीया के अंतर्गत माना है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सामान्या के भेदोपभेदों की चर्चा उन्होंने नहीं की है। अतएव भानु मिश्र के अनुसार नायिका के प्रमुख भेदों की संख्या सोलह (स्वीया 13+परकीया 2+सामान्या 1=16) है। इन सोलह भेदों को भरत संमत संयोगावियोगावस्थानुसारित वासकसज्जा, विरहोत्कंठिता, स्वाधीनपतिका, कलहांतरिता, खंडिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका और अभिसारिका इन आठ भेदों एवं प्रकृति पर आधारित उत्तमा, मध्यमा व अधमा इन तीन भेदों के साथ गुणन करने पर भानु मिश्र के मतानुसार नायिकाभेदों की कुल संख्या 384 तक पहुँचती है। इस संख्या के अतिरिक्त भानु मिश्र ने अन्य संभोग-दु:खिता, वक्रोक्तिगर्विता (प्रेमगर्विता सौंदर्यगर्विता), मानवती व प्रवत्स्यत्पतिका नामक चार अन्य भेद भी निरूपित किए हैं।[29]

आगे चलकर हिंदी भाषा के अनेक परवर्ती कवियों व संगीतज्ञ वाग्गेयकारों ने प्राचीनकाल से चले आए शृंगार की इस रीति का अनुसरण करते हुए नायिका-भेदों को प्राय: अपने काव्य व गीतों का मुख्य विषय बनाया। इसीलिए संगीत की मध्यकालीन गीत-रचनाओं पर प्राय: शृंगारिक रीति का बहुत प्रभाव दिखाई पड़ता है। शृंगारिक गीतविधा होने से ठुमरी-रचनाओं में यह प्रवृत्ति कुछ अधिक गहरी ही रही है। फलत: आज भी परंपरागत रूप में चली आई अनेक ठुमरियों के विषय नायिकाभेदों से संबद्ध मिलते हैं। ऐसी ठुमरियों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :

1. वासकसज्जा नायिका

ठुमरी भैरवी

स्थायी

पिया के आवन की भई बिरियाँ,
गोरी दरवजवा ठाढ़ि रही॥

दोहा

आवन आवन कह गये, बीते बारह मास।
छपर पुरानो ह्वै गयो, तड़पन लागे बाँस॥

अंतरा

"ताल पिया" सों वेग मिलावो, निकसो जात जिया।
गोरी दरवजवा ठाढ़ि रही॥[30]

2. विरहोत्कंठिता नायिका

ठुमरी पीलू

स्थायी

मोरी अँखियाँ ढूंढ रही।
हो, तुमका पावत नाहीं॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अंतरा

'कदर पिया' जिनका तुम चाहत ।
न जानूँ कौन देस गई ।।[31]

3. स्वाधीनपतिका नायिका

ठुमरी बिहाग

स्थायी

लट उलझी सुलझा जा रे बालम ।
हाथन मेरे मेहँदी लगी है ।।

अंतरा

माथे की बिंदिया बिखर गई ।
अपने हाथ लगा जा रे बालम ।।[32]

4. कलहांतरिता नायिका

ठुमरी बिहाग

स्थायी

बलम तेरे झगड़े में रैन गई ।

अंतरा (पहला)

कहाँ गये चंदा कहाँ गए बदरा ।
कहाँ गई प्रीति नई ।।

अंतरा (दूसरा)

खुल गए बदरा छिटक रहे तारे ।
सोइ अब गिनति रही ।।[33]

5. खंडिता (गुप्ताखंडिता) नायिका

ठुमरी भैरवी

स्थायी

मोरे करमवाँ में याही लिखा, हो राजा,
कर ले सवतिया से प्रीत ।।

अंतरा

जहाँ रहियो राजा कुसल से रहियो ।
मोरे सिंदुरवा के भाग, हो राजा,
कर ले सवतिया से प्रीत ।।[34]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

6. खंडिता नायिका

ठुमरी काफ़ी

स्थायी

रात सखी मोहे नींद न आई।
तड़पि तड़पि सारी रैन गंवाई रे ॥

अंतरा

भोर भये आये सैयाँ, डाले गलबैयाँ।
'सुल्तान पिया' की ढिठाई नहिं भाई रे ॥[35]

7. विप्रलब्धा नायिका

ठुमरी सोरठ

स्थायी

सखी री बिनु पिय बिकल परी।
अपने जाय सौतन रंग राँचे, हमरी सुधि बिसरी।
हमको मदन सतावत निसदिन पल पल घरी घरी ॥

अंतरा

जो मैं जानति ऐसो निठुर है, नाहक प्रीति करी।
तरसि तरसि मैं रहति सेज पर, रोय रोय नीर भरी।
कहे 'सरदार' कछू ना भावे, तेरे बिना हरी ॥[36]

8. प्रोषितपतिका नायिका की पूर्वावस्था

ठुमरी भैरवी

स्थायी

वरसत में कोऊ घर से न निकसै, राजा।
तुम ही अनोखे बिदेस जवैया ॥

अंतरा

नदी भरिगै नाला भरिगै,
भरिगै ताल तलैया।[37]

9. प्रोषितपतिका नायिका

ठुमरी झिंझोटी

स्थायी

पिया बिन नाहीं आवत चैन।
कासे कहूँ जी के बैन ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अंतरा

याद आवत है निसदिन 'हैदर'
बाँकी सूरत तीखे नैन ॥[38]

10 अभिसारिका नायिका

ठुमरी पीलू

स्थायी

चले अइयो कान्हा, नदिया किनारे मोरा गाँव ।

अंतरा

नदिया किनारे कदम की छैंयाँ, ललिता सखी मेरो नाँव ॥[39]

11. अज्ञातयौवना

ठुमरी गारा

स्थायी

वारी उमिर लरिकइयाँ न छेड़ो सैंयाँ ॥

अंतरा

सेज चढ़त मोरी पायल वाजे, जागत सास जेठनियाँ ॥[40]

12. ज्ञातयौवना

ठुमरी मिश्र नटमल्हार

स्थायी

डोले रे जोवन मदमाती गुजरिया ।
साँवरी सूरत पर परत नजरिया ॥

अंतरा

लटपट चाल चलत कुंजन में ।
ओढ़े कुसुम रँग लाल चुनरिया ॥[41]

नायिकाभेद के अतिरिक्त अनेक ठुमरियों में नायक या नायिका के नखशिख व रूप का वर्णन भी पाया जाता है, जैसे

1. नायक का नखशिख व रूप वर्णन

ठुमरी

स्थायी

लचक लचक मोहन आवे ।
भावे मन अधर मुरली, मधुर मधुर बाजे ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अंतरा 1

श्रवण कुंडल चपल डोलन, मोर मुकुट चंद्र किरन।
मंद हसन जिया की बसन, मोहनी मुरति राजे ।।

अंतरा 2

भृकुटि कुटिल कमल नैन, अधर मधुर मधुर बैन ।
गज गजेन्द्र चाल तिलक भाल पर बिराजे ।।

अंतरा 3

'लच्छनदास' श्याम रूप, नखशिख शोभा अनूप।
रसिकभूप बसन रूप, मदन कोटि लाजें ।।[42]

2. नायिका का नखशिख, रूप व गति वर्णन

ठुमरी

स्थायी

अलबेली चलत चपल चंचल चाल ।
लचक लचक चटक मटक सी कराल ।।

अंतरा 1

झिझक झिझक झुक झुक अटपट, अति लटपट सी अठिलाय ।
रूम रूम झूम झूम घूम घूम, गज गति मनु मराल ।।

अंतरा 2

मधुभरि मतवाली, सब ढंग ढंग भरि, रसरंग अंग दरसाय ।
मतवारी अति प्यारी प्यारी, न्यारी न्यारी सुकुवाँरी विशाल ।।

अंतरा 3

बरन बरन भृकुटि मरोर, नासिका सकोर, अधर दशनाय ।
कटि धर कर, चिबुक कपोल, 'ललन' पिय जिय निहाल ।।[13]

3. नायक के नेत्रों व दृष्टि का वर्णन

ठुमरी भैरवी

स्थायी

तीखे नैन चितवन काहे मारत तान, बरजोरी कान्ह ।
कारे कारे दृग रतनारे, कुटिल भौंहें धनुख बान ।।

अंतरा

'चाँद' कहत अति मोहनी मूरत, झलक दिखाए हरत प्रान ।।[44]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

4. नायिका का मुख सौंदर्य वर्णन

ठुमरी काफ़ी

स्थायी

देखा गोरा गोरा मुखड़ा तिहारा ।
मुखड़ा तिहारा प्यारा प्यारा, मुखड़ा तिहारा ।।

अंतरा

देखी 'कदर' ऐसी सोहनी सूरत । माथे चाँद ठोढ़ी तारा ।।[45]

नखशिख व रूपवर्णन के अतिरिक्त ऋतु वर्णन से संबंधित ठुमरी रचनाएँ भी पर्याप्त संख्या में मिलती हैं, जैसे

1. वर्षा वर्णन

ठुमरी

स्थायी

घिरे घिरे घन गगन कारे, पपिहा पिय पिय धुनि धारे ।
आली घर नाहीं, घर नाहीं बलम हमारे, तन अगन जगारे ।

अंतरा

पिय बिनु दुखदाई, ऋतु बरखा की आई ।
कैसे पाऊँ कैसे पाऊँ, 'ललन' पियारे मनमोहन दुलारे ।।[46]

2. वसंत वर्णन

ठुमरी मालकौंस

स्थायी

आई वसंत बहार ।
भँवरा गूँजत डार डार कर गुंजार रे ।।

अंतरा

नव पल्लव लतान द्रुम बेलरियाँ भाँति भाँति उमँग रहीं,
मद यौवन रस सो ढंग ढंग सो री आली ।
'ललनपिया' शोभा देखि वारी वारी,
विधि विचार ऋतु शृंगार ।।[47]

उत्तर भारत में परंपरागत संगीतजीवी गायक-गायिकाओं द्वारा गाए जाने वाले होली पर्व से संबद्ध गीतों में से धमार तालबद्ध 'होरी' को छोड़कर 'होली' नाम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से गाए जाने वाले गीतों की रचना व गानशैली ठुमरी-जैसी होने के कारण इन्हें ठुमरी-गीतभेद के अंतर्गत ही माना जाता है। अतः इस विधि से गाई जाने वाली 'होली' रचनाओं को होलीक्रीड़ा-वर्णन-युक्त ठुमरियाँ ही समझना चाहिए। इनके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :

1. होली काफ़ी (दीपचंदी, विलंबित लय)

स्थायी

मोपै डारि गयौ सारी रँग की गगर।
कैसो धोखा दियौ, मैं तो भूले से देखन लागी उधर ॥

अंतरा

बिना रँग डारे जाने न दूँगी।
श्याम कहो तुम जात किधर ॥[48]

2. होली भैरवी (त्रिताल, मध्यलय)

स्थायी

बाट चलत नई चुनरी रँग डारी रे।
ऐसो है बेदर्दी बनवारी ॥

अंतरा 1

ऐसो है निडर डरत न काहू सो लँगर।
अपनी धींगाधींगी करत है निडर।
हे मोरे राम, हे मोरे राम, हे मोरे राम ॥

अंतरा 2

इतने दिनन मोसे कबहूँ न अटक्यो।
नितप्रति जात गलिन में।
'कुँवर श्याम' खेलत फाग मोसे।
हे मोरे राम, हे मोरे राम, हे मोरे राम ॥[49]

संगीतज्ञों द्वारा बनाई गई ठुमरियों के अतिरिक्त मध्यकालीन संतकवियों द्वारा हिंदी की जनबोलियों में विरचित पदों में से कुछ पद, गायक-गायिकाओं द्वारा बहुत समय से परंपरागत रूप में ठुमरी-शैली में गाए जाते रहने के कारण, आगे चलकर ठुमरियों के रूप में ही प्रचार रूढ़ हो गए। आज भी ऐसे अनेक पद ठुमरियों के रूप में संगीतज्ञ समाज में प्रचलित हैं। उनमें से कुछ पद, उदाहरण के लिए, यहाँ प्रस्तुत हैं :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

1. संतकबीर का निर्गुण पद जो कि संगीत की परंपरा में पीलू की सुप्रसिद्ध ठुमरी के रूप में प्रचलित हैं :

सोच समझ नादान, आशिक होना फिर जीना क्या रे।
रूखा सूखा गम का टुकड़ा, मीठा और सलोना क्या रे।।
जिस नगरी में दया धरम नहिं, उस नगरी में रहना क्या रे।
पाया हो तो देले प्यारे, पाय पाय फिर खोना क्या रे।
गुल वो ही जो गुल को जाने, तकिया और बिछौना क्या रे।
कहे कबीर सुनो भाई साधो, सीस दिया तब रोना क्या रे।।

यह पूरा पद या इसका कुछ अंश ठुमरी के रूप में गाया जाता है।

2. कृष्णभक्त संत कवि सूरदास के निम्नलिखित पद को भैरवी की ठुमरी के रूप में गाए जाने की परंपरा है :

मुरलिया कौने गुमान भरी।।
सोने की नहिं रूपे की नहिं, नाहीं रतन जरी।
जड़ तोरी जानूँ पेड़ पहचानूँ, मधुबन की लकरी।।
कबहुँ मुरलिया प्रभुकर सोहे, कबहूँ अधर धरी।
'सूरदास' प्रभु अधरन बैठी, याही तें गरब भरी।।

यह पद भी, पूरा या आंशिक रूप में, ठुमरी शैली में गाया जाता है।

3. सुप्रसिद्ध कृष्णभक्त कवयित्री मीराबाई का निम्नलिखित पद राग पीलू की एक पुरानी ठुमरी के रूप में प्रसिद्ध है :

पपैया रे पिव की बोली न बोल।
सुण पावेली विरहणी रे, थारी राखेली पाँख मरोर।।
चोंच कटाऊँ पपैया रे, ऊपर कालो रे लूण।
पिव मेरा मैं पीव की रे, तू पिव कहे सो कूण।।
थारा सबद सुहावणा रे, जो पिव मेला आज।
चोंच मढ़ाऊँ थारी सोवनी रे, तू मेरे सिरताज।।
प्रीतम कूँ पतियाँ लिखूँ, कागा तू ले जाय।
प्रीतम जासूँ यूँ कहै थारि विरहण धान न खाय।।
मीरा दासी व्याकुली, पिव पिव करत बिहाय।
वेगि मिलो प्रभु अंतरजामी, तुम बिनु रह्यो न जाय।।

प्रायः इस पद की केवल प्रारंभिक दो पंक्तियाँ ही गायकों व गायिकाओं द्वारा ठुमरी के रूप में गाई जाती हैं। पद की शेष तुकांत पंक्तियों की जोड़ियाँ प्रायः दोहों के रूप में व्यवहार की जाती हैं। उत्तरप्रदेश की क्षेत्रीय लोकभाषाओं से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रभावित होकर यह ठुमरी थोड़े शब्द-परिवर्तन के साथ निम्नलिखित रूप में प्रचलित है :

स्थायी

पपिहा रे पी की बोली न बोल ।

अंतरा

जो सुन पावे कोई बिरहा की माती ।
डारेगी पंख मरोर ॥ पपिहा रे०

4. मीराबाई का ही एक अन्य पद "मोरे नैना निपट बंकट छवि अटके"[50] थोड़े शब्द परिवर्तन के साथ राग तिलककामोद, त्रिताल मध्यलय की बोलबाँट ठुमरी के निम्नलिखित रूप में प्रसिद्ध है :

स्थायी

नैनाँ मोरे निपट बिकट छबि अटके ।

अंतरा 1

वारिज बदन कमलदल लोचन, जमुना के निकट अटके ॥ नैनाँ मोरे०

अंतरा 2

सोवत जागत बिहरत निसदिन, ध्यान बंसीबट के ॥ नैनाँ मोरे०

5. मीराबाई के ही एक अन्य पद का निम्नलिखित अंश राग देस में दादरा गीत के रूप में प्रचलित है :

स्थायी

साँवरे मोरी बैयाँ गहो ना ।

अंतरा

मैं हूँ नारि पराए घर की ।
मेरे भरोसे गोपाल रहो ना ॥ सांवरे मोरी०

इस प्रकार व्यापक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि ठुमरी के गेयपद मुख्यतः शृंगारात्मक होने पर भी, उसके अतिरिक्त अन्य विविध विषयों पर भी ठुमरी रचनाएँ की जाती रही हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संदर्भ-संकेत

1. (*i*) "स्वराः षड्जादयस्तेषां वाचकाः सरिगादयः ॥15॥
   स्वराभिव्यक्तिसंयुक्ताः स्वरशब्देन कीर्तिताः ।"

   (*ii*) "षड्जादयः स्वराः पूर्वमुक्ताः । तेषां वाचकाः सरिगमपधनीति वर्णाः तत्तत्स्वराभिव्यक्तिसहिताः स्वरशब्देनोच्यन्ते । ("संगीतरत्नाकर", "सुधाकर", चतुर्थ प्रबन्धाध्याय श्लोक सं० 15, 16).

2. रातांजनकर, श्रीकृष्ण नारायण, "अभिनव गीतमंजरी", प्रथम संस्करण, प्रस्तावना, पृ० 2. (प्रस्तुत उद्धरण के भावार्थ-स्पष्टीकरण के लिए कोष्ठक के शब्द लेखक की ओर से दिए गए हैं)

3. "चर्चरी-रासक प्रख्ये प्रबन्धे प्राकृते किल ।" ("रास और रासान्वयी काव्य" भूमिका, पृ०1).

4. (*i*) देखिए—"संगीतरत्नाकर", चतुर्थ प्रबंधाध्याय, श्लोक संख्या 291.

   (*ii*) देखिए—"संगीतराज", गीतरत्नकोश, प्रबन्धोल्लास (प्रकीर्णप्रबन्धपरीक्षणम्), श्लोक सं० 74.

5. Willard, Captain N. Augustus, *A Treatise on the Music of Hindoostan*. p. 130.

6. Pant, Chandra Shekhar, Literary Aspect of Thumari, "कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका", 1965, पृ० 42.

7. भावे, नरहर शंभुराव, "नर्तक म० शेख़ राहतअली इनका ठुमरी-संग्रह" (प्रथम भाग), पृ० 103.

8. "इश्क़ चमन" (पहला भाग), पृ० 6.

9. वही पुस्तक, पृ० 2.

10. भातखंडे, पं० वि० ना०, "क्रमिक पुस्तक मालिका" (तीसरी पुस्तक), पृ० 628, 629.

11. बनारस की ठुमरी गायिकाओं द्वारा गाई जाने वाली एक प्रसिद्ध व पुरानी ठुमरी.

12. "मनहर संगीतावली", पृ० 328.

13. भावे, कै० नरहर शंभुराव, "नर्तक म० शेख राहतअली, इनका ठुमरी-संग्रह" (तृतीय भाग), पृ० 88.

14. सैयद आग़ा हसन 'अमानत', "इंदरसभा", पृ० 23.

15. हीरालाल, "मजमुए राग", पृ० 31.

16. सैयद आग़ा हसन 'अमानत', "इंदरसभा", पृ० 29.

17. डॉ० हेम भटनागर, "हिंदी साहित्य के शृंगार युग में संगीत काव्य", पृ० 80.

18. भावे, नरहर शंभुराव, "नर्तक म० शेख़ राहतअली इनका ठुमरीसंग्रह" (प्रथम भाग) पृ० 32.

19. वही पुस्तक, पृ० 31.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

20. भातखंडे, पं० विष्णु नारायण, "क्रमिक पुस्तक मालिका" (दूसरें पुस्तक), पृ० 128.
21. "हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास" (षष्ठ भाग); रीतिकाल, रीतिबद्ध काव्य, पृ० 34.
22. भातखंडे, पं० विष्णु नारायण, "क्रमिक पुस्तक मालिका" (तीसरी पुस्तक), पृ० 309.
23. हीरालाल, "मजमुए राग", पृ० 25.
24. पंडित बख़्शराम पाँडे, "सांगीतशिखा", पृ० 10.
25. पं० ललनपिया सारस्वत, "ललनसागर", पृ० 489.
26. भातखंडे, पं० विष्णु नारायण, "क्रमिक पुस्तक मालिका" (दूसरें पुस्तक), पृ० 397.
27. "If the songs of Hindoostan were classed by subjects, perhaps that recites the amours of Chrishnu would be the most voluminous." (Willard, Captain N. Augustus, *A Treatise on the Music of Hindoostan*, p. 103).
28. "हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास" (षष्ठ भाग); रीतिकाल, रीतिबद्ध काव्य, पृ० 138 व 139.
29. वही पुस्तक, पृ० 139.
30. (अ) ठाकुर जयदेवसिंह से प्राप्त (यह ठुमरी उन्हें सन् 1913 में अच्छनबाई से मिली थी).

    (आ) "इश्क चमन" (पहला भाग), पृ० 10.
31. भातखंडे, पं० विष्णुनारायण, "क्रमिक पुस्तक मालिका" (तीसरी पुस्तक), पृ० 630.
32. गर्ग, लक्ष्मीनारायण, "कथक नृत्य" पृ० 69.
33. "इश्क चमन", पृ० 7.
34. ठाकुर जयदेवसिंह से प्राप्त (यह ठुमरी उन्हें भैया गनपतराव से सन् 1910 में मिली थी).
35. हीरालाल, "मजमुए राग", पृ० 30.
36. पंडित बख्शराम पाँडे, "संगीतशिखा", पृ० 12.
37. ठाकुर जयदेवसिंह से प्राप्त (यह ठुमरी उन्हें भैया गनपतराव से सन् 1910 में मिली थी).
38. प्रोफ़ेसर बड़े आग़ा, "गुलदस्तए नग़मात", पृ० 137 (यह ठुमरी बिलासी के नवाब हैदर अली खाँ की रचना है).
39. गर्ग, लक्ष्मीनारायण, "कथक नृत्य", पृ० 66.
40. प्रोफ़ेसर बड़े आग़ा, "गुलदस्तए नग़मात", पृ० 110.
41. वही पुस्तक, पृ० 163.
42. भावे, नरहर शंभुराव, "नर्तक म० शेख़ राहतअली इनका ठुमरी-संग्रह", (प्रथम भाग), पृ० 94.
43. पंडित ललनपिया सारस्वत, "ललनसागर", पृ० 210 व 211.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizaqtion by eGangotri

44. भावे, कै० नरहर शंभुराव, "नर्तक म० शेख़ राहत अली इनका ठुमरी-संग्रह (तृतीय भाग), पृ० 40.
45. वही पुस्तक (प्रथम भाग), पृ० 31.
46. पं० ललनपिया सारस्वत, "ललनसागर", पृ० 269.
47. वही पुस्तक, पृ० 158.
48. गर्ग, प्रभुलाल, "संगीत गायन संग्रह", तृतीय अध्याय, पृ० 140.
49. दिल्ली के गोस्वामी श्रीलाल जी 'कुंवरश्याम' कृत भैरवी की सुप्रसिद्ध ठुमरी.
50. "भजन-संग्रह" (तीसरा भाग), पृ० 56.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi.

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

7

ठुमरी के ताल

गीत-संरचना का तीसरा महत्त्वपूर्ण अंग 'ताल' है जो कि मूलत: काल से संबंधित है। 'काल' शब्द समय का सूचक है। ध्वनि के साथ काल का समन्वय संगीत को अनुशासित व सुव्यवस्थित रूप प्रदान करता है। अतएव संगीत की संरचना में काल का विशेष महत्त्व है।

संगीत में कालप्रवाह की अभिव्यक्ति लय द्वारा होती है। लय, समय की नियत समान गति है, जिसकी प्रत्यक्ष अनुभूति किसी ताल-क्रिया (सशब्द या नि:शब्द) के बाद अगली क्रिया होने के पूर्व तक के कालांतराल की विश्रांति द्वारा होती है। इसीलिए प्राचीन भारतीय संगीतशास्त्र के अनुसार तालक्रिया के अनंतर होने वाली विश्रांति को लय कहा गया है, जिसके प्रमुखत: द्रुत, मध्य और विलंबित ये तीन भेद हैं। शीघ्रतम अर्थात् बहुत तेज लय द्रुत; द्रुत से दुगुनी मंद लय मध्य और मध्य से दुगुनी मंद गति वाली लय विलंबित होती है।[1]

संगीत में काल परिमाण नापने का साधन ताल है।[2] आदिकाल से ही संगीत में स्वर के साथ साथ ताल का प्रयोग महत्वपूर्ण व आवश्यक रहा है। इसीलिए ताल को गीत, वाद्य और नृत्त की प्रतिष्ठापना का आधार कहा गया है।[3]

ताल के अंतर्गत, मात्रा सबसे छोटा कालखंड होता है। अत: मात्रा, ताल की इकाई है और कई मात्राएँ मिलकर ताल का निर्माण करती हैं। प्रत्येक ताल, भरी (ताली) और खाली के अनुसार थोड़े-थोड़े मात्रा समूह के खंडों में विभक्त रहता है। इन ताल-खंडों से ताल की गति के बीच विभिन्न स्थानों पर निश्चित क्रम से पड़ने वाले वजन (जर्ब) स्पष्ट होते हैं, जैसे—दादरा ताल में 1 2 3 | 4 5 6
× 0

या रूपक ताल में 1 2 3 | 4 5 | 6 7 इत्यादि। ये तालखंड ताल की जाति
0 | 2 | 3

निश्चित करने में भी सहायक होते हैं।

गणित के सिद्धांतानुसार संख्याओं के सम और विषम दो भेद हैं जिनमें से सबसे छोटी सम संख्या 2 और सबसे छोटी विषम संख्या 3 है। अतएव 2 से विभाज्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

4, 6, 8 आदि संख्याएँ सम और 3, 5, 7 आदि अविभाज्य संख्याएँ विषम हैं। सम और विषम संख्यक मात्राओं के प्रयोगानुसार ही भारतीय संगीत की तालों के चतुरश्र और त्र्यश्र नामक दो मुख्य भेद माने गए हैं, जिन्हें क्रमशः चच्चत्पुटः और चाचपुटः कहा गया है।[4]

प्राचीन भारतीय संगीत में एक मात्राकाल को लघु (।), द्विमात्राकाल के गुरु (ऽ), त्रिमात्राकाल को प्लुत (ऽ), अर्धमात्राकाल को द्रुत(o) और चतुर्थांश-मात्राकाल को अणुद्रुत (॰) कहा जाता था।[5] मार्ग तालों में एक मात्रा अर्थात् लघु का कालप्रमाण पाँच लघु (ह्रस्व) अक्षरों के क्रमोच्चार में लगते वाला समय था।[6] जैसे—क च ट त प अक्षरों को स्वाभाविक रूप से क्रमशः उच्चारण करने में लगने वाला काल।[7] देशी तालों में लघु का काल प्रमाण चार ह्रस्व अक्षरों के क्रमोच्चार काल के बराबर था।[8] आज भी दक्षिण भारतीय संगीत-पद्धति में लघु का परिमाण चार लघु अक्षरों का उच्चारण-काल है। लघु (ह्रस्व) अक्षर के उच्चारण काल को संक्षेप में 'अक्षरकाल' कहते हैं। दक्षिण भारतीय तालों का एक अक्षरकाल साधारणतः वर्तमान उत्तरभारतीय तालों में व्यवहृत मध्यलय की एक मात्रा के समान है। अतः वर्तमान उत्तरभारतीय संगीत-पद्धति के अनुसार लघु का कालमान चार मात्राएँ हैं।

दक्षिण भारतीय संगीत में प्रयुक्त होने वाले अणुद्रुत या विराम (◡), द्रुत (o), लघु (।), गुरु (ऽ), प्लुत (ऽ') और काकपद (+) इत्यादि[9] तालांगों में से केवल लघु का मान-परिवर्तन ताल की पाँच जातियों के अनुसार निम्नलिखित रूप में होता है[10] :

जाति नाम	लघु का चिह्न	दक्षिण भारतीय परिमाण	उत्तर भारतीय परिमाण
1. चतस्र	।	चार अक्षरकाल	चार मात्राएँ
2. तिस्र	।	तीन अक्षरकाल	तीन मात्राएँ
3. खण्ड	।	पाँच अक्षरकाल	पाँच मात्राएँ
4. मिश्र	।	सात अक्षरकाल	सात मात्राएँ
5. संकीर्ण	।	नौ अक्षरकाल	नौ मात्राएँ

ताल की इन पांच जातियों के पर्यवेक्षण से ज्ञात होता है कि लघु का कालप्रमाण अपने मूलरूप अर्थात् चतस्र जाति में चार अक्षरकालों (मात्राओं) के अनुसार समसंख्यक रहता है और तिस्र, खंड, मिश्र तथा संकीर्ण इन ताल जातियों में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परिवर्तित होने पर क्रमशः 3, 5, 7, 9 अक्षरकालों (मात्राओं) के अनुसार विषम संख्यक हो जाता है।

विभिन्न तालों में ताल जातियों के अनुसार प्रत्येक अंग (तालखंड) के प्रारंभ में ताली पड़ती है जिसके परिणामस्वरूप ताल की गति के बीच-बीच वज़न (ज़र्ब) पड़ते जाते हैं। समसंख्यक मात्राकाल वाले अंगों (तालखंडों) का वज़न प्रयोग में सरल और विषमसंख्यक मात्राकाल वाले अंगों (तालखंडों) का अपेक्षाकृत कठिन और वक्र होता है। अतः जिस ताल के अंग या तालखंड जितने ही अधिक समसंख्यक होते हैं, वह मनुष्यमात्र के लिए उतना ही अधिक सरल व स्वाभाविक होता है और जिस ताल में अंगों या तालखंडों की संरचना जितनी ही अधिक विषम होती है, उसकी आनंदानुभूति के लिए उतना ही विशेष संस्कार अपेक्षित होता है।

स्वाभाविकता की दृष्टि से सबसे पहले समसंख्यक मात्रा प्रमाण वाले चतुरश्रजातीय तालों का और उसके बाद विषमसंख्यक मात्रा प्रमाण वाले त्र्यश्रजातीय तालों का स्थान आता है। संभवतः इसीलिए प्राचीन भारतीय संगीत में तालों के मुख्यतः चतुरस्र और त्र्यश्र ही दो प्रमुख भेद माने गए हैं।[11] आगे चलकर इन्हीं दोनों के संकर से खंड, मिश्र तथा संकीर्ण ताल जातियाँ विकसित हुईं, जैसाकि इनके नामों से भी प्रकट होता है।

जिस प्रकार दक्षिण भारतीय तालों में अंगों का महत्व है उसी प्रकार उत्तर भारतीय तालों में तालखंडों और उनके अनुसार विभिन्न स्थानों पर पड़ने वाले वज़न और ज़र्बों का महत्त्व है। दक्षिण भारतीय तालों में विराम (अणुद्रुत), द्रुत, लघु, गुरु प्लुत और काकपद अंगों के प्रारंभ में ताली दी जाती है। परंतु उत्तर-भारतीय तालों में तालखंडों के ज़र्बों में से कुछ पर ताली और कुछ पर खाली दी जाती है। ताली वाले तालखंड को भरी और खाली वाले तालखंड को खाली कहा जाता है। प्रत्येक उत्तरभारतीय ताल का ठेका नियत होता है, जिसके बोलों का गठन भी प्रायः तालखंडों के वज़न और भरी (ताली) तथा खाली वाले ज़र्बों पर आधारित रहता है।

दक्षिण भारतीय संगीत में तालों का प्रयोग चतस्र, तिस्र, खंड, मिस्र तथा संकीर्ण इन पाँच जातियों के अनुसार होता है। लघु का कालप्रमाण ही इन ताल जातियों का आधार है। किंतु उत्तरभारतीय तालों में ताल जातियों का उतना बंधन नहीं है। उत्तर भारतीय तालों की संरचना में तालखंड एवं उन पर पड़ने वाले वज़न और ज़र्ब अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अतः चतुर्मात्रिक तालखंडों के ज़र्बों पर भरी (ताल) और खाली दिए जाने वाले तालों को चतस्रजातीय कहा जाता है, जैसे कहरवा, त्रिताल, पंजाबी इत्यादि। इसी प्रकार त्रिमात्रिक तालखंडों के ज़र्बों पर भरी (ताली) और खाली दिए जाने वाले तालों को तिस्रजातीय कहा जाता है, जैसे दादरा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कभी-कभी चतस्र और तिस्र के मिले-जुले प्रयोगों से बने उत्तरभारतीय तालों में से कुछ को खंडजातीय और कुछ को मिश्रजातीय भी कह दिया जाता है, जैसे द्विमात्रिक तालखंड+त्रिमात्रिक तालखंड=पंचमात्रिक तालांग×2=दशमात्रिक झपताल (खंडजातीय) : त्रिमात्रिक तालखंड+द्विमात्रिक तालखंड+द्विमात्रिक तालखंड=सप्तमात्रिक रूपकताल (मिश्रजातीय) ; त्रिमात्रिक तालखंड+चतुर्मात्रिक तालखंड-सप्तमात्रिक तालांग×2=चतुर्दशमात्रिक दीपचंदी या झूमरा ताल (मिश्रजातीय) इत्यादि । परंतु इन खंड, मिश्र आदि ताल जातियों के शास्त्रीय नियम उत्तरभारतीय तालों में अधिक स्पष्ट नहीं हैं ।

समस्त तालों में से चतुरक्षरकालिक एक लघु (।) अर्थात् एक चतुर्मात्रिक तालखंड वाला चतुरश्रजातीय ताल मानव के लिए सबसे सरल है । प्राचीन भारतीय संगीत में इसको आदिताल कहा गया है ।[12] यह वर्तमान कर्णाटक संगीत में एकताल[13] और उत्तर भारतीय संगीत में कहरवा ताल के नाम से प्रसिद्ध है । यह ताल मनुष्य मात्र के लिए इतना सरल व स्वाभाविक है कि आदिकाल से ही लोक में इसका प्रयोग होता चला आया है और आज भी संसार के प्राय: सभी देशों के लोकसंगीत में इसका प्रयोग किसी-न-किसी रूप में आवश्य मिलता है । इसके नाम से ही प्रकट होता है कि विश्व का प्रथम या प्रारंभिक ताल अर्थात् आदिकालीन ताल होने के कारण ही प्राचीन भारतीय संगीत में इसे आदि ताल कहा गया । संभवत: इसीलिए पंडित शार्ङ्गदेव ने देशी तालों में सर्वप्रथम आदिताल की गणना की है ।[14] सरलतम होने के कारण आदिताल का व्यवहार 'रास' नामक संगीतप्रधान प्राचीन लोकनृत्य-नाट्य में प्रमुख रूप से हुआ । अतएव आगे चलकर लोक में आदिताल को रासताल भी कहा जाने लगा ।[15]

प्राचीन एकताल का शास्त्रीय स्वरूप एक द्रुत (o) और आदिताल का एक लघु (।) था ।[16] अर्थात् एकताल में दो अक्षरकाल (मात्राएँ) और आदिताल में चार अक्षरकाल (मात्राएँ) थीं । इस प्रकार प्राचीन संगीत में एकताल की दो आवृत्ति आदिताल की एक आवृत्ति के बराबर थी । पंडित व्यंकटमखी के समय अर्थात् सत्रहवीं शताब्दी तक कर्णाटक संगीत में एकताल को रक्तिदायक न मानकर उसके स्थान पर चतुरक्षर लघु सम्मत आदिताल का व्यवहार किया जाने लगा था ।[17] अत: एकताल के स्थान पर आदिताल का प्रयोग और इन दोनों तालों के पारस्परिक संबंध के फलस्वरूप परवर्ती दाक्षिणात्य संगीत में चतुरक्षर लघु सम्मत आदिताल को ही एकताल कहा जाने लगा और आदिताल नाम चतस्रजातीय त्रिपुट-ताल के लिए व्यवहार किया जाने लगा[18] जिसका शास्त्रीय स्वरूप लघु, द्रुत, द्रुत (।00) है । अर्थात् जो आदिताल पहले चार मात्राओं का था, वह अब आठ मात्राओं का माना जाने लगा । इससे इन तालों के नाम और रूप के क्रमिक परिवर्तन का पता चलता है ।

उत्तर भारतीय संगीत में व्यवहृत होने वाला कहरवा ताल भी प्राचीन आदि-

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ताल का ही वर्तमान संस्करण है। उत्तर भारत की कहार नामक लोकजाति के जातीय संगीत का प्रमुख ताल होने के कारण इसका नाम 'कहरवा' पड़ गया। कहरवा चार मात्राओं या प्रकारांतर से आठ मात्राओं वाला चतुरश्र जातीय देशी-ताल है, जो कि जनता में सर्वाधिक प्रचलित और लोकप्रिय है।

कहरवा के बाद उत्तर भारतीय लोकप्रिय तालों में दादरा का प्रमुख स्थान है। यह छह मात्राओं वाला त्र्यश्रजातीय देशीताल है, जिसकी प्राचीन क्रीड़ाताल (चंडनिःसारुक) से बहुत समता दिखाई पड़ती है, जैसे

1. क्रीड़ाताल—शास्त्रीय स्वरूप=दो विरामांत द्रुत ऽ ऽ

अर्थात्	1	2	3	4	5	6
	×			2		

3. दादराताल—	1	2	3	4	5	6
	×			०		

अतएव इस तुलनात्मक आधार पर दादरा को प्राचीन क्रीड़ाताल का वर्तमान संस्करण कहा जा सकता है।

कहरवा और दादरा दोनों तालों का प्रयोग प्रायः लोकगीतों व लोकनृत्यों में तो होता ही है, इसके अतिरिक्त भजन, गजल कव्वाली, लावनी, दादरा और ठुमरी शैली के सुगम तथा उपशास्त्रीय गीतविधाओं में भी इन तालों का उपयोग प्रमुख रूप से किया जाता है। सरल, स्वाभाविक और जनप्रिय होने के कारण वर्तमान नाट्य तथा फिल्म संगीत में भी कहरवा और दादरा तालों के प्रयोग की प्रधानता दिखाई पड़ती है।

इस प्रकार स्वाभाविकता की दृष्टि से, प्रचलित उत्तर भारतीय तालों में कहरवा और दादरा क्रमशः चतुरश्र और त्र्यश्रजातीय तालों के सरलतम एवं श्रेष्ठ प्रतिनिधि हैं। अतएव यदि यह कहा जाय कि वर्तमान युग में प्रचलित, अन्य उत्तर भारतीय लोकप्रिय देशी तालों के निर्माण में इन दोनों तालों की भूमिका आधारभूत रूप में है, तो अत्युक्ति न होगी।

ठुमरी और ठुमरी-शैली के अन्य गीतों में व्यवहृत होने वाले तालों में त्रिताल, सितारखानी, पंजाबी, जत (षोडशमात्रिक चाँचर), दीपचंदी (चतुर्दश-मात्रिक चाँचर), झपताल, रूपक, एकताल आदि प्रमुख हैं। कभी-कभी आड़ाचौताल में भी कुछ ठुमरी रचनाएँ मिलती हैं परंतु उनकी संख्या बहुत कम है।

ठुमरी गान में प्रयोग किए जाने वाले त्रिताल, सितारखानी, पंजाबी, और जत या चाँचर इत्यादि सभी तालें सोलह मात्राओं व चार खंडों वाले चतुरश्रजातीय देशी ताल हैं, जो कि मूलतः त्रिताल से संबद्ध और उसके भेद माने जाते हैं। पुराने संगीतज्ञों के अनुसार प्रारंभिक ठुमरी-गान में व्यवहृत होने वाला प्रधान ताल त्रिताल ही था।[20]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्रिताल में सोलह मात्राएँ हैं, जो कि कहरवा (आदिताल) के चार आवर्तन की मात्राओं के बराबर हैं। इतना ही नहीं अपितु त्रिताल के चार तालखंडों या विभागों में से प्रत्येक, कहरवा या आदिताल की भाँति ही चतुर्मात्रिक है। दूसरे शब्दों में त्रिताल का प्रत्येक तालखंड, तुलना में कहरवा या आदिताल के एक आवर्तन के समान है। अतएव तालरचना की दृष्टि से त्रिताल को कहरवा या आदिताल के चतुरावर्तनीय प्रयोगसे निर्मित ताल कहा जा सकता है। ठुमरी के अंतिम चरण में चतुर्मात्रिक कहरवा ताल की लग्गी का त्रिताल के अनुसार प्रयोग किया जाना भी इस तथ्य का द्योतक है। **संगीतरत्नाकर** के चर्चरी प्रबंध में निर्दिष्ट षोडशमात्रिक छंद और वेद द्वारा वर्णित चर्चरी नृत्य में चतुर्मात्रिक रासताल (आदिताल) का चतुरावर्तनीय प्रयोग भी गीत, वाद्य नृत्य में व्यवहृत छंद तथा ताल के सोलह एवं चार मात्राओं के इसी पारस्परिक संबंध को प्रकट करते हैं।

ठुमरी में व्यवहृत होने वाले त्रिताल, सितारखानी (अद्धा), पंजाबी तथा जत इत्यादि सोलह मात्राओं वाले तालों के ठेकों और उनके साथ प्रयुक्त होने वाले कहरवा ताल की लग्गियों के बोलों तथा शिवाजी के पिता शाहूजी के सभापंडित वेद द्वारा वर्णित चर्चरी नृत्य के अंतर्गत व्यवहृत रासताल (आदिताल) के बोलों में भी परस्पर क्रमिक विकास जैसा संबंध दिखाई पड़ता है, जैसे

तेति गिध इति शब्देन नर्त्तनं रासतालतः।
अथवा चर्चरीतालाच्चतुरावर्तनैर्नटैः।
क्रियते नर्त्तनं तत्स्याच्चर्चरी नर्तनं वरम्॥ (वेद)

इस वर्णन के अनुसार रासताल में व्यवहृत 'ते ति गि ध' शब्दों (बोलों) का चतुरावर्तन रूप इस प्रकार होगा :

1	2	3	4	1	2	3	4	1	2	3	4	1	2	3	4
ते	ति	गि	ध	ते	ति	गि	ध	ते	ति	गि	ध	ते	ति	गि	ध

देश, काल और वाद्य भेद से इन बोलों में परिवर्तन हो जाना असंभव नहीं। उत्तर भारत में वर्तमान युग के द्विमुखी अवनद्धवाद्यों में पखावज (मृदंग), तबला, ढोलक, नगाड़ा आदि प्रमुख हैं। इनमें से 'तबला' दाहिने और बाएँ दो हिस्सों में दोनों हाथों से बजाया जाने वाला द्विमुखी उर्ध्वक अवनद्ध वाद्य है, जो कि अपनी बनावट, ध्वनि वैशिष्ट्य और वादन में अन्य अवनद्ध वाद्यों की विशेषताओं को आत्मसात कर लेने के कारण, आज के युग का सबसे अधिक उन्नतअवनद्धवाद्य हो गया है।

तबले के मुँह पर मढ़ी चर्म की 'पुड़ी' में साधारणतः किनारे पर 'चाँट', बीच में 'स्याही' और चाँट व स्याही के बीच 'लव' इन तीन स्थानों पर 'खुले' और 'बंद' दो प्रकार के बोल बजाए जाते हैं। गूँजदार ध्वनियों को खुले बोल और गूँज-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रहित ध्वनियों को वंद बोल कहा जाता है। वादन प्रक्रिया की दृष्टि से 'ते ति गि घ' बोलों की निकास-विधि समान्यतः इस प्रकार होगी :

ते—दाएँ तबले की पुड़ी की चाँट पर दाहिने हाथ की तर्जनी उँगली से ता या ना की भाँति खुला आघात ;

ति—दाएँ तबले में पुड़ी की स्याही के किनारे दाहिने हाथ की तर्जनी उँगली से तिं या ती की भाँति खुला आघात या उसी स्थान पर दाहिने हाथ की मध्यमा उँगली से ती की भाँति आघात।

गि—वाएँ तबले में पुड़ी की स्याही के एक किनारे बाएँ हाथ की हथेली टिका कर और सभी उँगलियों को मिलाकर फनकी सी आकृति बनाते हुए तर्जनी या मध्यमा व अनामिका उँगली से एक साथ स्याही के दूसरे किनारे पर ग या घ की भाँति खुला आघात।

घ— (*i*) दाहिने तबले पर ता या ना और बाएँ तबले पर ग बोल एक साथ बजाने पर धा की भाँति संयुक्त ध्वनि।

(*ii*) दाहिने तबले पर तिंयाती और बाएँ तबले पर ग बोल एक साथ बजाने पर धिं या धी की भाँति संयुक्त ध्वनि।

बोलों की व्यावहारिक सुविधा के अनुसार इनमें से ते को ता या ना, ति को तिं या ती और गि को ग, गे, घ, घि, घिं या घे भी कहा जा सकता है। घ का विकास विभिन्न परिस्थितियों में धा या धिं जैसा हो सकता है। अतएव वादन प्रक्रिया में बोलों के निकास की दृष्टि से देश, काल व अवनद्ध वाद्य भेद के अनुसार 'ते ति गि घ' बोलों के क्रमिक विकास की परिकल्पना इस प्रकार की जा सकती है—

1	2	3	4	1	2	3	4	1	2	3	4	1	2	3	4
ते	ति	गि	घ	ते	ति	गि	घ	ते	ति	गि	घ	ते	ति	गि	घ

अथवा

ता ति ग धा | ता ति ग धा | ता ति ग धा | ता ति ग धा

अथवा

ना ति ग धा | ना ति ग धा | ना ति ग धा | ना ति ग धा

उदीक्षण (। । ऽ) या पुराने त्रिताल की संरचना के अनुसार प्रत्यक्ष वादन में भरी और खाली वाले ताल विभागों को स्पष्ट करने के लिए भरी वाले विभागों के अधिकांश बोलों को बाएँ के खुले बोल से संयुक्त करने और खाली वाले विभाग के बोलों को बाएँ के खुले बोल से असंयुक्त करने पर पूर्वोक्त बोलों का निम्नलिखित स्वरूप हो जाएगा :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(*i*) उदीक्षण ताल	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
(*ii*) पुराना त्रिताल	13	14	15	16	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12
बोल (पहला प्रकार)	ना	धि	ग	धा	ना	धि	ग	धा	ना	धि	ग	धा	ना	ति	क	ता
बोल (दूसरा प्रकार)	धा	धि	ग	धा	धा	धि	ग	धा	धा	धि	ग	धा	ता	ति	क	ता
	1				× (2)				3				0			

इन बोलों से वर्तमान युग में प्रचलित सोलह मात्राओं वाले त्रिताल के सितारखानी, पंजाबी, त्रिताल, जत (चाँचर) और चौदह मात्राओं वाले दीपचंदी (चाँचर) ताल के ठेकों की विकास परिकल्पना इसप्रकार होती है :

मात्राएँ	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
1. सितारखानी ठेका																
(*i*) पहला प्रकार	ना	धि	ऽग	धा	ना	धि	ऽग	धा	ना	ति	ऽक	ता	ना	धि	ऽग	धा
(*ii*) दूसरा प्रकार	धा	धि	ऽग	धा	धा	धि	ऽग	धा	ता	ति	ऽक	ता	धा	धि	ऽग	धा
2. पंजाबी ठेका																
(*i*) पहला प्रकार	धा	ऽधि	ऽग	धा	धा	धि	ऽग	धा	ता	ऽति	ऽक	ता	धा	ऽधि	ऽग	धा
तालचिह्न	×				2				0				3			

इसी ठेके के बोलों को बाएँ के यथोचित बोलों से भरते हुए पंजाबी ठेके का दूसरा भेद :

(*ii*) विलंबित प्रकार	धा	गधि	ऽग	धा	धा	गधि	ऽग	धा	ता	कति	ऽक	ता	धा	गधि	ऽग	धा
	×				2				0				3			

इस संबंध में विशेष उल्लेखनीय है कि इस युग के महान तबलावादक स्वर्गीय उस्ताद अहमद जान 'थिरकुवा' सितारखानी व पंजाबी ठेकों को त्रिताल के मूल व प्रारंभिक ठेके मानते थे और इन्हीं के बोलों की प्रस्तार प्रक्रिया से तबला-वादन में 'पेशकार' विकसित होकर प्रचलित हुआ, जैसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्रिताल—पेशकार

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
धी	ऽग	धिं	धा	ऽ	धा	धिं	धा	धा	तित्	धा	तित्	धा	धा	धिं	ता
तित्	ऽधा	ऽग	धा	धिं	धा	धा	तित्	धा	ऽग	धा	तित्	धा	धा	धिं	ता
ती	ऽक	तिं	ता	ऽ	ता	तिं	ता	ता	तित्	ता	तित्	ता	ता	तिं	ता
तित्	ऽधा	ऽग	धा	धिं	धा	धा	तित्	धा	ऽग	धा	तित्	धा	धा	धिं	धा
×				2				0				3			

पेशकार के इन बोलों पर ध्यान देने से इनमें रासताल के ते ति गि ध बोलों से विकसित ता ति ग धा बोलों के विस्तार का प्रयोग स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

द्रुत लय में बजाए जाने वाले सितारखानी ठेके से त्रिताल के वर्तमान ठेके के विकास की परिकल्पना इस प्रकार होती है :

मात्राएँ	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
1. सितारखानी का द्रुत ठेका	धा	धिं	ऽ	धा	धा	धिं	ऽ	धा	ता	तिं	ऽ	ता	धा	धिं	ऽ	धा
2. त्रिताल का ठेका	धा	धिं	धिं	धा	धा	धिं	ऽ	धा	ता	तिं	तिं	ता	धा	धिं	धिं	धा
तालचिह्न	×				2				0				3			

सितारखानी के उक्त सोलह मात्राओं वाले ठेके से आठवीं और सोलहवीं मात्राओं को उनके बोलों सहित पूरी तरह हटा देने से चौदह मात्राओं वाले तियमान चाँचर या दीपचंदी (चाँचर) का ठेका बन जाता है, जैसे

मात्राएँ	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
सितारखानी ठेका	धा	धिं	ऽ	धा	धा	धिं	ऽ	धा	ता	तिं	ऽ	ता	धा	धिं	ऽ	धा
तालचिह्न	×				2				0				3			

मात्राएँ	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14
दीपचंदी ठेका	धा	धिं	ऽ	धा	धा	धिं	ऽ	ता	तिं	ऽ	धा	धा	धिं	ऽ
तालचिह्न	×			2				0			3			

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दीपचंदी के इस ठेके में सम के धा और खाली के ता बोल को दो अक्षरकाल या दो मात्राओं के बराबर कर देने से सोलह मात्राओं वाले यतिमान चाँचर या जत (चाँचर) का ठेका बन जाता है, जैसे

मात्राएँ	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
जत (चाँचर) का ठेका	धा	ऽ	धिं	ऽ	धा	धा	तिं	ऽ	ता	ऽ	तिं	ऽ	धा	धा	धिं	ऽ
तालचिह्न	×				2				0				3			

वर्तमान प्रचलित त्रिताल, सितारखानी, पंजाबी जन व दीपचंदी तालों के ठेके ही नहीं बल्कि ठुमरी गाने के साथ बजाई जानेवाली कहरवाताल की लग्गियों का संबंध भी रासताल के बोलों से दिखाई पड़ता है। ते ति गि ध बोलों का चतुरावर्तनीय प्रयोग, सुनने में स्वतः लग्गी जैसा ही लगता है। अतएव इन बोलों से लग्गी के कुछ रूपों की विकास परिकल्पना इस प्रकार होती है :

मात्राएँ	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
रास ताल के बोल	ते	ति	गि	ध	ते	ति	गि	ध	ते	ति	गि	ध	ते	ति	गि	ध
लग्गी का क्रमिक विकास (क)	ता	ति	ग	धि	ता	ति	ग	धि	ता	ति	ग	धि	ता	ति	ग	धि
(ख)	ना	ति	ग	धि	ना	ति	ग	धि	ना	ति	ग	धि	ना	ति	ग	धि
(ग)	ना	धि	ग	धि	ना	धि	ग	धि	ना	धि	ग	धि	ना	धि	ग	धि
तालचिह्न	×				×				×				×			

सोलह मात्राओं वाले चतुर्विभागीय तालों में व्यवहृत होने पर लग्गी के बोलों में भी तालों की संरचना के अनुसार भरी और खाली का भेद हो जाता है, जैसे

मात्राएँ	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
लग्गी के बोल	ना	धि	ग	धि	ना	धि	ग	धि	ना	ति	क	ति	ना	धि	ग	धि
तालचिह्न	×				2				0				3			

सोलह मात्राओं वाले चतुर्विभागीय तालों में सोलह मात्राओं के अनुसार प्रयोग किए जाने पर भी यह लग्गी मूलतः चार मात्राओं की है। इस लग्गी के बोलों को उलट-पुलटकर बजाने पर यही आठ मात्रे की लग्गी बन जाती है, जैसे

मात्राएँ	1	2	3	4	5	6	7	8
बोल	ना	धि	ग	धि	ग	धि	ना	ति
तालचिह्न	×				2			

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोकवाद्य नगाड़े के प्रभाव से आठ मात्राओं वाली लग्गी के इस रूप में अंतिम बोल 'ना ति' के स्थान पर 'ना ड़ा' प्रयोग करने की प्रथा है, जैसे

मात्राएँ	1	2	3	4	5	6	7	8
बोल	ना	धि	ग	धि	ग	धि	ना	ड़ा
तालचिह्न	×				2			

इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि क्षेत्रीय प्रभाव के कारण तबले के दिल्ली बाज में अंतिम बोल 'ना ति' ही बजाते हैं और उस बाज के अनुसार 'ना ति' और 'ना ड़ा' में कोई भेद नहीं है जबकि बनारसी बाज में 'ना ड़ा' बोलों का निकास 'ना ना' की भाँति होता है। संभवत: यह प्रयोग लोकवाद्य नगाड़ा की वादन प्रक्रिया से प्रभावित है।

सोलहमात्राओं वाले तालों में आठ मात्राओं वाली लग्गी प्राय: निम्नलिखित रूपों में व्यवहार की जाती है :

मात्राएँ	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
पहला प्रकार	ना	धि	ग	धि	ग	धि	ना	ड़ा	ना	ति	क	ति	क	ति	ना	ड़ा
दूसरा प्रकार	धा	धि	ग	धि	ग	धि	ना	ड़ा	ना	ति	क	ति	क	ति	ना	ड़ा
तीसरा प्रकार	धा	धि	ग	धि	ग	तिं	ता	ड़ा	ता	ति	क	ति	क	धिं	धा	ड़ा
तालचिह्न	×				2				0				3			

इस प्रकार बोलों के यत्किंचित क्रमिक परिवर्तन की परिकल्पना के आधार पर रासताल से वर्तमान ठुमरी गान में व्यवहृत होने वाले चार, आठ व सोलह मात्राओं वाले प्रमुख तालों के पारस्परिक संबंध व विकास का अनुमान होता है। इतना ही नहीं बल्कि विश्लेषणात्मक अध्ययन के आधार पर अन्य कई प्राचीन देशी तालों और वर्तमान ठुमरी शैली के गीतों में व्यवहृत होने वाले तालों में भी परस्पर संबंध स्थापित होता है।

संगीत रत्नाकर में चच्चरी प्रबंध के साथ प्रयुक्त होने वाले तालों में चच्चरी नामक देशीताल का भी उल्लेख है, जिसका स्वरूप इस प्रकार था[21] :

ο δ ο δ ο δ ο δ ο δ ο δ ο δ ο δ ।

वर्तमान उत्तरभारतीय ताललिपि के अनुसार इसे ऐसे लिखा जायगा :

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
×		2			3		4		

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

11 12	13 14 15	16 17	18 19 20	
5	6	7	8	
21 22	23 24 25	26 27	28 29 30	
9	10	11	12	
13 32	33 34 35	36 37	38 39 40	41 42 43 44
13	14	15	16	17

प्रचलित उत्तर भारतीय तालों से तुलनात्मक अध्ययन करने पर संगीत-रत्नाकर में उल्लिखित चच्चरी ताल की रचना अधिकांशतः झपताल में व्यवहृत होने वाले तालखंडों (1 2 | 1 2 3) तथा उन पर पड़ने वाले वज़न (ज़र्बों) की भाँति दिखाई पड़ता है। केवल अंतिम तालखंड चतुर्मात्रिक कहरवा या आदिताल के समान है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि गतिछंद या वज़न की दृष्टि से संगीतरत्नाकर में निर्दिष्ट चचरी (चच्चंरी) ताल का संपूर्ण स्वरूप वर्तमान झपताल के चार आवर्तन के बाद कहरवा का एक आवर्तन जोड़ देने के समान है।

आजकल चाँचर नाम से तालों के दो रूप लोकप्रचलित व प्रसिद्ध हैं जिनमें से एक चतुर्दशमात्रिक और दूसरा षोडशमात्रिक है। चौदह मात्राओं वाले चाँचर ताल को दीपचंदी और सोलह मात्राओं वाले चाँचर ताल को प्रायः जत भी कहा जाता है। परंपरागत संगीतज्ञों की मान्यता है कि दीपचंदी (चतुर्दशमात्रिक चाँचर) में तालखंडों की संरचना परस्पर असमान होने के कारण प्रयोग में थोड़ा क्लिष्ट है। अतएव कालांतर में, दीपचंदी में प्रथम खंड के प्रथम पाटाक्षर 'धा' और तृतीत खंड के प्रथम पाटाक्षर 'ता' के साथ क्रमशः एक एक मात्रावकाश और जोड़कर उसे चतुर्मात्रिक—समविभागीय षोडशमात्रिक चाँचर ताल बना लिया गया, जोकि तुलनात्मक रूप में चतुर्दशमात्रिक चाँचर से प्रयोग में सरल व सुबोध है।

संगीत सुदर्शन ग्रंथ में दीपचंद (दीपचंदी) ताल का स्वरूप इस प्रकार दिया गया है[22] :

1 2 3	4 5	6 7 8	9 10
धा गे धिं	धा धिं	धा गे तिं	ता तिं
1	2	3	0

वर्तमानताललिपि के अनुसार इसका स्वरूप इस प्रकार होगा :

1 2	3 4 5	6 7	8 9 10
धा धिं	धा गे तिं	ता तिं	धा गे धिं
×	2	0	3

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दीपचंदी या चाँचर ताल के इस स्वरूप में तालखंड तथा वज़न तो वर्तमान झपताल की भाँति हैं, परंतु ठेके के बोल दीपचंदी ताल के हैं। संगीत सुदर्शन के लेखक पं० सुदर्शनाचार्य उन्नीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध सितारिए अमृतसेन के शिष्य थे और उन्हें अपने गुरु के पिता रहीमसेन सितारिए का भी सानिध्य प्राप्त हुआ था।[23] संगीत सुदर्शन के प्रथम प्रकाशन के समय अर्थात् सन् 1915 में पं० सुदर्शनाचार्य जी जीवित थे।[24] इन तथ्यों से पं० सुदर्शनाचार्य जी का समय उन्नीसवी शताब्दी उत्तरार्द्ध से लेकर वीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक चतुर्थांश के बीच सिद्ध होता है। अतएव संगीत सुदर्शन ग्रंथ में उल्लिखित दीपचंद ताल के स्वरूप से ज्ञात होता है कि वीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक दीपचंदी या चाँचर ताल का एक ऐसा स्वरूप भी प्रचलित व लोकप्रिय था जो कि तालखंड और वज़न (गतिछंद) की दृष्टि से वर्तमान झपताल के सदृश्य था। इस संबंध में यह भी विशेष उल्लेखनीय है कि ब्रज के चाँचरि नृत्य गान में व्यवहृत होने वाले तालों में झपताल का विशेष स्थान है।[25]

इस प्रकार संगीत रत्नाकर में उल्लिखित चच्चरी (चर्चरी) ताल, पंडित सुदर्शनाचार्य द्वारा वर्णित दीपचंद (चाँचर) ताल, ब्रज के चाँचरि नृत्य गान में व्यवहृत होने वाला झपताल जैसे चर्चरी ताल और झपताल की संरचना व गठन के पर्यवेक्षण से इन सबके पारस्परिक संबंध का आभास मिलता है। इससे अनुमानतः ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः प्राचीन चच्चरी (चर्चरी) ताल की संरचना, अधिक लंबी होने के कारण परवर्ती लोकसंगीत में वह गेयत्व के लिए कष्टसाध्य अनुभव होने लगी हो। अतः कालांतर में उसका बड़ा व प्रधान अंश चार भागों में बँटकर प्रत्येक भाग झपताल के समान छोटे अंश में सीमित रह गया हो और प्रत्येक गीतखंड में उस छोटे ताल के चतुरावर्तनीय प्रयोग की प्रथा चल पड़ी हो। साथ ही मूल चच्चरी (चर्चरी) ताल के अंत में स्थित चतुरक्षर लघु (।), गीतखंड की समाप्ति के अंतिम चरण में आदिताल के रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा हो। जैसा कि आज भी चाँचर (होली) व ठुमरी गान के अंत में लग्गी के रूप में चतुर्मात्रिक कहरवा ताल का प्रयोग दिखाई पड़ता है।

इस प्रकार प्राचीन चच्चरी (चर्चरी) ताल, वर्तमान झपताल व दीपचंदी ताल की प्रकृति और गठन पर विचार करने से चाँचर ताल के वर्तमान स्वरूप तक के विकास की रूप रेखा का अनुमान इस प्रकार होता है :

प्रचीन चर्चरी (चच्चरी) ताल	1 2 ×	3 4 5 2	6 7 3	8 9 10 4
	11 12 5	13 14 15 6	16 17 7	18 19 20 8

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

21 22	23 24 25	26 27	28 29 30
9	10	11	12
31 32	33 34 35	36 37	38 39 40
13	14	15	16
	41 42 43 44		
	17		

संगीतसुदर्शनोक्त दशमात्रिक दीपचंद (चाँचर) ताल	1 2	3 4 5	6 7	8 9 10
	धा धिं	धा गे तिं	ता तिं	धा गे धिं
	×	2	0	3

चतुर्दशमात्रिक दीपचंदी (चाँचर) ताल	1 2 3	4 5 6 7	8 9 10	11 12 13 14
	धा धिं ऽ	धा गे तिं ऽ	ता तिं ऽ	धा गे धिं ऽ
	×	2	0	3

षोडशमात्रिक जत (चाँचर) ताल	1 2 3 4	5 6 7 8	9 10 11 12	13 14 15 16
	धा ऽ धिं ऽ	धा गे तिं ऽ	ता ऽ तिं ऽ	धा गे धिं ऽ
	×	2	0	3

चर्चरी ताल का एक और भेद भी मध्य युग में प्रचलित था, जिसका वर्णन तानसेन कृत संगीतसार में मिलता है। चर्चरी ताल का यह स्वरूप क्रमानुसार सोलह[26] द्रुत (o o o o o o o o o o o o o o o o) युक्त है। इसका रूप वर्तमान संदर्भ में इस प्रकार होगा—

1 2	3 4	5 6	7 8	9 10	11 12	13 14	15 16
×	2	3	4	5	6	7	8
17 18	19 20	21 22	23 24	25 26	27 28	29 30	31 32
9	10	11	12	13	14	15	16

यद्यपि तानसेन कृत संगीतसार के सांगीतिक विषयों में मुख्यत: संगीत-रत्नाकर के मत का ही अनुसरण किया गया है, परंतु दोनों के चर्चरी ताल में निम्नलिखित तुलनात्मक अंतर दिखाई पड़ता है :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संगीतरत्नाकरोक्त चच्चरी ताल	o δ o δ o δ o δ o δ o δ o δ o δ ।
संगीतसारोक्त चर्चरी ताल	0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0

संगीतरत्नाकरोक्त चच्चरी (चर्चरी) ताल के मुख्यांश में प्रत्येक द्रुत के अनंतर एक विरामांत द्रुत की योजना है और ऐसा प्रयोग क्रमशः आठ बार करने के बाद बिल्कुल अंत में एक लघु का व्यवहार किया गया है जबकि तानसेन कृत संगीत-सारोक्त चर्चरी ताल में क्रमशः सोलह द्रुतों का ही प्रयोग किया गया है।[27] अतः दोनों के तुलनात्मक पर्यवेक्षण से ऐसा अनुमान होता है कि संभवतः कालांतर में लोकव्यवहार में संगीतरत्नाकरोक्त चर्चरी ताल के मुख्यांश में प्रत्येक द्रुत के साथ प्रयुक्त विरामांत द्रुत के स्थान पर भी द्रुत के ही प्रयोग की प्रथा चल पड़ी होगी और सबसे अंतिम लघु वाला अंश व्यवहार से लुप्त हो गया होगा। इस प्रकार तानसेन के समय तक चर्चरी ताल का सोलह द्रुत अर्थात् बत्तीस लघ्वक्षरों (मात्राओं) वाला सरल रूप भी विकसित होकर जनसमुदाय में प्रचलित हो गया होगा। चर्चरी ताल का यह रूप आगे चलकर वर्तमान त्रिताल में अंतर्निहित हो गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं क्योंकि उक्त चर्चरी ताल की बत्तीस मात्राओं से त्रिताल की सोलह मात्राओं का बहुत सीधा संबंध स्थापित हो जाता है। अतः चर्चरीताल के इस स्वरूप के विकास का संबंध भी वर्तमान त्रिताल और कहरवा इत्यादि तालों के साथ जोड़ा जा सकता है।

वर्तमान ठुमरी और ठुमरी-शैली के अन्य गीतों में दादरा, रूपक और एक-ताल इत्यादि तालों का प्रयोग भी दिखाई पड़ता है। इस संबंध में उल्लेखनीय है कि इन तालों से मिलते-जुलते देशी तालों का उपयोग भी प्राचीन चर्चरी नृत्य गान में होता था। संगीतरत्नाकरोक्त चच्चरी प्रबंध में चच्चरीताल और क्रीड़ाताल का प्रयोग तो स्पष्ट रूप से वर्णित हैं ही, इनके अतिरिक्त अन्य तालों के प्रयोग का भी विधान बताया गया है तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर वर्तमान दादरा ताल की समता प्राचीन क्रीड़ाताल से, रूपक ताल की समता प्राचीन तृतीय या अंतर क्रीड़ा-ताल से और एकताल की समता प्रति या वर्णयति ताल से दिखाई पड़ती है, जैसे

	δ					
1. क्रीड़ाताल शास्त्रीय स्वरूप[28]	1	2	3	1	2	3
	1			2		
वर्तमान तालांकन	1	2	3	4	5	6
	×			2		
दादरा ताल	1	2	3	4	5	6
	×			0		

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

2. तृतीय व अंतरक्रीड़ा ताल शास्त्रीय स्वरूप[29]	o		|	o		|	δ		
	1	2	|	1	2	|	1	2	3
	1		|	2		|	3		

या

वर्तमान-तालांकन	1	2	|	3	4	|	5	6	7
	1		|	2		|	3		
हिंदुस्तानी रूपकताल	1	2	|	1	2	|	1	2	3
	2		|	3		|	⊗		

या

1	2	3	|	1	2	|	1	2
⊗			|	2		|	3	

या

1	2	3	|	4	5	|	6	7
⊗			|	2		|	3	

3. प्रति या वर्णयति ताल[30] शास्त्रीय स्वरूप	ı				|	ı				|	o		|	o	
	1	2	3	4	|	1	2	3	4	|	1	2	|	1	2
	1				|	2				|	3		|	4	

या

वर्तमान तालांकन	1	2	3	4	|	5	6	7	8	|	9	10	|	11	12
	×				|	2				|	3		|	4	
हिंदुस्तानी एकताल	1	2	:3	4	|	5	6 :	7	8	|	9	10	|	11	12
	×		:0		|	2	:	0		|	3		|	4	

जिस प्रकार ठुमरी का उद्भव व विकास प्राचीन रास, नाट्यरासक और चर्चरी नृत्यगान की परंपरा से संबद्ध है, उसी प्रकार तालों के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि ठुमरी और ठुमरी-शैली के गीतों में व्यवहृत तालों का संबंध भी प्राचीन रास, नाट्यरासक व चर्चरी नृत्यगान में व्यवहृत तालों से है। जिस तरह प्राचीन रास, नाट्यरासक, एवं चर्चरी आदि विधाओं की संगति के लिए तत्कालीन लोकप्रिय और प्रचलित अवनद्ध तालवाद्यों का उपयोग किया जाता था, उसी तरह आज के युग में ठुमरी गान के साथ वर्तमान लोकप्रिय अवनद्ध तालवाद्य तबला का उपयोग किया जाता है, जो कि ठुमरी गान के साथ-साथ कथक नृत्य की ताल-संगति के लिए भी परंपरागतरूप में बहुत समय से व्यवहृत होता चला आया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संदर्भ-संकेत

1. "क्रियानन्तरविश्रान्तिर्लयः स त्रिविधो मतः ।
द्रुतो मध्यो विलम्बश्च द्रुतः शीघ्रतमो मतः ॥4॥
द्विगुणद्विगुणौ ज्ञेयौ तस्मान्मध्यविलम्बितौ ।"
(पं० शाङ्गंदेव, "संगीतरत्नाकर", पञ्चमस्तालाध्यायः, श्लोक सं० 44,45)
2. "गीतादेः मितिर्मानं विदधत् कुर्वन कालः ताल इत्युच्यते ।"
(सिंहभूपाल, "सुधाकर", "संगीत रत्नाकर", श्लोक 3)
3. "तालस्तलप्रतिष्ठायामिति धातोर्घञ्स्मृतः ।
गीतं वाद्यं तथा नृत्तं यतस्ताले प्रतिष्ठितम् ॥2॥
4. "चतुरश्रस्तथा त्र्यश्र इति तालो द्विधा मतः ॥17॥
चच्चत्पुटश्चाचपुट इति नाम्नी तयोः क्रमात् ।
(शाङ्गंदेव, "संगीत रत्नाकर", पञ्चमस्तालाध्यायः).
5. "एक मात्रो लघुः; मात्राद्वयं गुरुः; मात्रात्रयं प्लुतः, मात्रार्धं द्रुत इति । अनुद्रुतादयोऽपि भेदाः कैश्चिदुक्ताः ।" (सिंपभूपाल, "सुधाकर", सं० र०, पञ्चमस्तालाध्यायः 16)
6. "पञ्चलघ्वक्षरोच्चारमिता मात्रेह कथ्यते ॥16॥"
(शाङ्गंदेव, "संगीतरत्नाकर", पञ्चमस्तालाध्यायः 16)
7. "पञ्चानां लघ्वक्षराणाम्; "कचटतपाः" इत्येषाम् । उच्चारशब्देन उच्चारकालो गृह्यते ।"
(कल्लिनाथ, "कलानिधि", सं० र०, पञ्चमस्तालाध्यायः 16)
8. वही पुस्तक, श्लोकांक 237 की व्याख्या.
9. भातखंडे, पं० विष्णु नारायण, "क्रमिक पुस्तक मालिका" (चौथें पुस्तक), शास्त्रीय माहिती, पृ० 48.
10. वही पुस्तक, पृ० 48 व 49 के अनुसार.
11. "चतुरश्रस्तथा त्र्यश्र इति तालो द्विधा मतः ॥17॥"
(शाङ्गंदेव, "संगीतरत्नाकरः", पञ्चमस्तालाध्यायः).
12. "लघ्वादितालो"
। इत्यादितालः (।)
(शाङ्गंदेव, "संगीतरत्नाकर", पङ्चमस्तालाध्यायः).
13. एकताल...। (एक लघु)
(भातखंडे, पं० बि० ना०; "क्रमिक पुस्तक मालिका" (चौथें पुस्तक), पृ० 49.
14. शाङ्गंदेव; "संगीत रत्नाकर", पञ्चमस्तालाध्याय, श्लोकांक 239 से 253 पर्यंत.
15. "लघ्वादितालो लोकेऽसौ रासः" (वही पुस्तक, श्लोक सं० 261).
16. "द्रुतेनत्वेकतालिका ॥290॥" 0 इत्येकताली (67).
"लघ्वादितालो" । इत्यादितालः (1)
(वही पुस्तक, श्लोक सं० 290 व 261).
17. "लक्ष्ये त्विदानीमेतादृगेकतालो न रक्तिदः ।
इत्येकतालस्थानेऽस्मिन्नादितालो निवेशितः ।
आदिताले त्वेकलघुश्चतुरक्षरसंमितः ।" (त्र्यंकटमखी)
(बक्षलवार, विद्याधर व्यंकटेश, "चतुर्दण्डीप्रकाशिका सटीक विवेचन", पृ० 39.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

18. वही पुस्तक, पृ० 40.

19. "क्रीड़ा द्रुतौ विरामान्तौ चण्डनिः सारुकश्च सः ॥281॥"
ઠ ઠ इति क्रीड़ाताल, चण्डनिःसारुकश्च (45).
शाङ्गंदेव, "संगीतरत्नाकर", पंचमस्तालाध्यायः).

20. विस्तार के लिए अध्याय 3 में ताल-संबंधी विवेचन देखिए।

21. "विरामान्तद्रुतद्वन्द्वान्यष्टौ लघु च चच्चरी।"
o ઠ o ઠ o ઠ o ઠ o ઠ o ઠ o ઠ o ઠ। इति चच्चरी (15)
(पं० शाङ्गंदेव : संगीतरत्नाकर, पञ्चमस्तालाध्याय, श्लोक संख्या 266)

22. पं० सुदर्शनाचार्य, "संगील सुदर्शन", पृ० 160.

23. वही पुस्तक', भूमिका.

24. वही पुस्तक, भूमिका.

25. ब्रज के सुप्रसिद्ध रासधारी स्व० लाड़िली शरण जी द्वारा ज्ञात तथ्य.

26. "षोडश द्रुत सब अंत लौं, एक एक जब होय।
'तानसेन' चर्चरी कहैं, जानौ बुद्धि विलोय ॥230॥"
(मीतल, प्रभुदयाल, "संगीत सम्राट तानसेन" (जीवनी और रचनाएँ),
("संगीतसार", पृ० 163).

27. वही पुस्तक, पृ० 163.

28. "क्रीडा द्रुतौ विरामान्तौ चण्डनिःसारुकश्च सः ॥281॥"
शाङ्गंदेव, "संगीतरत्नाकर" पचमस्तालाध्यायः).

29. (अ) "द्रुताद् द्रुतौ विरामान्तौ तृतीयः स्यात्" o o ઠ इति तृतीयः (3).
(आ) "द्रुतत्रयं विरामान्तं" o o ઠ इत्यन्तरक्रीडा (95).
(वही पुस्तक, श्लोक सं० 261 व 301).

30. (अ) "लौ द्रुतौ प्रतितालः स्यात्" ।।०० इति प्रतितालः (50).
(आ) "लौ दौ वर्णयतिर्भवेत् ॥302॥" ।।०० इति वर्णयतिः (100).
(वही पुस्तक, श्लोक संख्या 283 व 302).

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

8

ठुमरी की रचना व शैली

गीत का चौथा और अंतिम अंग 'मार्ग' है। साधारणतः मार्ग का अर्थ है 'रास्ता'। जिस प्रकार किसी नियत मार्ग से निश्चित स्थान पर पहुंचने का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है, उसी प्रकार निर्धारित साधन व विधि से गीत विशेष की सिद्धि हो सकती है। अतः गीत के संदर्भ में मार्ग का अर्थ 'साधन' या 'विधि' होता है।

गान प्रस्तुतीकरण के दो प्रमुख भाग हैं। गेयरचना अर्थात् गीत की बंदिश और उसकी गानशैली या गायकी। गेयरचना स्वरपदतालबद्ध 'बंदिश' के रूप में होती है और गीत के राग या बंदिश के आधार पर गायक-गायिका द्वारा विशिष्ट विधि और स्वकल्पनानुसार प्रत्युपन्नमति से किया जाने वाला स्वर, पद व ताल का विस्तार 'गानशैली' या 'गायकी' कहलाता है। इसीलिए गीतरचना और गानशैली के आधार पर भारतीय संगीत में गान के 'निबद्ध' और 'अनिबद्ध' दो भेद माने गए हैं :

"देशीरागादिषु प्रोक्तं तग्दानं जनरञ्जनम् ॥ 3 ॥"
"निबद्धमनिबद्धं तद् द्वेधा निगदितं बुधैः ॥ 4 ॥"
(संगीतरत्नाकर, चतुर्थ प्रबंधाध्याय)

निबद्ध और अनिबद्ध गान का स्पष्टीकरण इस प्रकार है :

"बद्धं धातुभिरंगैश्च निबद्धमभिधीयते ।
आलप्तिर्बन्धहीनत्वादनिबद्धमितीरिता ॥ 5 ॥"
(संगीतरत्नाकर, चतुर्थ प्रबंधाध्याय)

"आलप्तिस्तु तालाद्युपनिबन्धहीनत्वादनिबद्धमित्युच्यते ।"
(सिंहभूपाल, सुधाकर, सं० र०, चतुर्थ प्रबंधाध्याय, 5)

"संज्ञात्रयं निबद्धस्य प्रबन्धो वस्तु रूपकम् ॥ 6 ॥"
(संगीतरत्नाकर, चतुर्थ प्रबंधाध्याय)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"रागालपनमालप्तिः प्रकटीकरणं मतम् ।। 189 ।।
सा द्विधा गदिता रागरूपकाभ्यां विशेषणात् ।
रागालप्तिस्तु सा या स्यादनपेक्ष्यैव रूपकम् ।। 190 ।।"
"रूपकस्थेन रागेण तालेन च विधीयते ।
या प्रोक्ता रूपकालप्तिः............।। 197 ।।"

(संगीतरत्नाकर, तृतीय प्रकीर्णकाध्याय)

सारांश में इन श्लोकों के अनुसार धातुओं और अंगों से सुगठित गान को 'निबद्ध' और तालादि के उपबंध से हीन अलाप्ति (आलाप) को 'अनिबद्ध' कहा गया है। प्रचीन भारतीय संगीत में प्रबंध, वस्तु और रूपक को निबद्धगान के अलग-अलग नामभेद मानते हुए आलप्ति के रागालप्ति (रागविस्तार) व रूपकालप्ति (गीतविस्तार) भेदों को अनिबद्धगान के अंतर्गत माना गया है।

इन लक्षणों के अनुसार व्यापक दृष्टि से परंपरागत भारतीय संगीत में सामान्यतः पूर्वरचित तालयुक्त गान को 'निबद्ध' और प्रत्युत्पन्नमति से तत्काल गाए जाने वाले तालमुक्त गान को 'अनिबद्ध' समझा जाता रहा है। अतः निबद्ध और अनिबद्ध की दृष्टि से ठुमरी गान की गीतरचना व उसकी गानशैली के विकास का अनुशीलन सार्थक होगा।

ठुमरी की गीतरचना

संगीत की किसी भी विधा में निबद्धगान के रूप में गाई जाने वाली गीत-रचनाएँ उस विधा के संपूर्ण स्वरूप की श्रेष्ठ प्रतिनिधि होती हैं। प्राचीन भारतीय संगीत में निबद्ध गीतों की संरचना के चार धातु और छह अंग बताए गए हैं। प्रबंधादि निबद्ध गीतों के मुख्य चार धातु इस प्रकार थे :

"प्रबंधावयवो धातुः स चतुर्धा निरूपितः ।
उद्ग्राहः प्रथमस्तत्र ततो मेलापकध्रुवौ ।। 6 ।।
आभोगश्चेति तेषां च क्रमाल्लक्ष्माभिदध्महे ।"

(संगीतरत्नाकर, चतुर्थ प्रबंधाध्याय)

अर्थात् प्रबंधादि गीतों के विभिन्न खंडों को धातु कहा जाता था, जिनके नाम क्रमशः उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव व आभोग थे। इन चारों धातुओं के लक्षण निम्नलिखित हैं :

"उद्गृह्यते प्रारभ्यते येन गीतं स उद्ग्राह इति........"
"तावुद्ग्राहव्यतिरिक्तेतरापेक्षया सकलप्रबंधेष्वनपायात् ।"

(कल्लिनाथ, कलानिधि, सं० र०, चतुर्थ प्रबंधाध्याय, 8)

"प्रोक्तो मेलापकस्तज्ज्ञैरुद्गाहध्रुवमेलनात् ।
प्रबंधेषु ध्रुवत्वेन ध्रुव इत्यभिधीयते ।। 5 ।।"

(पार्श्वदेव, संगीतसमयसार, पंचम अध्याय)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"ध्रुवस्य न क्वचिदपि परित्याग इत्यर्थः।"

"अन्तिमो धातुः प्रबन्धस्य परिपूर्णताहेतुत्वादाभोग इति कारणे कार्योपचार उक्तः।

"आभोगः परिपूर्णता" इत्यभिधानादाभोगशब्दस्य परिपूर्णतावाचकत्वम्।"

(कल्लिनाथ, कलानिधि, सं० र०, चतुर्थ प्रबंधाध्याय, 9)

"तत्र मेलपकाभोगौ न भवेतां क्वचित्क्वचित् ॥ 11 ॥"

(संगीतरत्नाकर, चतुर्थ प्रबंधाध्याय)

अर्थात् इन लक्षणों के अनुसार 'उद्ग्राह' से गीत आरंभ होता था। अतः गीत में उसका होना अनिवार्य था। प्रथम धातु के उद्ग्राह और तृतीय धातु ध्रुव का मेल कराने वाला होने के कारण द्वितीय धातु को 'मेलापक' कहा गया। तीसरा धातु 'ध्रुव' गीत का सबसे महत्वपूर्ण भाग था। गीत में उसकी स्थिति अक्षुण्ण रहने के कारण ही उसका नाम 'ध्रुव' पड़ा और गीत में उसका परित्याग कभी नहीं होता था। 'आभोग' परिपूर्णतावाचक शब्द है। अतः गीत की परिपूर्णता करने के कारण ही अंतिम धातु का नाम 'आभोग' पड़ा। इन चारों चातुओं में से केवल 'मेलापक' और और 'आभोग' ये दो धातु ही परित्यक्त हो सकते थे।

प्रबंधों के द्विधातु, त्रिधातु और चतुर्धातु ये तीन भेद थे। इनके लक्षण इस प्रकार हैं:

"स द्विधातुस्त्रिधातुश्च चतुर्धातुरिति त्रिधा।"

(संगीतरत्नाकर, चतुर्थ प्रबंधाध्याय, श्लोक सं० 12)

"वर्ज्यौ मेलापकाभोगौ प्रबंधेषु द्विधातुषु ॥ 7 ॥

त्रिधातुकप्रबंधेषु तयोरेकं विवर्जयेत्।

(पार्श्वदेव, संगीतसमयसार, पंचम अध्याय, श्लोक सं० 7 व 8)

अर्थात् वह (प्रबंध) द्विधातु, त्रिधातु और चतुर्धातु तीन प्रकार के होते हैं। द्विधातु प्रबंध में मेलापक और आभोग तथा त्रिधातु प्रबंध में इनमें से एक वर्जित हो जाता है।

इस प्रकार द्विधातु प्रबंधों में उद्गाह व ध्रुव; त्रिधातु प्रबंधों में उद्ग्राह, मेलापक व ध्रुव अथवा उद्गाह, ध्रुव और आभोग तथा चतुर्धातु प्रबंधो में उद्ग्राह मेलापक, ध्रुव और आभोग इन चारों धातुओं का प्रयोग किया जाता था। इन चार धातुओं के अतिरिक्त 'अंतरा' नामक एक अन्य धातु के संबंध में ऐसा उल्लेख है

"ध्रुवाभोगान्तरे जातो धातुरन्योऽन्तराभिधः ॥ 9 ॥

स तु सालगसूडस्थरूपकेष्वेव दृश्यते।"

(संगीतरत्नाकर, चतुर्थ प्रबंधाध्याय, श्लोकांक 9 व 10)

अर्थात् सालगसूड प्रबंध में ध्रुव और आभोग के बीच अंतरा नामक एक अन्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धातु भी होता था। अंतरा का प्रयोग विशेषकर त्रिधातु सालगसूड प्रबंधों में दिखाई पड़ता है।[1]

प्रबंध के स्वर, विरुद, पद, तेनक, पाट और ताल ये छह अंग बताए गए हैं, इनके लक्षण इस प्रकार हैं

"स्वराः षड्जादयस्तेषां वाचकाः सरिगादयः ।। 15 ।।
स्वराभिव्यक्तिसंयुक्ताः स्वरशब्देन कीर्तिताः ।
बिरुदं गुणनाम स्यात्ततोऽन्यद्वाचकं पदम् ।। 16 ।।
तेनेतिशब्दस्तेनः स्यान्मङ्गलार्थप्रकाशकः ।"
"लक्षितस्तेन तेनेति पाटो वाद्याक्षरोत्करः ।। 18 ।।"
(संगीतरत्नाकर, चतुर्थ प्रबंधाध्याय)

"गीतादेः मितिर्मानं विदधत् कुर्वन् कालः ताल इत्युच्यते।"
(सिंहभूपाल, सुधाकर, सं० र० पंचमस्तालाध्यायः 3)

अर्थात् षड्जादि स्वरों के स रि ग म प ध नि इन संक्षिप्त नामों को 'स्वर' प्रशंसात्मक या गुणवर्णनात्मक शब्दों को 'विरुद,' उससे भिन्न अन्य शब्दों को 'पद', मंगलार्थक शब्दों को 'तेनक', वाद्यों के विविधिध्वन्यानुकारात्मक अक्षरों या बोलों को 'पाट' तथा काल परिमाण को 'ताल' कहा गया है।

इन सभी अंगों के विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि स्वर और ताल को छोड़कर शेष विरुद, पद, तेनक व पाट ये चारों अंग सार्थक या निरर्थक शब्दों के ही भेद मात्र हैं। अतएव इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वर, शब्द और ताल संगीत की निबद्ध रचनाओं के मूल तत्व हैं और उसमें भी शब्द रचना को संगीत का स्वरूप प्रदान करने में स्वर व ताल का संयोग ही प्रधान कारण होता है। भरत द्वारा वर्णित गांधर्व लक्षण से भी यही बात सिद्ध होती है

"गान्धर्वं यन्मया प्रोक्तं स्वरतालपदात्मकम् ।
पदं तस्य भवेद् वस्तु स्वरतालानुभावकम् ।। 27 ।।[2]

दत्तिल का भी कथन है

"पदस्थः स्वरसंघातस्तालेन सुमितस्तथा ।
प्रयुक्तश्चावधानेन गान्धर्वमभिधीयते ।।[3]

अतः संगीत की किसी भी निबद्ध रचना के लिए स्वर व ताल का होना नितांत आवश्यक है। इसीलिए संगीत में निबद्ध रचनाओं का गठन स्वरताल की संरचना के आधार पर होता है।

स्वर व ताल के साथ-साथ विरुद, पद, तेनक या पाट के रूप में शब्द संयोजना भी निबद्ध रचनाओं का एक आवश्यक अंग है। इस दृष्टि से ठुमरी गीतों की शब्द संयोजना 'पद' की श्रेणी में आती है। ठुमरी के स्वर, पद व ताल के विकास

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पर पहले ही विचार किया जा चुका है। अतएव यहाँ केवल संरचना और गठन की दृष्टि से ठुमरी रचनाओं का पर्यवेक्षण उचित है।

वर्तमान उत्तरभारतीय संगीत में निबद्ध रचनाओं के लिए उर्दू भाषा का 'बंदिश' शब्द प्रचलित है, जो कि 'निबद्ध' का शब्दशः अनुवाद है। संगीत रचना की दृष्टि से प्रत्येक 'बंदिश' में क्रमशः 'स्थायी' और अंतरा' नामक दो खंड अवश्य होते हैं। कुछ बंदिशों में इनके अतिरिक्त 'संचारी' और 'आभोग' नामक दो खंड और भी होते हैं। जिस प्रकार प्राचीन निबद्ध-गान में प्रबंधादि गीतों के खंडों या अवयवों को 'धातु' कहा जाता था, उसी प्रकार वर्तमान उत्तर भारतीय संगीत में बंदिशों के खंडों या अवयवों को साधारण भाषा में प्रायः 'तुक' कहने का प्रचलन है।

उत्तर भारतीय संगीत में बंदिशें दो प्रकार की होती हैं: स्थायी, अंतरा, संचारी, आभोग वाली 'चौतुकी'; या फिर स्थायी व अंतरा वाली 'दोतुकी'। ध्रुवपद की बंदिशें प्रायः चौतुकी होती हैं परंतु कभी-कभी दोतुकों वाले ध्रुवपद भी मिलते हैं। ध्रुवपद की शैली में गाए जाने वाले धमार और दादरा नामक गीतों में चौतुकी और दोतुकी दोनों प्रकार की बंदिशें पाई जाती हैं। दोतुकी बंदिशों में कभी-कभी दो अंतरे भी मिलते हैं।

ख्याल, तराना, टप्पा, ठुमरी, दादरा, भजन, ग़ज़ल तथा सभी लोकगीतों की बंदिशों में साधरणतया स्थायी व अंतरा यही दो तुक या भाग होते हैं। इन सभी गीतों में स्थायी का भाग एक ही होता है। ख्याल, तराना, टप्पा, ठुमरी व दादरा गीतों में प्रायः अंतरा भी एक ही होता है। परंतु कभी-कभीं इन गीतभेदों की कुछ बंदिशों में एक से अधिक (प्रायः दो) अंतरों का व्यवहार भी दिखाई पड़ता है। भजन, ग़ज़ल व लोकगीतों में एक से अधिक और साधरणतः दो से चार तक अंतरे होते हैं।

तुलनात्मक दृष्टि से प्राचीन निबद्ध गान के कई धातुओं और वर्तमान उत्तर भारतीय संगीत की बंदिशों के तुकों में परस्पर अनेक समानताएँ मिलती हैं, जैसे प्राचीन प्रबंधों के अनुसार 'उद्ग्राह' और वर्तमान गीतों के 'मुखड़ा'; प्राचीन प्रबंधों के 'ध्रुव' धातु और वर्तमान गीतों के 'स्थायी' भाग; प्राचीन सालगसूड प्रबंधों और वर्तमान गीतों के 'अंतरा'; प्राचीन प्रबंधों के अंतिम धातु 'आभोग' और वर्तमान ध्रुवपदों के 'संचारी-आभोग' इत्यादि गीतखंडों में अर्थ, नाम तथा स्थिति संबंधी कई समानताएँ दिखाई पड़ती हैं।

वर्तमान गीतों के 'स्थायी' भाग के प्रथम अंश 'मुखड़ा' या 'टेक' की तुलना प्राचीन 'उद्ग्राह' धातु से की जा सकती है क्योंकि ये सभी गीत के आरंभिक भाग हैं। 'ध्रुव' शब्द का अर्थ ही स्थायी है। ध्रुव और स्थायी दोनों ही शब्दों के मूल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में आधार, दृढ़ता और अटलता का भाव विद्यमान है। इसी आधारभूत अटलता और स्थिति की दृढ़ता, अर्थात् ध्रुवत्व व स्थायित्व के कारण ही 'ध्रुव' धातु को प्राचीन निवद्धगान का और 'स्थायी' को वर्तमान गीतभेदों की बंदिशों का आधार-भूत एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश माना गया है। संभवतः इसीलिए वर्तमान युग के घरानेदार संगीतज्ञ 'अस्थाई' (स्थायी) शब्द का प्रयोग कभी-कभी गीत की पूरी बंदिश के अर्थ में भी करते हैं।

आज भी महाराष्ट्र की ओर गीत के 'स्थायी' भाग के लिए 'ध्रुव' शब्द का प्रयोग भी किया जाता है। महाराष्ट्रीय संगीतज्ञों द्वारा लिखित क्रियात्मक संगीत की पुस्तकों में 'स्थायी' के लिए प्रायः 'ध्रुव' शब्द का प्रयोग मिलता है।[4] अतः इससे भी, प्राचीन गीतों के 'ध्रुव' धातु एवं वर्तमान गीतों के 'स्थायी' भाग के पारस्परिक संवंध की पुष्टि होती है। पं० भावभट्ट ने अपने ध्रुवपद में उद्ग्राह, ध्रुव, अंतरा व आभोग इन चार धातुओं के होने का उल्लेख किया है।[5] इन धातुओं के संदर्भ में आज के चौतुके ध्रुवपदों के स्थायी, अंतरा, संचारी, आभोग धातुओं (गीतखंडों) को देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि कालांतर में 'उद्ग्राह' और 'ध्रुव' दोनों के संयुक्त स्वरूप से ही वर्तमान स्थायी गीतखंड का विकास हुआ होगा।

प्राचीन सालगसूड प्रबंधों में प्रयुक्त होने वाले 'अंतरा' धातु का व्यवहार 'ध्रुव' के बाद किया जाता था।[6] अर्थात् 'अंतरा' धातु की स्थिति 'ध्रुव' धातु से क्रमशः दूसरे स्थान पर थी। आज भी संगीत की बंदिशों में 'स्थायी के वाद दूसरा खंड 'अंतरा' होता है, जिसे 'स्थायी' को गाने या बजाने के बाद ही गाया या बजाया जाता है। अतएव नाम और स्थिति-साम्य के आधार पर प्राचीन निवद्धगान के 'अंतरा' धातु और वर्तमान गीतों के 'अंतरा' भाग में परस्पर संवंध दिखाई पड़ता है।

प्राचीन निवद्धगान के धातुओं में से 'आभोग' सबसे अंतिम और गीत की परिपूर्णता करने वाला भाग था। वर्तमान चौतुके ध्रुवपदादि गीतों में भी 'आभोग' सबसे अंतिम तुक है और गीत की परिसमाप्ति भी उसी से होती है। प्राचीन संगीत के जिन सालगसूड प्रबंधों में 'अंतरा' नामक धातु का व्यवहार किया जाता था, उनमें 'आभोग' की स्थिति 'अंतरा' के बाद होती थी। आज ध्रुवपद शैली के चौतुके गीतों में 'अंतरा' के बाद 'संचारी' और उसके बाद 'आभोग' का भाग प्रयोग किया जाता है। प्रत्यक्ष प्रयोग में 'अंतरा' के बाद 'स्थायी' का पुनः प्रयोग किया जा सकता है, परंतु 'संचारी' के बाद सदैव 'आभोग' का ही प्रयोग किया जाता है और प्रायः संगीतज्ञ 'संचारी' व 'आभोग' दोनों को एक ही गीतखंड के दो अंश मानते हैं। पुराने संगीतज्ञों में बहुत से लोग इन अंतिम दो तुकों को 'संचारी', 'आभोग' न कहकर 'आभोग' व 'भोग' कहते थे[7] और दोनों को 'आभोग' के ही दो अंश मानते थे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वर्तमान युग में प्रचलित ध्रुवपदों के कई लक्षण प्राचीन सालगसूड प्रबंधों के एक भेद ध्रुवप्रबंध के कई लक्षणों से मिलते-जुलते हैं। इस आधार पर अनेक विद्वान ध्रुवपद गान का उद्‌गम प्राचीन ध्रुवप्रबंध से मानते हैं। इन ध्रुवप्रबंधों के 'आभोग' धातु को दो खंडों में प्रयोग किए जाने का उल्लेख संगीतरत्नाकर में मिलता है।[8] दोनों खंडों में से दूसरा खंड अपेक्षाकृत ऊँचा होता था। आज भी गीतों में 'संचारी' का भाग मध्यस्थान में और 'आभोग' का भाग तारस्थान में गाया जाता है।

आगे चलकर सत्रहवीं शताब्दी में दक्षिण के संगीत ग्रंथकार पंडित व्यंकटमखी ने भी उस समय संगीतज्ञों के एक संप्रदाय द्वारा 'आभोग' धातु के दो भागों में प्रयोग किए जाने का उल्लेख किया है।[9] इससे भी प्राचीन 'आभोग' धातु के दो अंशों में विघटित होने की पुष्टि होती है और इन सब उल्लेखों के आधार पर परवर्ती और वर्तमान ध्रुवपद गान में 'आभोग' के, 'आभोग, भोग' या 'संचारी, आभोग' नामक दो तुकों के रूप में विकसित होने का अनुमान होता है। इस दृष्टि से प्राचीन निबद्ध-गान की भांति वर्तमान चौतुके ध्रुवपद इत्यादि गीतों में भी 'अंतरा' के बाद दो खंडों में 'आभोग' की स्थिति ही सिद्ध होती है।

इस प्रकार प्राचीन निबद्धगान की धातुओं और वर्तमान निबद्ध गीतों के तुकों या भागों के तुलनात्मक विवेचन से इस अनुमान की पुष्टि होती है कि वर्तमान स्थायी, अंतरा, संचारी और आभोग गीतखंडों का विकास क्रमशः प्राचीन उद्‌गाह, ध्रुव, अंतरा, तथा अभोगादि धातुओं की परंपरा से हुआ है।

प्राचीन भारतीय संगीत में शास्त्रीय दृष्टि से जो उच्च स्थान उस समय के प्रबंध गान को प्राप्त था, आगे चलकर उत्तर भारतीय संगीत में वही स्थान ध्रुवपद गान को मिला। मध्यकाल से लेकर आज तक ध्रुवपद गान सर्वोत्तम शास्त्रीय विधा के रूप में प्रतिष्ठित है। ध्रुवपद और उसकी शैली में गाए जाने वाले धमार व सादरा गीतों में ही विशेषकर स्थायी, अंतरा, संचारी, आभोग इन चारो तुकों या गीतखंडों का उपयोग होता रहा है। इनके अतिरिक्त अन्य सभी लोकप्रसिद्ध गानभेदों में केवल स्थायी व अंतरा युक्त गीतों का प्रयोग होता आया है।

कला के नियमबद्ध शास्त्रीय रूपों के प्रति कलाविज्ञ और मर्मज्ञ प्रबुद्ध जनों का ही विशेष आग्रह रहता है। जनसाधारण की अभिरुचि सदैव ही कला के सरल, स्वाभाविक व संक्षिप्त रूपों के प्रति रही है। फलतः मध्यकालीन संगीत की शास्त्रीय गानविधा ध्रुवपद और उसकी शैली में गाए जाने वाले धमार व सादरा गीतों के अतिरिक्त अन्य लोकप्रचलित गीतभेदों में यथासंभव कम, अर्थात् केवल स्थायी व अंतरा इन्हीं दो तुकों के प्रयोग का अधिक प्रचलन रहा। यही नहीं, स्वयं ध्रुवपद और उसकी शैली के धमार, सादरा इत्यादि गीतों में भी धीरे-धीरे संक्षिप्तीकरण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की इस प्रवृत्ति का ऐसा प्रभाव पड़ा कि चौतुकी बंदिशों के साथ-साथ, इनमें भी दोतुकी बंदिशों का प्रचलन चल पड़ा।

एक अन्य कारण यह भी हो सकता है कि गठन और स्वर-सीमा की दृष्टि से बंदिशों में स्थायी व संचारी का क्षेत्र साधारणतः मध्यस्थान तथा अंतरा व आभोग का क्षेत्र तार स्थान में होता है। इससे स्थायी व संचारी और अंतरा व आभोग की स्वररचना की रूपरेखा में मोटे तौर पर किंचित पुनरुक्ति सी दिखाई पड़ती है। इस पुनरुक्ति को दूर करने के लिए ही अन्य लोक प्रचलित गीतों में संचारी, आभोग के प्रयोग अनावश्यक समझे जाकर बाद में प्रचार से हट गए हों तो कोई आश्चर्य नहीं। इसके अतिरिक्त, बंदिश को गाते समय बीच-बीच में आलाप, तान व गीत के बोलों का विस्तार करते हुए गीत को अलंकृत करना ख्याल, तराना, टप्पा और बोलबनाव या बोलबाँट व कभी-कभी उसके साथ हावभाव भी करना, ठुमरी गान की प्रमुख विशेषताएँ रही हैं। इन गीतों में ये सब कृत्य इतने आवश्यक व महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं कि गीत प्रस्तुतीकरण में समय के संतुलन के लिए बंदिश की लघुता तो स्वीकार हो सकती है, परंतु आलाप, तान, बोलविस्तार, बोलबनाव, बोलबाँट आदि का परित्याग नहीं किया जा सकता। अतः गायकी में विस्तार को अधिक समय देने और बंदिश को छोटा रखने के लिए ख्याल, तराना, टप्पा, ठुमरी आदि गीतभेदों में संचारी व आभोग के प्रयोग अनावश्यक समझे जाने से उनका प्रचार से हटना भी बहुत संभव है। जो भी हो, आज ध्रुवपद गान के अतिरिक्त अन्य सभी गानभेदों में प्रायः स्थायी व अंतरा इन्हीं दो खंडों का प्रयोग दिखाई पड़ता है और इस प्रचलन के अनुसार ठुमरी-गीतों में भी केवल स्थायी व अंतरा इन्हीं दो खंडों या तुकों का प्रयोग होता है।

ठुमरी गीतों की बंदिशों में 'स्थायी' भाग के क्रमशः टेक और मध्य या मंझा ये दो मुख्य अंश होते हैं। गीत के प्रारंभ की प्रथम पंक्ति, जिसमें गीत का उठान अर्थात् 'मुखड़ा' भी शामिल रहता है, उसे 'टेक' कहते हैं। गायकी का विस्तार करते हुए ठुमरी में बार-बार 'मुखड़ा' और 'टेक' की पुनरावृत्ति की जाती है। टेक के आगे स्थायी का शेष भाग 'मध्य' या 'मंझा' होता है। 'स्थायी' भाग का विस्तार-क्षेत्र मोटे तौर पर प्रायः मंद्र सप्तक से लेकर मध्य सप्तक तक रहता है। ठुमरी की बंदिश के 'स्थायी' भाग की रचना में 'मुखड़ा', 'टेक' तथा मध्य (मंझा) आदि अंशों का स्पष्टीकरण निम्नलिखित उदाहरणों से होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

1. ठुमरी राग खमाज[10] (ताल पंजाबी-विलंबित)

स्थायी

मुखड़ा

टेक	ग	गम	मगसारे	ग, सा सा	ग	—	सा	सा सा	सारेगम	रेग	प	ध पध	ध ग	प	मग	सारेग
	रा	तपि	याऽऽऽ	ऽ,बिन	नीं	ऽ	द	द न	आऽऽऽ	ऽऽ	ऽ	ईऽ	रे	ऽ	ऽऽ	ऽऽऽ
	3				×				2				0			
मध्यभाग (मंझा)	प प	प प	प(प)	रे	रेग	रेगपधनिसां	निधपध		ध ग	प	म	ग	सारेग	(सा)	धसारेग	सारेग
	त र	फत	रफ	ऽ	सारी	रैऽऽऽऽऽ	नऽऽग		वाँ	ऽ	ई	ऽ	ऽऽऽ	रे	ऽऽऽऽ	ऽऽऽ
	3				×				2				0			

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

2. ठुमरी राग तिलक कामोद[11] (त्रिताल-मध्यलय)

स्थायी

मुखड़ा

टेक	[ग]रे	ग	रे	[रे]प	म	ग	[रे]नि̣	सा	[रे]नि̣	प̣	नि̣	सा	[ग]रे	ग	नि̣	सा
	नी	ऽ	र	म	र	न	कैं	से	जा	ऽ	उँ	स	खी	ऽ	अ	ब
	0				3				×				2			
मध्यभाग (मंझा)	[म]रे	म	प	ध	[प]म	प	[प]सां	सां	[ध]प	ध	(म)	म	गरे	ग	[रे]नि̣	सा
	ड	ग	र	च	ल	त	मो	से	क	र	त	रा	ऽऽ	र	मैं	ऽ
	0				3				×				2			

कभी-कभी ठुमरियों में स्थायी का मध्यभाग (मंझा) न होकर केवल 'टेक' ही होता है। इस प्रकार की स्थायी और भी संक्षिप्त होती है, जैसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ठुमरी भैरवी[12] (ताल पंजाबी-विलंबित)

स्थायी

				रे	म	ग									रे	सा
टेक	–	सा	सारे	पम	गम	रे	सारे	सानि	सा	–	–	,प	पप	ध,पम	ग	रेनि
	ऽ	ना	ऽऽ	हिंप	रऽ	त	ऽऽ	मैंका	चै	ऽ	ऽ	,न्सां	वरि	या,ऽऽ	ऽ	ऽऽ
	0				3				×				2			

कभी-कभी स्थायी का 'मुखड़ा' इतना लम्बा होता है कि वह पूरे 'टेक' को ही अपने में समेट लेता है, जैसे

1. ठुमरी राग पीलू[13] (ताल पंजाबी-विलंबित)

स्थायी

मुखड़ा

			म											
टेक	,नि	नि	प	नि	नि	सा	ग	(ग)	,सा	रेनि	सा	–	–	–
	,मो	री	अँ	खि	यों	ने	ऽ	ऽ	,बै	र कि	या	ऽ	ऽ	ऽ
			0				3				×			

	सा(सा)	–	निध	प
"	ऽऽ	ऽ	ऽमो	री
	2			

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

2. ठुमरी बृंदावनी सारंग[14] (त्रिताल-मध्यलय)

स्थायी

मुखड़ा

टेक		प		सां									म		प	
	—	सां	—	रें	सां	नि̱	प	म	रे	सा	नि̣	सा	रे	—	म	—
	ऽ	का	ऽ	न्ह	दे	खो	ठा	ढ़े	हैं	ब्र	ज	की	ओ	ऽ	ऽ	ऽ
	2				0				3				×			
	प															
	र															
	2															

ठुमरियों में स्थायी के बाद 'अंतरा' भाग गाया जाता है। अंतरे की पहली पंक्ति में भी प्रायः एक 'मुखड़ा' होता है, जिसे अंतरे का विस्तार करते हुए बार-बार गाया जाता है। अंतरे में 'मुखड़ा' न होने पर, अंतरे की पहली पंक्ति बार-बार गाई जाती है। अंतरे का प्रारंभ प्रायः मध्य सप्तक के मध्यभाग से करके, टिकाव या न्यास तार सप्तक के षड्ज स्वर पर किया जाता है, जोकि अंतरे का अत्यंत महत्त्वपूर्ण और केंद्रीय स्वर होता है। ठुमरी की बंदिश के 'अंतरा' भाग की रचना का उदाहरण इस प्रकार है :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

1. ठुमरी धानी[15] (त्रिताल-मध्यलय)

अंतरा

मुखड़ा

	प	प	प	ध	म	प	नी	नि	सां	–	सां	सां	रें	नि	सां	–
	तु	म	तो	म	ये	ऽ	कु	ब	जा	ऽ	के	सँ	गा	ऽ	ती	ऽ
	0				3				×				2			
	प	नि	सां	रें	[मं] (रें गं॒)	रें	सां	नि	(सां)	–	(नि॒ध)	प	ध॒	प ,	ग॒	म
	अ	ब	क	हा	(स ऽ)	न	द	ति	हा	ऽ	(रीऽ)	श्या	ऽ	म ,	मो	री
	0				3				×				2			
स्थाई का 'टेक'	प	[प] नि॒	प	म	ग॒	रे	नि॒	सा	ग॒	सा	ग॒	म	प	प ,	ग॒	म
	बै	याँ	न	छु	वो	ऽ	गि	र		ऽ	री	ा	ऽ	म ,	मो	री
	0				3				×				2			

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ठुमरी भैरवी[16] (ताल पंजाबी-विलंबित)

अंतरा

												प।		ग	
सा	सा	सा	सारे	ग	ग	म	–	ग	–	म	म	धधमम	गम	रे	सा
न	दि	या	ऽऽ	ग	ह	री	ऽ	ना	ऽ	व	पु	राऽऽऽ	ऽऽ	नी	ऽ
×				2				0				3			
						प	ध	नि				रे			
सा	सा	ध	-ध	प	प	ध	सां	ध,पम	(ग)	प	ध,पम	ग	रे	सा	रे नि
मौ	ला	ऽ	ऽल	गा	वे	वे	ड़ा	पा,ऽऽ	र	नै	या,ऽऽ	कै	से	ला	ऽ गे
×				2				0				3			
सा	–	–	सा,सा												
पा	ऽ	ऽ	र,वि	ना रे खिवैया नैया कैसे लागे पार											
×															

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जहाँ तक सांगीतिक रचना के सौष्ठव का सबंध है, बोलबनाव ठुमरी की रचनाओं में उतनी विविधता नहीं मिलती, जितनी कि बोलबाँट की ठुमरी-रचनाओं में मिलती है। गायकीप्रधान होने के कारण बोलबनाव ठुमरी के संगीत पक्ष की कलात्मकता विशेषरूप से उसके 'बोलों' के 'बनाव' से युक्त बोलबनावप्रधान गायकी में निहित रहती है। अत: संगीतरचना की दृष्टि से बोलबनाव ठुमरी की बंदिशें प्राय: आकार में छोटी व सरल होती हैं। अधिकतर विलंबित लय में गाए जाने के कारण इनमें, गायक या गायिका को बोलबनाव व इच्छानुसार परिवर्तन करने की बहुत सुविधा रहती है। इसलिए बोलबनाव ठुमरी बंदिशों की रूपरेखा स्पष्ट होते हुए भी, वे उतनी सुगठित व लयबद्ध नहीं होतीं, जितनी कि बोलबाँट ठुमरी की बंदिशें होती हैं।

गाने में बंदिश की महत्ता व प्रधानता तथा मध्य व द्रुत लय में विरचित होने के कारण बोलबाँट शैली की ठुमरी रचनाएँ कलात्मक रूप से बहुत ही सुगठित व लयबद्ध होती हैं। प्रधान लक्ष्य जनरंजन होने से, ठुमरी की बंदिशों में वैचित्र्य व माधुर्य संचित करना, ठुमरी रचनाकारों का प्रमुख उद्देश्य रहा है। अत: बोलबाँट ठुमरी की रचनाओं के सांगीतिक गठन के लिए उन्होंने ख्याल, तराना व सितार की गतों से भी प्रेरणा ली जिसके फलस्वरूप बोलबाँट ठुमरी की विभिन्न बंदिशों पर ख्याल, तराना आदि गानशैलियों और सितार की गतों का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। अतः इस प्रकार बोलबाँट ठुमरी की बंदिशों में विभिन्न गानविधाओं की विशेषताओं के दर्शन होते हैं। संभवत: इसी विविधता को लक्ष्य करके ही सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ स्वर्गीय राजाभैया पूछवाले ने ठुमरी की उपमा एक ऐसे गुलदस्ते से दी थी, जिसमें विभिन्न रंगों व सुगंधों से युक्त पुष्प सजे रहते हैं।[17] विभिन्न प्रकार की बोलबाँट ठुमरियों के कुछ अंश उदाहरण के रूप में यहाँ प्रस्तुत हैं :

1. ख्याल का प्रभाव

ठुमरी जयजयवंती[18] (त्रिताल, मध्यलय)

स्थायी

−	रे	रे	ग	रे	सा	रे	नि	सा	−	सा	सा	निसा	रेसा	नि	ध
ऽ	पै	याँ	प	रूँ	गी	प	ल	का	ऽ	न	च	ढूँऽ	ऽऽ	गी	ऽ
0				3				×				2			

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

2. तराने का प्रभाव

ठुमरी मिश्र सुघराई (त्रिताल, मध्यलय)

स्थायी

														सां	नि
														ओ	दे
														अ	ब
सां	सां	नि	प	म	ग	रेसा	रे	ग	–	म	–	प	प,	सां	नि
त	न	द्रे	त	न	दि	यऽ	न	रे	ऽ	दी	ऽ	ऽ	मृ,	ओ	दे
घ	र	जा	ने	दे	तू	मोऽ	है	कृ	ऽ	ष्ण	मु	रा	री,	अ	ब
0				3				×				2			

(उपरोक्त पुरानी ठुमरी एक प्रचलित तराने की बंदिश के आधार पर रचित है। स्पष्टीकरण के लिए प्रस्तुत अंश की स्वरलिपि में ठुमरी के बोलों के ऊपर मूल तराने के बोल लिख दिए गए हैं)।

3. सितार की गत का प्रभाव

ठुमरी काफी[19] (त्रिताल, मध्यलय)

स्थायी

														सा	नि
														ऐ	सी
सा	रे	रे	रे	ग	म	–	म	प	–	ध	प	ग	गरे,	सा	नि
चं	च	ल	च	ट	की	ऽ	ली	ना	ऽ	र	न	वे	लीऽ,	ऐ	सी
0				3				×				2			

(चाँद पिया कृत उपरोक्त ठुमरी से, काफ़ी की एक बहुप्रचलित मध्यलय की गत का सामंजस्य दिखाई पड़ता है)

कुछ ठुमरी रचनाओं में तो ध्रुवपद गान की भाँति दुगुन व आड़ इत्यादि लयकारियों का प्रयोग भी दृष्टिगत होता है, जैसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

1. दुगुन लयकारी का प्रयोग

ठुमरी खमाज[20] (त्रिताल, मध्यलय)

अंतरा

														म	ग
														ज	मु
प	नि	ध	नि	ध	नि	प	ध	नि	सां	नि	सां	—	सां ,	नि	सां
ना	ऽ	के	ती	ऽ	र	क	र	प	क	र	ची	ऽ	र ,	कै	से
0				3				×				2			
रें	रें	रें	सारें	गं	रें	सां	—	सारें	सारेंगरें	सां	नि	सां	—	—	सां
ध	रु	मैं	धीऽ	ऽ	र	वे	ऽ	पीऽ	ऽऽ:ऽ	र	अ	ही	ऽ	ऽ	र
0				3				×				2			
मम	मप	-प	निनि	नि-	सांसां	नि	सां	प-	निनि	निनि	सां-	धनि	पध ,	सांनि	रेंसां
धर	तची	ऽर	तोहे	लाऽ	जन	आ	ई	साऽ	सन	नंद	कीऽ	चीऽ	रीऽ ,	काऽ	हेऽ
0				3				×				2			
नि	ध	प	म	ग	म	प	ध	सां	नि	सां	—	धनि	पध ,	सांनि	रेंसां
क	र	त	श्या	ऽ		व	र	जो	री	रे	ऽ	काऽ	हेऽ ,	मोऽ	सेऽ
0				3				×				2			

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

2. झाड़ (डेढ़गुन) लयकारी का प्रयोग

ठुमरी भैरवी[21] (त्रिताल, मध्यलय)

स्थायी

सा	ध	प	ध	म	प	ग	म	प	नि	ध	पम	म	रेग	रे	सा
डा	रे	जा	डा	रे	जा	डा	रे	जा	ऽ	रं	गऽ	मो	ऽऽ	पे	ऽ
0				3				×				2			
—	सासा	सा	रे	ग	—	म	म	ग	रे	ग	म	म	म	रे	सा
ऽ	तोहे	दे	खूं	गीं	ऽ	कै	सो	न	ट	ख	ट	है	खि	ला	री
0				3				×				2			
ग- ग	-म-	ध- ध	-नि-	सां- सां	-सां	सां-सां	-सां-	रें- सां	-नि-	ध- प	-म-	ग -रे	-ग-	रे- सा	-सा-
नेऽक	ऽसोंऽ	रंऽग	ऽलिऽ	येऽम	ऽगऽ	रोऽक	ऽतऽ	कऽर	ऽतऽ	फिऽर	ऽतऽ	हैऽब	ऽरऽ	जोऽरी	ऽऽऽ
0				3				×				2			

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सादृश्य के आधार पर प्राय: लोग विभिन्न प्रकार की गीतविधाओं व रचनाओं को ठुमरी-शैली के गीतों की श्रेणी में रख देते हैं। उदाहरण के लिए जैसे म० शेख राहतअली के शिष्य स्वर्गीय नरहर शंभुराव भावे ने ठुमरी के अंतर्गत अष्टपदी, कजली, कव्वाली या भजन, कहरवा, गरबा (रास), चैती, दादरा, मांड, लावणी, लेद, सावन, होली इत्यादि का समावेश किया है।[22] परंतु प्रचलन के अनुसार प्रधानत: ठुमरी, होली व दादरा ही ठुमरी शैली के गीतों में वर्गीकृत किए जाते हैं। ठुमरी व होली की स्वर, ताल रचना एक-जैसी होती है। दोनों में केवल विषयवस्तु का ही अंतर होता है। होली का वर्ण्य-विषय केवल वसंत, फाग या होलीक्रीड़ा वर्णन तक ही सीमित होता है, जबकि ठुमरी का विषय इनके अतिरिक्त अन्य किसी भी ऋतु से संबद्ध होता है। इसी प्रकार कहरवा और दादरा तालों में गाई जाने वाली ठुमरी शैली की गीत-रचनाओं को 'दादरा' व अन्य तालों में निबद्ध उसी शैली की रचनाओं को ठुमरी कहा जाता है।

ठुमरी गानशैली का विकास

वर्तमान उत्तरभारतीय संगीत में मुख्यत: दो प्रकार के गीतभेद पाए जाते हैं। एक तो वे, जिनकी गानशैली में राग व उसके स्वरसन्निवेशों की अधिक प्रधानता रहती है, जैसे ख्याल, तराना, चतुरंग इत्यादि और दूसरे वे, जिनमें पदों अर्थात् शब्दों का अधिक प्राधान्य होता है, जैसे भजन, ग़ज़ल व विभिन्न लोकगीत इत्यादि। इस दृष्टि से पहले प्रकार के गीतभेदों व उनकी शैलियों को रागप्रधान या स्वरप्रधान और दूसरे प्रकार के गीतभेदों व उनकी शैलियों को पदप्रधान या शब्दप्रधान कहना उचित होगा।

प्राचीन भारतीय संगीत में स्थायी, आरोही, अवरोही व संचारी वर्णों से अलंकृत तथा पद व लय से युक्त गानक्रिया को गीति कहा गया है, जैसे

"वर्णाद्यलंकृता गानक्रिया पदलयान्विता ॥ 14 ॥
गीतिरित्युच्यते............................ ॥"

(संगीतरत्नाकर, प्रथम स्वरगताध्याय)

पद (शब्द) और स्वर की प्रधानता के आधार पर गीति के दो मुख्य भेद बताए गए हैं। जिन्हें क्रमश: पदाश्रित गीति और स्वराश्रित गीति कहा जाता था। पदाश्रित गीति के मागधी अर्धमागधी, सम्भाविता व पृथुला नामक चार भेद[23] और स्वराश्रित गीति के शुद्धा, भिन्ना, गौडी, वेसरा व साधारणी नामक पाँच भेद थे।[24] मतंग ने शुद्ध, भिन्नका, गौडिका, राग, साधारणी, भाषा व विभाषा नामक सात भेद बताए हैं।[25]

गीतियों के इस विवेचन से ज्ञात होता है कि प्राचीन संगीत में भी शब्दपक्ष और स्वरपक्ष की प्रधानता के आधार पर मुख्यत: दो प्रकार की गानक्रियाएँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रचलित थीं। यद्यपि इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वर्तमान शब्दप्रधान और स्वर-प्रधान गीतभेद व उनकी गानशैलियाँ क्रमशः प्राचीन पदाश्रित व स्वराश्रित गीतियों के मूलभूत सिद्धांतों पर ही पूर्णतया आधारित हैं। परंतु यह अवश्य कहा जा सकता है कि भारतीय संगीत में शब्द और स्वर की प्रधानता के आधार पर गान-शैलियों के दो प्रमुख भेद बहुत पुराने समय से चले आ रहे हैं और उनमें पाए जाने वाले तत्त्वों के कुछ अंश वर्तमान समय के विभिन्न गीतों की गान प्रक्रियाओं में भी कहीं-कहीं दिखाई पड़ते हैं।

प्राचीन मान्यता के अनुसार नृत्य को 'पदार्थाभिनयात्मक' माना गया है।[26] नृत्य में रस व भाव की व्यंजना का आधार गीत होने के कारण उसका 'पदार्थ' अर्थात् 'गीत के शब्दों का अर्थ' ही नृत्य में अभिव्यक्त किया जाता है। मूलतः नृत्य-गीत होने के कारण ठुमरी में भी 'पदार्थ' अर्थात् गीत बोलों के अर्थ की अभिव्यक्ति बहुत महत्वपूर्ण रही है। अतः ठुमरी गानशैली के विकास में बोलों की भावाभिव्यंजना मूल एवं प्रधान रूप में प्रारंभ से ही विद्यमान रही है।

ठुमरी गान में गीत के बोलों के साथ-साथ यद्यपि स्वरसन्निवेशों के प्रयोग का भी बहुत महत्त्व है, परंतु ठुमरी गाते समय स्वरसन्निवेशों का प्रमुख कार्य गीत के बोलों अर्थात् शब्दों का भावाभिव्यंजन सहित अलंकरण करना ही होता है और इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए कैशिकी वृत्ति के आश्रय से विविध स्वरसमूहों द्वारा 'ध्वनाव' या 'बाँट' के रूप में बोलों का भावाभिव्यंजन व शृंगार किया जाता है। इस प्रकार ठुमरी की गानक्रिया में स्वरसन्निवेश, गीत के शब्दों का अनुसरण करते हुए, बोलों की भावाभिव्यक्ति में सहायक की भूमिका अभिनीत करते हैं। अतः ठुमरी की गानशैली में स्वरसन्निवेशों की योजना मुख्यतः बोलों की भावाभिव्यक्ति के लिए ही होने के कारण, उसमें आवश्यकतानुसार रागनियमों के प्रति शिथिलता या उदारता का व्यवहार भी कर लिया जाता है। इसके विपरीत ख्याल इत्यादि स्वर-प्रधान गीतभेदों में इसका उलटा होता है अर्थात् उनमें शब्द, काव्य व व्याकरण नियमों के प्रति शिथिलता व उदारता बरतते हुए राग के विशिष्ट स्वरसन्निवेशों के प्रयोग में विशेष ध्यान देकर, रागों के सर्वमान्य नियमों का पालन सावधानी व सतर्कतापूर्वक किया जाता है। इस प्रकार ठुमरी के अंतर्गत रागों के प्रचलित नियमों व उनके विशिष्ट स्वरसन्निवेशों की तुलना में गीत के बोलों का ही महत्त्व व प्राधान्य रहता है। अतएव ठुमरी को शब्दप्रधान गीतों की श्रेणी में रखना ही अधिक युक्तिसंगत है।

भारतीय संगीत में गीतों को गाते समय बीच-बीच में आकार, बोलों और विविध स्वरसन्निवेशों के प्रयोग द्वारा गीत को अलंकृत करते हुए, उसकी किसी विशेष पंक्ति को बार-बार दुहराने की प्रथा है। उत्तर भारत में गीत के अलंकरण और कलाभिव्यक्ति के लिए जिस पंक्ति का आश्रय लेकर यह कृत्य किया जाता है, उसे साधारण भाषा में 'टेक' कहते हैं जो कि किसी सीमा तक 'स्थायी' शब्द का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पर्याय भी है। 'टेक' शब्द टिकाव से संबद्ध है जिसके मूल में आश्रय और विश्राम का अर्थ निहित है। टेक का प्रारंभिक अंश गीत का 'मुखड़ा' कहलाता है।

वर्तमान उत्तरभारतीय गीतविधाओं में निबद्धगान के अंतर्गत आकार, बोलों और स्वरसन्निवेशों द्वारा संगीत की कलात्मक अभिव्यक्ति और गीतालंकरण करते समय प्रायः गीत के प्रारंभिक अंश व प्रथम पंक्ति को प्रमुखता देकर उसे क्रमशः 'मुखड़ा' और 'टेक' के रूप में प्रयोग करने की प्रथा है। यद्यपि, कभी-कभी अपवाद स्वरूप, कुछ गीतों में किसी अन्य पंक्ति को भी 'टेक' के रूप में व्यवहार करने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है, परंतु बहुधा गीत की प्रारंभिक पंक्ति ही 'टेक' के रूप में व्यवहार की जाती है और यह प्रक्रिया प्रायः सभी प्रचलित उत्तरभारतीय गीत-विधाओं में दिखाई पड़ती है। इनमें से ध्रुवपद, ख्याल, तराना, टप्पा, ठुमरी, लोकगीत, भजन, गज़ल इत्यादि विभिन्न प्रकार के गीतभेदों में, गानशैलियों की विभिन्नता के कारण, यद्यपि प्रत्येक की कलाभिव्यंजना और गीतलंकरण की विधि में अंतर रहता है, फिर भी 'मुखड़ा' और 'टेक' को बार-बार प्रयोग करने की प्रथा इन सभी में समान रूप से विद्यमान है। प्राचीन भारतीय संगीत में भी 'रूपकालप्ति' के अंतर्गत इस प्रकार की व्यवस्था का उल्लेख मिलता है।

प्राचीन भारतीय संगीत में आलाप के एक विशेष भेद को आलप्ति कहा जाता था, जो कि वर्णालंकार से संपन्न, गमक व स्थाय के प्रयोगों द्वारा विचित्रता-युक्त तथा अनेक विविधताओं से परिपूर्ण व मनोहर था। आलप्ति में राग का आलपन तिरोभाव व अविर्भाव के कौशल सहित किया जाता था।[27] अर्थात् राग के स्वरूप को छिपा कर पुनः उसे कुशलतापूर्वक अनावृत करते हुए रागप्रकटी-करण की कलात्मक अभिव्ययंजना की जाती थी। इस आलप्ति के 'रागालप्ति' और रूपकालप्ति नामक दो भेद थे।[28]

'रागालप्ति,' जो कि रूपक से अनपेक्षित अर्थात् प्रबंधादि निबद्धगान पर आश्रित न होकर अनिबद्ध था, उसके चार स्वस्थान थे। जिस स्वर पर राग की स्थापना होती थी उसे स्थायी, उससे ऊँचे चौथे स्वर को द्वयर्ध और आठवें स्वर को द्विगुण कहा जाता था। द्वयर्ध और द्विगुण के बीच के स्वरों को अर्धस्थित कहा जाता था। प्रथम स्वस्थान में द्वयर्ध से नीचे अर्थात् स्थायी स्वर से तीन स्वरों की ऊँचाई तक, उसके बाद द्वितीय स्वस्थान में द्वयर्ध स्वर तक, फिर तृतीय स्वस्थान में अर्धस्थित स्वरों तक और अंतिम चतुर्थ स्वस्थान में द्विगुण या उससे ऊँचे स्वरों तक राग का आलपन करते हुए स्थायी स्वर पर न्यास किया जाता था।[29]

रूपक के अंतर्गत अर्थात् प्रबंधादि निबद्धगान में स्थित राग व ताल के अनुसार किए जाने वाले आलपन को 'रूपकालप्ति' कहा जाता था, रूपकालप्ति के 'प्रतिग्रहणिका' और 'भंजनी' नामक दो भेद थे।[30]

रागालप्ति में बताए गए स्वस्थानों के अनुसार विभिन्न स्थायों के प्रयोग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सहित आलपन करते हुए रूपक (प्रबंध) के अवयव (धातु) के किसी अंश का प्रतिग्रहण व उद्ग्राह करना प्रतिग्रहणिका कहलाता था; अर्थात् निबद्धगान में रागालप्ति के नियमानुसार विभिन्न स्वरसंदर्भों सहित बीच-बीच में प्रबंध के किसी धातु के किसी अंश को लेकर उसे बार-बार गाने को प्रतिग्रहणिका कहते थे।[31]

किसी वस्तु को भंजन करने अर्थात् तोड़ने, नष्ट करने या उसके स्वरूप में परिवर्तन करने की प्रक्रिया को भंजन कहते हैं। प्राचीन भारतीय संगीत में रूपक (प्रबंध) की रचना के मूलस्वरूप में परिवर्तन करना भंजनी कहलाता था। भंजनी की क्रिया में गायक अपनी सूझ-बूझ व प्रत्युत्पन्न सृजनात्मक प्रतिभासे प्रबंध की मूल रचना (बंदिश) में परिवर्तन करके उसके मूलस्वरूप का भंजन करता था। 'भंजनी' के 'स्थायभंजनी' और 'रूपकभंजनी' नामक दो भेद थे।[32] रूपक के स्थाय अर्थात् प्रबंध के अवयव (धातु) को अपनी सृजनात्मक प्रतिभा व कल्पना से सजाते तथा वैचित्र्यपूर्ण बनाते हुए, नाना प्रकार की कलात्मक भंगिमाओं द्वारा अभिव्यंजित करके, उसे मूल रचना से भिन्न रूप में गाने को 'स्थायभंजनी' कहा जाता था[33] और जब इसी प्रकार रूपक (प्रबंध) की संपूर्ण रचना (बंदिश) को परिवर्तित परिवेश में प्रस्तुत किया जाता था तो उसे रूपकभंजनी कहते थे।[34]

वर्तमान युग में प्रचलित ध्रुवपद, ख्याल, तराना, टप्पा, ठुमरी, लोकगीत, भजन व ग़ज़ल आदि विभिन्न शैलियों के गीतभेदों को गाते समय बीच-बीच में उपज या आलाप तान करते हुए बार-बार स्थायी या अंतरे में गीत का मुखड़ा पकड़ना, प्राचीन निबद्ध गान में व्यवहार किए जाने वाले रूपकालप्ति के भेद प्रतिग्रहणिकालप्ति के समान है वर्तमान गीतों को गाते समय अपनी सूझ-बूझ व प्रत्युत्पन्न रचनात्मक कौशल द्वारा कभी केवल स्थायी और कभी-कभी स्थायी व अंतरा इन दोनों गीतखंडों को कलात्मक रूप से अपनी इच्छानुसार परिवर्तित करते हुए, उन्हें बंदिश की मूल रचना से भिन्न परिवेश में भी प्रस्तुत किया जाता है। अतः ये क्रियाएँ भी प्राचीन रूपकालप्ति की 'स्थायभंजनी' और रूपकभंजनी' नामक क्रियाओं से बहुत साम्य रखती है।

पार्श्वदेव ने आलप्ति के सोलह भेदों में से कुछ को साक्षरा और कुछ को अनक्षरा बताया है।[35] इससे वर्तमान गीतभेदों में गीत के पदों (शब्दों) के आधार पर स्वरसंदर्भ युक्त बोलविस्तार के रूप में किए जाने वाले उपज, बोल आलाप, बोल तान इत्यादि कृत्यों की परंपरागत शृंखला रूपकालप्ति के साक्षरा भेदों से जुड़ती है।

शब्दप्रधान व भावाभिव्यंजक गीतविधा होने के कारण ठुमरी गान में पद (शब्द) और उसके अर्थ का विशेष महत्त्व है। अतः ठुमरी की गायकी में गीत के बोलों के आधार पर किये जाने वाले 'बोलबनाव' और 'बोलबाँट' कृत्यों की परंपरागत विकास शृंखला भी प्राचीन भारतीय संगीत में व्यवहृत होने वाले साक्षरा व सताला रूपकालप्ति से स्पष्टतः संबद्ध दिखाई पड़ती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पंडित शार्ङ्गदेव ने निबद्धगान के प्रबंध, वस्तु और रूपक ये तीन नाम बताए हैं।[36] संगीतरत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ ने अपनी टीका कलानिधि और सिंहभूपाल ने अपनी टीका सुधाकर में रूपकालप्ति के संदर्भ में 'रूपक' शब्द को 'प्रबंध' के ही अर्थ में लिया है।[37] पार्श्वदेव और महाराणा कुंभा ने प्रबंध और रूपक के लक्षण बताते हुए 'रूपक' में 'प्रबंध' के लक्षणों के साथ-साथ नाट्य (अभिनय) तत्त्व के भी होने का संकेत दिया है।[38] इससे डॉ० प्रेमलता शर्मा का अभिमत है कि रूपक, सांगीतिक रचनाओं के नाट्य तत्त्व पर अधिक बल देता है।[39]

रूपक शब्द रूप शब्द से बना है। रूप मूलतः कलात्मक सौंदर्य के दृश्यात्मक आनंद से संबद्ध है और गान का तो उद्देश्य ही श्रव्यात्मक आनंद प्रदान करना है। अतः गानविधा के रूप में प्रयोग किए जाने वाले 'गेय-रूपक' में श्रव्यत्व के साथ-साथ दृश्यत्व की अनुभूति कराने वाले गुणों का समन्वय होना स्वाभाविक ही है। इसीलिए 'रूपक गान' में 'प्रबंधगान' की विशेषताओं के साथ-साथ नाट्याभिनय की भावव्यंजक विशेषताओं का संयोग रहता था।

इस आधार पर ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय संगीत में 'प्रबध' और 'रूपक' एक ही निबद्धगान के दो रूप थे और प्रबंधगान में नाट्याभिनेय गुणों का समावेश करके उसे 'रूपक' के रूप में प्रयोग किया जा सकता था। जैसा कि महाराणा कुंभा के निम्नलिखित दो श्लोकों के संदर्भ से भी ज्ञात होता है कि उन्होंने अट्ठाइस मिश्रसूडप्रबंधों की रचना गीतगोविंद रूपक के रूप में की थी, जैसे

"अष्टाविंशतिरेतेऽत्र प्रबन्धाः कृष्ण (कुम्भ) भूभुजा।
स्वोपज्ञगीतगोविन्दमिश्रसूडे प्रपञ्चिताः ॥29॥
श्रीकुम्भकर्ण संगीत-गीतगोविन्दरूपकैः।
कर्तव्या चित्रिताभीर्तिविचित्रा चित्रकर्मठैः॥"[40] नृत्य० अं० अं० 96.

रूपक में नाट्य तत्त्व की प्रधानता के कारण गेय 'रूपक' के रूप में गाए जाने वाले प्रबंधों की गानशैली भी नाट्यात्मक (अभिनेय) गुण संपन्न होती थी। संगीतरत्नाकर में, रूपक गान के अंतर्गत की जाने वाली आलप्ति के संदर्भ में उल्लिखित 'चित्रिता' और 'भंगि' (भंगिमा) शब्दों से भी 'रूपक' की गायकी में नाट्यत्व अर्थात् अभिनेयत्व गुण निहित होने का स्पष्ट संकेत मिलता है :

"वर्णालंकारसम्पन्ना गमकस्थायचित्रिता।
आलप्तिरुच्यते तज्ज्ञैर्भूरिभंगिमनोहरा ॥202॥"[41]

राग, धातु, मातु, ताल, लय व औडुव (रचना विशेष) के अभिनव प्रयोगों द्वारा नवीनता की सृष्टि करना, रूपकगान की अन्यतम विशेषता थी। राग के स्थायों (स्वरसन्निवेशों) में अंतर करके राग में, रागांश में अंतर करके धातु में, प्रतिपाद्य विषय या रसालंकार में अंतर करके मातु में, लय व ग्रह में अंतर करके ताल में, ताल के विश्रांति स्थान में अंतर करके लय में और छंद, गण, ग्रह, न्यास

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व प्रबंधावयव (धातुओं) में परिवर्तन करते हुए रूपकगान में नवीनता उत्पन्न की जाती थी।[42]

इस प्रकार रूपक और रूपकालप्ति के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि लोकानुरंजक देशीसंगीत के अंतर्गत एक विशेष प्रकार के निबद्धगान को 'रूपक' कहते थे, जिसकी गानशैली में प्रबंधगान के समस्त नियमों का पालन करते हुए, राग के तिरोभाव व आविर्भाव सहित, गीत के प्रतिपाद्य विषय की नाट्यात्मक अभिव्यंजना करने के लिए, उसके पदों (शब्दों) के भावानुसार बार-बार नवीन कल्पनाओं का चमत्कार दिखाते हुए लोकानुरंजन किया जाता था। इससे यह भी ज्ञात होता है कि रूपक गान में हर बार नवीनता उत्पन्न करने के लिए उसकी गायकी में गायक या गायिका को किसी सीमा तक वैयक्तिक कल्पना की स्वतंत्रता भी थी।

प्राचीन संगीतज्ञों ने 'गीति' शब्द को मूलतः गानशैली के अर्थ में प्रयोग करते हुए,[43] षड्ज व मध्यम ग्रामोत्पन्न रागों को भी गीतियों के अनुसार ही वर्गीकृत किया है।[44] पं० शार्ङ्गदेव, सिंहभूपाल और कल्लिनाथ ने स्पष्ट किया है कि मतंग के मतानुसार रूपक गान का संबंध विशेषकर भाषा, विभाषा व उसके भेद अंतरभाषा गीतियों से था।[45]

मतंग ने भाषा गीति में काकु समन्वित ललित सुकुमार प्रयोग करते हुए और विभाषा गीति में लालित्यपूर्ण कर्णसुखद गमकों के प्रयोग सहित ऊँचे व मसृण स्वरों में यदृच्छया गाते हुए लोकानुरंजन किए जाने की चर्चा की है[46] इससे ज्ञात होता है कि शार्ङ्गदेव के पूर्व भी भारतीय संगीत में गाने की कुछ ऐसी विधाएँ प्रचलित थीं जिनमें शृंगार का प्राधान्य, काकु प्रयोग द्वारा भावाभिव्यंजना और गायक को किसी सीमा तक अपनी कल्पना व इच्छानुसार गीत को सजाकर विस्तार करते हुए गाने की छूट थी, जैसाकि आज भी ठुमरी की गायकी में ये सभी गुण परिलक्षित होते हैं।

नृत्य में, संगीत के साथ-साथ नाट्य (अभिनय) भी संयुक्त रहता है। इससे, प्राचीन व पूर्वमध्यकालीन संगीत में नृत्य के साथ गाई जाने वाली प्रबंध रचनाओं को रूपक की नाट्यगुणसंपन्न भावव्यंजक गानशैली में गाया जाना ही युक्तिसंगत, स्वाभाविक व सुसंभाव्य प्रतीत होता है। इस न्याय के अनुसार प्राचीन रास व चर्चरी नृत्यों से संबद्ध रास व चर्चरी (चच्चरी) आदि प्रबंधों की गीत-रचनाओं को भी रूपक की ही गान-शैली में गाए जाने का स्पष्ट अनुमान होता है। अतः नृत्य से संबंधित तथा रूपकगान के सदृश्य ही अभिनयात्मक, नव-नव कल्पनायुक्त व यदृच्छात्मक गुणों से संपन्न होने के कारण ठुमरी गायकी के विकास की परंपरा रास व चर्चरी (चच्चरी) इत्यादि नृत्यगीतों की रूपक गानशैली से संबद्ध दिखाई पड़ती है।

ठुमरी गान के लिए स्त्रियोचित कंठध्वनि को प्रायः आदर्श माना जाता रहा है। स्त्रियों की कंठध्वनि वैसे भी स्वभावतया मधुर होती है। इसलिए भरत ने तो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गाने की कला मात्र को ही स्त्रियों का स्वाभाविक गुण मानते हुए पुरुषों के गान-माधुर्य को अपवाद व अभ्यासजन्य बताया है[47] अतएव कैशिकीवृत्यात्मक, सुकुमार व स्त्रियोचित गीतविधा होने के कारण ठुमरी की गानशैली के लिए स्त्रीसुलभ मधुर कंठध्वनि का आदर्श तो विशेष रूप से और भी स्वाभाविक था। इसीलिए अनेक पुराने गायकों में, ठुमरी गाते समय आवाज़ को हल्की, पतली, ऊँची व सुकुमार बनाकर, स्त्रीसुलभ कंठध्वनि के अनुकरण की प्रवृत्ति रही है। उदाहरण के लिए कलकत्ते के सुप्रसिद्ध ठुमरी गायक स्वर्गीय प्यारे साहब, ग्वालियर के सुप्रसिद्ध गायक स्वर्गीय रहमत ख़ाँ व बंबई के सुप्रसिद्ध गायक स्वर्गीय अब्दुल करीम ख़ाँ इत्यादि। यद्यपि ठुमरी गान में स्त्रैण कंठध्वनि का आदर्श समय के साथ धीरे-धीरे कम होता गया, परंतु आज के युग में भी कभी कभी अपवाद स्वरूप स्व० रामा जी, स्व० अनाथ नाथ बोस व स्व० कमलसिंह जैसे कुछ ठुमरी गायकों के गाने में स्त्रैण कंठध्वनि को अनुकरण करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती रही है।

इस प्रकार प्राचीन व पूर्वमध्यकालीन भारतीय संगीत में प्रचलित भाषा, विभाषा गीतियों तथा अभिनयात्मक गानविधा रूपक व उसकी गानशैली के साथ ठुमरी की गानशैलीगत विशेषताओं का तुलनात्मक पर्यवेक्षण करने पर निम्नलिखित समानताएँ दृष्टिगत होती हैं :

1. भाषागीति में काकु समन्वित ललित व सुकुमार प्रयोग करते हुए जन-मन-रंजन किया जाता था। ठुमरी भी एक ललित व सुकुमार गीतविधा है, जिसमें काकु प्रयोग सहित गीत के बोलों के भाव प्रकट करते हुए जन-मन-रंजन किया जाता है।

2. विभाषा गीति में तारसप्तक अर्थात् ऊँचे स्वरों में लालित्यपूर्ण गमकों का इच्छानुसार प्रयोग करते हुए श्रोताओं का मनोरंजन किया जाता था। ठुमरी गान में भी शृंगारात्मक ललित व सुकुमार भावाभिव्यंजनानुकूल खटका, मुर्की, ज़मज़मा, मींड, गिटकरी आदि लालित्यपूर्ण गमकों का यदृच्छानुसार यथोचित प्रयोग करते हुए श्रोताओं का मनोरंजन किया जाता है और प्रायः पुराने गायक ठुमरीगान में तारसप्तक तथा ऊँची व महीन आवाज़ का प्रयोग करना एक महत्त्वपूर्ण कौशल समझते थे।

3. नाट्याभिनेय होने के कारण रूपकगान की गानशैली मुख्यतः भावाभिव्यंजनात्मक थी। मूलतः नृत्याभिनयात्मक गीतविधा होने के कारण ठुमरी की गानशैली भी भावाभिव्यंजना प्रधान है।

4. प्रत्येक वार नई-नई कल्पनाओं द्वारा नए नए ढंग से गीत का शृंगार करते हुए कलाभिव्यक्ति करना रूपक गान का विशिष्ट गुण था। ठुमरी गान में भी हर बार नए-नए ढंग से गीत को सजाते हुए कलात्मक अभिव्यक्ति करना विशेष महत्त्वपूर्ण है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

5. रूपकालप्ति में गायक-गायिका को रागालप्ति के नियमपालन के साथ-साथ अपनी कल्पनानुसार कलाभिव्यंजन करने की स्वतंत्रता भी थी। ठुमरी की गायकी में भी एक सीमा तक साधारणतया राग के मान्य नियमों का पालन करते हुए अपनी सूझ-बूझ द्वारा नई-नई कल्पनाएँ करते हुए इच्छानुसार कलाभिव्यक्ति की स्वतंत्रता है।

6. आलप्ति के एक भेद साक्षरा रूपकालप्ति में गीत के शब्दों (बोलों) के अनुसार आलपन किया जाता था। ठुमरी की गायकी में भी बोलों का बहुत महत्त्व है। बोलों के अनुसार ही ठुमरी गान में बोलबनाव या बोलबाँट द्वारा गीत का विस्तार व शृंगार किया जाता है।

7. साक्षरा रूपकालप्ति में बोल व स्वरसन्निवेशों सहित गीत का अलंकरण करते हुए राग का तिरोभाव व आविर्भाव किया जाता था। ठुमरी गान में भी बोलों के भावानुकूल स्वरसन्निवेशों का प्रयोग करते हुए अन्य मिलते जुलते रागों सहित तिरोभाव व आविर्भाव होता रहता है।

8. रूपकालप्ति में प्रतिग्रहणिका की प्रक्रिया में गीत के बीच-बीच में आलपन करते हुए प्रबंध के किसी खंड (धातु) के किसी अंश को बार-बार गाया जाता था। वर्तमान समय में ठुमरी गान के बीच-बीच स्वरसन्निवेशयुक्त बोलबनाव सहित आलपन करते हुए गीत के स्थायी या अंतरा नामक खंडों में से किसी के छोटे से अंश को 'मुखड़ा' या 'टेक' के रूप में बार बार गाया जाता है। इस प्रक्रिया में साधारणत: स्थायी या अंतरे की प्रथम पंक्ति को 'मुखड़ा' या 'टेक' के रूप में व्यवहार करने का प्रचलन है।

9. रूपकालप्ति में भंजनी की प्रक्रिया 'स्थायभंजनी' और 'रूपकभंजनी' नामक दो विधियों द्वारा संपन्न की जाती थी। 'स्थायभंजनी' में गीत (रूपक) के किसी स्थाय (धातु, गीतखंड) की मूलरचना और 'रूपकभंजनी' में संपूर्ण गीत (रूपक) की मूलरचना के स्वर, ताल, लय छंदादि सांगीतिक तत्त्वों को यथोचित व यदृच्छया बदलते हुए उसे मूलस्वरूप से भिन्न करके विविध प्रकार से गाया जाता था। ठुमरी गान में गीत के प्रथम खंड स्थायी अथवा स्थायी अंतरा दोनों खंडों की मूल स्वर, ताल, लय, छंदादि रचना को इच्छानुसार कुशलतापूर्वक बदलकर गीत को भिन्न परिवेश में प्रस्तुत करते हुए गाने की प्रथा भी कभी कभी दिखाई पड़ती है। प्राय: बोलबाँट की ठुमरियों में यह कृत्य विशेष रूप से देखा जा सकता है।

10. स्त्रियों की कंठध्वनि स्वभावत: मधुर व गानोपयोगी होने के कारण, भरत ने गाने की कला मात्र को ही स्त्रियों का स्वाभाविक गुण बताया है। कैशिकी वृत्यात्मक स्त्रियोचित गानविधा होने के कारण तो ठुमरी गान विशेष रूप से स्त्रियों के लिए स्वाभाविक व उनकी कंठध्वनि की प्रकृति के अनुकूल है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसीलिए बहुत समय तक महफ़िलों में प्रायः वेश्याएं ही ठुमरी गाती रहीं। बाद में गायकों द्वारा अपनाए जाने पर भी स्त्री सुलभ कंठध्वनि में पाए जाने वाले पतले, हलके, ऊंचेपन तथा सौकुमार्य व माधुर्य आदि गुण ठुमरी व उसकी गानशैलियों के लिए आदर्श बने रहे और इससे प्रेरित होकर अनेक गायकों ने अपने ठुमरी-गान में स्त्रैण कंठध्वनि का अनुकरण करने का प्रयत्न किया। आज भी ठुमरी गानशैली के लिए स्त्रियों की कंठध्वनि को सर्वोत्तम समझा जाता है।

इन तुलनात्मक समानताओं से ज्ञात होता है कि प्राचीन व पूर्वमध्यकालीन भाषा विभाषादि गीतियों तथा रूपकगान व उसकी सतालाक्षरा रूपकालप्ति से वर्तमान ठुमरी की गानशैलियों का बहुत घनिष्ठ संबंध है। लोकपरंपरागत होते हुए भी देशीसंगीत की विधाओं का वाह्य परिवेश समय-समय पर विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों व विभिन्न सांस्कृतिक प्रभावों के कारण जनरुचि के अनुसार बदलता रहता है। इस प्रकार प्राचीन अभिनयात्मक नृत्यगीतों और वर्तमान ठुमरी की भाषा, रचना व आलपन की प्रत्यक्ष प्रयोग विधि में अंतर होने पर भी दोनों के गान में आत्मभूत गुणों की समानता दिखाई पड़ती है। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ठुमरी गानशैली की विकासधारा प्राचीन अभिनयात्मक नृत्यगीतों की गानशैली से होते हुए लोकपरंपरा के माध्यम द्वारा वर्तमान युग तक पहुँची है।

संदर्भ संकेत

1. वझलवार, विद्याधर व्यंकटेश, "चतुर्दण्डीप्रकाशिका सटीक विवेचन", पृ० 98.
2. भरत, "नाट्यशास्त्र", गायकवाड़ सीरीज, द्वात्रिंशोऽध्यायः.
3. एम० रामकृष्ण कवि, "भरतकोश", पृ० 171.
4. देखिए—(अ) पंडित, कृष्णराव शंकर, "संगीत प्रवेश" (भाग पहिला), पृ० 1 से 92 तक बंदिशों की स्वरलिपियाँ.
   (आ) भावे, नरहर शंभुराव, "नर्तक म० शेख राहतअली इनका ठुमरी संग्रह" (प्रथम, द्वितीय व तृतीय भाग), सभी बंदिशें.
5. "उद्ग्राहध्रुवकाभोगान्तरं ध्रुवपदं स्मृतम् ॥167॥"
   (भावभट्ट, "अनूपसंगीतरत्नाकर").
6. "ध्रुवाभोगान्तरे जातो धातुरन्योऽन्तराभिधः ॥9॥"
   (शार्ङ्गदेव, "संगीतरत्नाकर" चतुर्थ प्रबन्धाध्याय).
7. ललनपिया, "ललनसागर", पृ० 2 (ध्रुपद, राग भैरव, चौताला, 3).

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

8. "ततो द्विखण्ड आभोगतस्य स्यात् खण्डमाद्विमम् ।
एकधातु द्विखण्डं च खण्डमुच्चतरं परम् ॥316॥"
(शार्ङ्गदेव. "संगीतरत्नाकर", चतुर्थ प्रबन्धाध्याय).

9. वझलवार, विद्याधर व्यंकटेश, "चतुर्दण्डीप्रकाशिका सटीक विवेचन", पृ० 100.

10. राजाभैया पूछवाले, "ठुमरी तरंगिणी", पृ० 7.

11. भातखंडे, पं० वि० ना०, "क्रमिक पुस्तक मालिका" (तीसरी पुस्तक), पृ० 304.

12. वही (दूसरें पुस्तक), पृ० 399.

13. भातखंडे, पं० वि० ना०, "क्रमिक पुस्तक मालिका" (तीसरी पुस्तक), पृ० 628. 629.

14. *Sangit Natak Akademi Bulletin*, April 1960, Compositions of Maharaj Bindadin, p. 35.

15. तवक्कुल हुसैन 'सनद पिया' की रचना.

16. भातखण्डे, पं० वि० ना०, "क्रमिक पुस्तक मालिका" (दूसरें पुस्तक), पृ० 398.

17. राजाभैया पूछवाले, "ठुमरी तरंगिणी", प्रस्ताविक हृदय निवेदन, पृ० 3.

18. हीरालाल, "मजमुए राग", पृ० 19.

19. प्रोफेसर बड़े आगा; "गुलदस्तए नग़मात", पृ० 46.

20. श्री एस० आर० मावलंकर से प्राप्त पुरानी ठुमरी.

21. दिल्ली के गोस्वामी श्रीलाल जी 'कुँवर श्याम' की एक प्रसिद्ध ठुमरी.

22. भावे, नरहर शंभुराव, "नर्तक म० शेख राहतअली इनका ठुमरी सग्रह" (प्रथम भाग), निवेदन, पृ० (।=).

23. "प्रथमा मागधी ज्ञेया द्वितीया चार्धमागधी ॥15॥
संभाविता तृतीया तु चतुर्थी पृथुला स्मृता ॥" (भरत, "नाट्यशास्त्र").

24. "गीतयः पञ्च विज्ञेयाः शुद्धा भिन्ना च वेसरा ।
गौड़ी साधारणी चैव,...............॥" (वही पुस्तक)

25. "प्रथमा शुद्धगीतिः स्याद् द्वितीया भिन्नका भवेत् ।
तृतीया गौडिका चैव रागगीतिश्चतुर्थिका ॥
साधारणी तु विज्ञेया गीतिज्ञैः पञ्चमी तथा ।
भाषागीतिस्तु षष्ठी स्याद्विभाषा चैव सप्तमी ॥" (मतंग "बृहद्देशी" 287)

26. "नृत्यं पदार्थाभिनयात्मकम्" (धनिक, "अवलोक", 9).

27. "वर्णालङ्कारसंपन्ना गमकस्स्थायचित्रिता ।
आलप्तिरुच्यते तज्ज्ञैर्भूरिभङ्गिमनोहरा ॥202॥" (पं० शार्ङ्गदेव, "संगीतरत्नाकर", तृतीय प्रकीर्णकाध्याय).

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

28. (क) कल्लिनाथ की कलानिधि व्याख्या (वही पुस्तक, श्लोकांक, 189).
(ख) "रागालपनमालप्तिः प्रकटीकरणं मतम् ॥189॥
सा द्विधा गदिता रागरूपकाभ्यां विशेषणात् ।"
(वही पुस्तक)

29. "रागालप्तिस्तु सा या स्यादनपेक्ष्यैव रूपकम् ॥190॥
स्वस्थानैः सा चतुर्भिः स्यादिति गीतविदो विदुः ।
यत्रोपवेश्यते रागः स्वरे स्थायी स कथ्यते ॥¹
ततश्चतुर्थो द्व्यर्धः स्यात् स्वरे तस्मादध..॥
चालनं मुखचालः स्यात् स्वस्थानं प्रथमं च तत् ॥192॥
द्व्यर्धस्वरे चालयित्वा न्यसनं तद् द्वितीयकम् ।
स्थायिस्वरादष्टमस्तु द्विगुणः परिकीर्तितः ॥193॥
द्वयर्धद्विगुणयोर्मध्ये स्थिताः अर्धस्थिताः स्वराः ।
अर्धस्थिते चालयित्वा न्यसनं तु तृतीयकम् ॥194॥
द्विगुणे चालयित्वा तु स्थायिन्यासाच्चतुर्थकम् ।
एभिश्चतुर्भिः रागालप्तिर्मता सताम् ॥195॥" (वही पुस्तक, तृतीय प्रकीर्णकाध्याय).

30. "रूपकस्थेनरागेण तालेन च विधीयते ।
या प्रोक्ता रूपकालप्तिः सा पुनर्द्विविधाभवेत् ॥197॥
प्रतिग्रहणिकैकान्या भञ्जनीत्यभिधीयते ।" (वही पुस्तक)

31. "विधाय स्थायमालप्ते रूपकावयवो यदि ॥198॥
प्रतिगृह्येत सा प्रोक्ता प्रतिग्रहणिका बुधैः ॥" (वही पुस्तक)

32. "भञ्जनी द्विविधाज्ञेया स्थायरूपकभञ्जनात् ॥199॥" (वही पुस्तक)

33. (*i*) "यदा तत्पदमानेन स्थायोरूपकसंस्थितः ।
नानाप्रकारः क्रियते सा ज्ञेया स्थायभञ्जनी ॥200॥" (वही पुस्तक)
(*ii*) "स्थायोऽत्र प्रबन्धैकदेशः ।" (कल्लिनाथ, "कलानिधि", वही पुस्तक)

34. "तै पदैस्तेन मानेन समग्रं रूपकं यदि ।
अन्यथा चान्यथा गायेदसौ रूपकभञ्जनी ॥201॥" (वही पुस्तक)

35. "सर्वगीतप्रबन्धानामादावालप्तिरिष्यते ॥46॥
सालप्तिर्द्विविधाज्ञेया विषमा प्राञ्जलेति च ॥
साक्षरानक्षरा चेति द्विविधापि चतुर्विधा ।
चतुर्विधाप्यष्टविधा सतालातालभेदतः ॥47॥
सा पुनः षोडशविधा शुद्धसालगभेदतः ॥" (पार्श्वदेव, "संगीतसमयसार" द्वितीय अध्यायः)

36. "संज्ञात्रयं निबद्धस्य प्रबन्धो वस्तु रूपकम् ॥6॥" (शार्ङ्गदेव, "संगीतरत्नाकर", चतुर्थ प्रबन्धाध्याय).

37. (अ) "रूपकं प्रबन्धः" (कल्लिनाथ, "कलानिधि", वही पुस्तक, प्रकीर्णकाध्याय, श्लोक सं० 190).

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(आ) "रूपकस्थेनेति। प्रबन्धस्थेन रागेण तालेन चोपलक्षिता या आलप्तिः क्रियते, सा रूपकालप्तिः।" (सिंहभूपालः सुधाकर, वही पुस्तक, श्लोक सं० 197)

38. (अ) "चतुर्भिर्धातुभिः षड्भिश्चाङ्गैर्यस्मात् प्रबध्यते।
तस्मात् प्रबन्धः कथितो गीतलक्षणकोविदैः।
रामाद्यारोपणान्नेतुः स्यादस्मिनः रूपकाभिधा॥" (पार्श्वदेव), सिंपभूपाल, "सुधाकर", सं० र० चतुर्थप्रबन्धाध्यायः, 1-19).

(आ) "अङ्गैः षड्भिश्चतुर्भिश्च धातुनिर्बध्यते यतः।
ततः प्रबन्धो इत्युक्तो गजवन्धनचञ्चुना ॥4॥

आरोप्यते गुणग्रामोपाधिकं यत्र नायके।
रामादिवं महीभर्त्रा तद्रूपकमुदीरितम् ॥5॥ (महाराणा कुंभा : संगीतराज, द्वितीय गीतरत्नकोश. सूड-प्रबन्धा नाम द्वितीय परीक्षणम्)

39. "'Rupaka' emphasizes the dramatic element of musical compositions."
(*Sangitaraj*—Ed. Dr. Premlata Sharma, Section III, Topical Notes, p. 147).

40. वही पुस्तक, Section II, Notes on the Author, p. 50.

41. शाङ्गदेव, "संगीतरत्नाकर" तृतीय प्रकीर्णकाध्याय, श्लोकांक 202.

42. "गुणान्वितं दोषहीनं नवं रूपकमुत्तमम् ॥361॥
रागेण धातुमातुभ्यां तथाताललयोडुवैः।

नूतनैः रूपकं नूतनं रागः स्थायान्तरैर्नवः ॥362॥
धातू रागांशभेदेन मातोस्तु नवता भवेत्।

प्रतिपाद्यविशेषेण रसालंकारभेदतः ॥363॥
लयग्रहविशेषेण तालानां नवता मता।

तालविश्रामतोऽन्येन विश्रामेण लयो नवः ॥364॥
छन्दोगणग्रहन्यासप्रबन्धावयवैर्नवैः।
ओडुवापरपर्यायां रचना नवतां व्रजेत् ॥365॥" (वही पुस्तक, चतुर्थ प्रबन्धाध्याय).

43. "गीतिरुद्दिशति—गीतय इति।" ("कलानिधि", "संगीतरत्नाकर", द्वितीयो रागविवेकाध्यायः, प्रथमं प्रकरणम्, श्लोक संख्या 2).

44. (क) "बहुद्देशी", रागाध्याय, श्लोक संख्या 309 से 375 तक.

(ख) "संगीतरत्नाकर" द्वितीय रागविवेकाध्याय, प्रथमं प्रकरण, श्लोक संख्या 7 से 14 तक.

45. (क) "मतङ्गादिमताद् ब्रूमो भाषादिष्वेव रूपकम्।" (वही पुस्तक, द्वितीय प्रकरण, श्लोक संख्या 27).

(ख) "मतङ्गादिमतेन भाषाविभाषांतरभाषास्वेवास्ति रूपकम्;"
("संगीतसुधाकर", वही पुस्तक, श्लोक संख्या 27).

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(ग) "लक्षितस्य रूपकस्य प्रयोगस्थलमाह—मतङ्गादीति ।
भाषाविष्वेवेत्यवधारणं .... ।
आदिशब्देन विभाषांतरभाषे गृह्यते ।" ("कलानिधि", वही पुस्तक, श्लोक संख्या 27).

46. (अ) "प्रयोगैगमित्रिजैः श्लक्ष्णैः काकुरक्तैः सुयोजितैः ॥304॥
कम्पितैः कोमलैर्दीप्तैर्मालवीकाकुनान्वितैः ।
ललितैः सुकुमारैश्च प्रयोगैश्च सुसंयतैः ॥305॥
भाषागीतिः समाख्याता एषा गीतिविचक्षणैः ।
यथा वैरज्यते लोकस्तथा वै सम्प्रयुज्यते ॥306॥

(आ) "ललितैर्बहुभिर्दीप्तैः कम्पितैरौरसैः समैः ।
तारातितारैर्मसृणैर्मध्ये मध्यमदीपितैः ॥307॥
गमकैः श्रोत्रसुखदैर्ललितैस्तु यदृच्छया ।
विभाषागीतिः संयोज्या यथा लोकोऽनुरज्यते ॥308॥" (मतंग, 'बृहद्देशी')

47. "प्रायेण तु स्वभावात् स्त्रीणा गानं नृणां च पाठ्यविधिः ।
स्त्रीणां स्वभावमधुरः कण्ठो नृणां बलित्वं च ॥5॥
यत्र स्त्रीणां पाठ्यात् (पाठ्यं) गुणैर्नराणां च गानमधुरत्वम् ।
ज्ञेयोऽलङ्कारोऽसौ नहि स्वभावो ह्ययं तेषाम् ॥6॥" (भरत, नाट्यशास्त्र, त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः).

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

9

ठुमरी की वर्तमान शैलियाँ

गान की किसी भी विधा में 'बंदिश' अर्थात् रचना और 'गायकी' अर्थात् गानशैली, ये दो चीज़ें मूलभूत आधार होती हैं। स्वरतालबद्ध पदरचना को 'बंदिश' कहा जाता है और 'बंदिश' के आधार पर की जाने वाली प्रत्यक्ष गानक्रिया अर्थात् गायकी का विशिष्ट ढंग ही उस गानविधा की गानशैली कहलाती है।

समय के साथ प्रत्येक गेयविधा की अनेक शैलियाँ विकसित होकर जनसमाज में लोकप्रिय व प्रचलित हो जाती हैं। किसी भी गेयविधा के वर्तमान स्वरूप को समझने के लिए उसकी प्रचलित शैलियों का अध्ययन अत्यंत महत्त्वपूर्ण होता है। अतः इस दृष्टि से ठुमरी की प्रचलित गानशैलियों का विवेचन आवश्यक है।

ठुमरी-गायकी की रूपरेखा, साधारणतः ख्याल, टप्पा, तराना आदि गीत-विधाओं की भाँति ही होती है। दूसरे शब्दों में ठुमरी गान में पहले 'बंदिश' के स्थायी भाग को गाते हुए, उसमें निहित, बोल, धुन, राग व ताल की प्रकृति के अनुसार स्वकल्पनानुसार आलपन करते हुए, बार-बार 'मुखड़े' का उद्ग्रहण किया जाता है। 'स्थायी' के बाद लगभग यही कृत्य 'अंतरा' में करते हुए गीत को समाप्त किया जाता है। यद्यपि ठुमरी गान की सामान्य रूपरेखा इसी प्रकार होती है, फिर भी ठुमरी में गीत के 'बोलों' तथा उसके शृंगार के लिए कण, खटका, मुर्की, गिट-किरी, मींड इत्यादि गमकों के विशिष्ट प्रयोगों द्वारा ठुमरी की गायकी अन्य गीत-विधाओं की गायकी से अनेक अंशों में भिन्न हो जाती है।

नृत्य में पदार्थाभिनय की प्रधानता के कारण नृत्यात्मक गानविधाओं में गीत के शब्दों का बहुत महत्त्व होता है। मूलतः नृत्यात्मक गीतविधा होने के कारण, ठुमरी गान में प्रारंभ से ही, गीत के बोलों का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इसीलिए 'बोल' को ठुमरी की आत्मा और उसका जीवन कहा जाता है।

गीत के बोलों पर ही मुख्यतः आधारित होने के कारण, ठुमरी की गान-प्रणाली भी विशेषतया 'बोलप्रधान गायकी' के रूप में ही विकसित हुई। अतः ठुमरी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की वर्तमान गान-शैलियों के विकास में, ठुमरी के 'बोलों' और स्वरों के साथ उनके बोलविस्तार की प्रमुख भूमिका रही है।

मूलतः नृत्यात्मक गीतविधा होने के कारण, ठुमरी की गीतरचना में निहित 'बोलों' की गत्यात्मकता और भावाभिव्यंजनात्मक गुणों की प्रधानता के आधार पर, कालांतर में, ठुमरी के दो प्रमुख भेद हो गए जिन्हें क्रमशः 'बोलबाँट की ठुमरी' और 'बोलबनाव की ठुमरी' कहा जाता है। 'बोलबाँट की ठुमरी' मुख्यतः गतिप्रधान और 'बोलबनाव की ठुमरी' भावप्रधान है।

वाजिद अली शाह के समय लखनऊ में ठुमरी गान का इतना अधिक प्रचार व प्रसार हो गया था कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक लखनऊ नगर को ठुमरी गान का प्रायः एकमात्र केंद्र सम[illegible]ा था। इसीलिए परवर्ती युग में गाई जाने वाली ठुमरी के बोलबाँट व बोलबनाव भेदों का मूल्यांकन, क्षेत्रीय अथवा प्रादेशिक प्रचार की दृष्टि से, लखनऊ को ही केंद्र मानते हुए किया गया। उदाहरण के लिए लखनऊ से पश्चिम की ओर प्रचलित ठुमरी को प्रायः 'पछाहीं ठुमरी' और लखनऊ से पूर्व की ओर प्रचलित ठुमरी को 'पूरबी ठुमरी' या 'पूरब अंग की ठुमरी' कहा जाता है। इनमें से 'पछाहीं ठुमरी' में प्रायः बोलबाँट की और 'पूरब अंग की ठुमरी' में बोलबनाव की प्रधानता होती है।

'बाँट' शब्द खंड या प्रस्तार तथा 'बनाव' शब्द सजाने, शृंगार करने व अलंकृत करने का द्योतक है। विभिन्न प्रकार के लयबाँट अर्थात् लयकारी या ताल-प्रस्तार के अनुसार शब्दों तथा स्वरों के संयोजन द्वारा गीत में वैचित्र्य व चमत्कार की सृष्टि करना 'बोलबाँट ठुमरी' की विशेषता और गीत के शब्दों को भावानुरूप काकु समन्वित स्वरसन्निवेशों से सजाते हुए भावाभिव्यंजित करना ही 'बोलबनाव ठुमरी' का चरम लक्ष्य है।

ठुमरी के इन दो प्रधान भेदों के अनुरूप ही गीतरचनाओं के 'बोलों' में निहित लयात्मकता और भावात्मकता की प्रधानता के आधार पर, कालांतर में ठुमरी गान की दो मुख्य प्रणालियाँ विकसित हुईं, जिनमें से एक में बोलबाँट और दूसरी में बोलबनाव के गुणों की प्रधानता परिलक्षित होती है। अतएव इस आधार पर इन्हें क्रमशः 'बोलबाँट प्रधान' और 'बोलबनाव प्रधान' गानशैली कहना समुचित होगा।

बोलबाँट ठुमरी और उसकी गानशैली

बोलबाँट ठुमरियों का प्रसार-क्षेत्र लखनऊ के पश्चिम में स्थित फ़र्रुखाबाद, इटावा, बरेली, रामपुर, मथुरा व दिल्ली इत्यादि स्थानों की ओर अधिक होने के कारण कभी-कभी इन्हें 'पछाहीं ठुमरी' के नाम से भी संबोधित किया जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बोलबाँट की ठुमरियों में प्रायः बंदिश की रचना का चमत्कार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। अतः इस शैली की ठुमरियों को 'बंदिशी ठुमरी' या 'बंदिश की ठुमरी' भी कहने का प्रचलन है।

उत्तर भारत के पश्चिमी क्षेत्रों से विशेषतया संबद्ध होने के कारण, बोलबाँट की ठुमरियों पर एक ओर तो पश्चिमी उत्तर प्रदेश, ब्रज व बुंदेलखंड में गाए जाने वाले, होली, रसिया, सावन, मल्हार, लेद इत्यादि लोकधुनों का प्रभाव है तो दूसरी ओर इनकी रचना व प्रदर्शन में परंपरागत घरानेदार गायकों, सितारवादकों व कथकनर्तकों का विशेष योगदान रहने के कारण इन पर परंपरागत रागसंगीत का भी बहुत प्रभाव है। इनमें से कुछ ठुमरियाँ मध्यलय के ख्याल, कुछ तराने, कुछ सितार की गतों और कुछ नृत्य के अधिक निकट हैं। इतना ही नहीं, कुछ ठुमरियों में तो ध्रुवपदगान की भाँति दुगुन व आड़ इत्यादि लयकारियों का प्रयोग भी दिखाई देता है। अतएव इन सब कारणों से बोलबाँट शैली की ठुमरियों में बहुत विविधता दिखाई पड़ती है।

तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो पछाँह (पश्चिमी क्षेत्र) की बोलबाँट ठुमरियों में रागसंगीत की प्रधानता कुछ अधिक ही मिलती है, जबकि पूरब की बोल-बनाव ठुमरियों में लोकतत्त्व की झलक अधिक दिखाई पड़ती है। क्योंकि पछाँह की बोलबाँट ठुमरियाँ, केवल कुछ बहुत गंभीर रागों को छोड़कर, प्रायः सभी रागों में गाई जाती हैं; जबकि पूरब की बोलबनाव ठुमरियाँ केवल कुछ लोकधुनों और चंचल व हल्के रागों तक ही सीमित रहती हैं।

बोलबाँट की ठुमरियों में व्यवहृत होने वाली भाषा मुख्यतः ब्रज है। इन ठुमरियों के विषय, प्रधानतः कृष्ण की शृंगारात्मक ब्रजलीलाओं से संबद्ध होने पर भी अनेक रचनाओं में साधारण नर-नारी की प्रेमाभिव्यक्ति भी मिलती है। इनमें से, मध्यलय में गाई जाने वाली ठुमरियों में शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का चित्रण मिलता है; किंतु अधिक चपल होने के कारण, द्रुतलय की ठुमरियों में प्रायः संयोग शृंगार ही वर्णित रहता है। कुछ ठुमरियों में तो काव्यात्मक चमत्कार भी देखने को मिलता है, जैसे घनाक्षरी ठुमरी, अधरबंद ठुमरी इत्यादि। घनाक्षरी ठुमरियों के काव्य में घने और अनुप्रासयुक्त शब्दसमूह होते हैं। अधरबंद ठुमरियों के काव्य में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जिनमें ओठों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती। फ़र्रुखाबाद के 'ललन पिया' ऐसी ठुमरी रचनाएँ करने में सिद्धहस्त थे।[1]

बोलबाँट की ठुमरियाँ प्रायः त्रिताल अथवा उसके भेद अद्धा या सितारखानी में निबद्ध होती हैं। कभी-कभी रूपक, झपताल, एकताल व आड़ाचौताल में निबद्ध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ठुमरी रचनाएं भी दृष्टिगत होती हैं, परंतु उनकी संख्या बहुत कम है। बोलबाँट की इन गतिप्रधान ठुमरियों को विशेषतः मध्य या द्रुत लय में गाया जाता है। भरत ने श्रृंगारपरक गीतों के लिए मध्यलय का प्रयोग उपयुक्त बताया है।[2] पुराने संगीतज्ञों के मतानुसार पहले मध्यलय की ही ठुमरियों का प्रचार था।[3] अतः इस दृष्टि से बोलबाँट ठुमरी की शैली अधिक पुरानी ठहरती है।

बोलबाँट ठुमरी के गाने में 'बंदिश' की बहुत प्रधानता व महत्त्व होने के कारण, इस शैली की बंदिशें बहुत ही सुगठित, कलात्मक व लयबद्ध होती हैं। मुख्यतः लयप्रधान होते हुए भी इन ठुमरी रचनाओं (बंदिशों) में अनेक विविधताएँ मिलती हैं। इनमें से कुछ ठुमरियों पर कथक नृत्य, कुछ पर सितारवादन, कुछ पर तराने की गानशैली और कुछ पर ख्याल की शैली का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। अतएव बोलबाँट ठुमरी की इन विविध रचनाओं के अनुसार ही उसकी गान-शैली में भी विविधता के दर्शन होते हैं।

नृत्य में गीत के शब्द, भावार्थ और उसके अभिनय का अधिक महत्व होने के कारण नृत्य के साथ गाई जाने वाली ठुमरियाँ अधिकतर सीधे व सरल रूप में ही गाई जाती हैं। 'बंदिश' को स्पष्ट शब्दोच्चारण सहित भावपूर्वक गाया जाना ही इनकी गायकी की विशेषता है। इस प्रकार की ठुमरियों को गाते समय, बीच-बीच में थोड़ा बोल-विस्तार व कुछ छोटी-छोटी बोलतानों का किंचित प्रयोग करने के अतिरिक्त, इनमें अधिक कलात्मक अलंकरण प्रायः नहीं किया जाता।

सितारवादन तथा तराने की शैली से प्रभावित मध्य व द्रुत लय की बोलबाँट ठुमरियों में गतकारी और लयकारी के अनुसार गीत के स्वरयुक्त बोलों के विविध प्रयोगों की प्रधानता रहती है। इनमें से कई ठुमरियाँ तो केवल तबलावादकों से नोक-झोंक करने के लिए ही रची गई हैं। इस प्रकार की बोलबाँट ठुमरी रचनाओं में से कुछ में लय की विषमता, कुछ में विभिन्न लयों का समावेश और कुछ में ताल, लय अथवा सम को गुप्त रखकर तबलावादक को भ्रम में डालने की प्रवृत्ति निहित रहती है, फलतः ऐसी ठुमरियों में विभिन्न लयकारियों के साथ-साथ सम व अतीत, अनागत आदि विषम ग्रहों के विलक्षण प्रयोगों का चमत्कार भी देखने को मिलता है। इन ठुमरियों की गानशैली में विभिन्न लयकारियों सहित स्वरबद्ध बोलविस्तार की अधिक प्रधानता रहती है। कभी-कभी इनमें ध्रुवपदगान की भांति दुगुन व आड़ लय में उपज इत्यादि कृत्य भी किए जाते हैं। साथ ही गीत के मुखड़े व बोलों सहित छोटी-छोटी तिहाइयों का भी प्रयोग किया जाता है। यद्यपि इन ठुमरियों में कभी-कभी कुछ छोटी-छोटी बोलतानों का प्रयोग भी कर लिया जाता है, किंतु गीत के बोलों को विभिन्न लय बाँट के अनुसार बरतते हुए बंदिश को द्रुत लय में बढ़ाकर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गाना ही इनकी गायकी की मुख्य विशेषता है। इसके अतिरिक्त इनमें अधिक विस्तार करने की गुंजाइश नहीं रहती।

गीत में, ताल व लय की गत्यात्मकता और शब्दों की भावाभिव्यंजना की सावकाशता के बीच संतुलन बनाए रखने के लिए मध्यलय का व्यवहार ही अधिक उपयुक्त रहता है। अतः मध्यलय में गाई जाने वाली एक विशेष वर्ग की ठुमरियों में लयबाँट के साथ-साथ प्रायः बोलबनाव के गुण भी सन्निविष्ट रहते हैं। यद्यपि मध्यलय में गाई जाने वाली ऐसी ठुमरियों को भी साधारणतया लोग बोलबाँट की ही ठुमरियों में वर्गीकृत कर देते हैं, परंतु रचना व गायकी के मूलभूत तात्त्विक गुणों के आधार पर इन्हें बोलबाँट और बोलबनाव ठुमरियों का मध्यस्थ समझना चाहिए। इन ठुमरियों की गायकी में स्वरसंदर्भयुक्त बोलों को विभिन्न लयबाँट के अनुसार बरतने के साथ-साथ बोलों को भावानुकूल काकुसमन्वित स्वरसन्निवेशों के प्रयोग द्वारा अभिव्यंजित करते हुए बोलबनाव भी किया जाता है।

मध्यलय में गाई जाने वाली इन ठुमरियों में से अनेक ठुमरियों की रचना व गानशैली मध्यलय के ख्यालों से इतनी मिलती-जुलती है कि दोनों में स्पष्ट विभेद कर पाना अत्यन्त दुष्कर है। यधपि कुछ लोगों ने मध्यलय की ठुमरियों और मध्य-लय के ख्यालों का विभेद स्पष्ट करने के लिए दोनों के स्वर व लय संबंधी वर्ताव में अंतर होना बताया है। साथ ही ठुमरी की बंदिश में छोटी-छोटी मुर्कियों का व्यवहार होना तथा बंदिश बनाने वाले के नाम (बंदिश में प्रयुक्त नाम या उपनाम) के बाद 'पिया' शब्द संलग्न होना ठुमरियों की एक मोटी पहचान बताई है।[4] परंतु अनेक मध्यलय की ठुमरियों के स्वर व लय संबंधी बर्ताव ख्याल से इतने मिलते-जुलते हैं कि इस आधार पर उनमें भेद कर पाना बहुत कठिन है। इसीलिए ऐसी कुछ ठुमरियाँ कालांतर में ख्याल के रूप में ही प्रचार रूढ़ हो गईं। उदाहरणार्थ, स्वर्गीय उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ द्वारा जयजयवंती राग में मध्यलय के ख्याल के रूप में गाई जाने वाली सुप्रसिद्ध बंदिश 'पैयाँ परूँगी पलका न चढ़ूँगी०' मूल रूप में जयजयवंती की ठुमरी थी[5], जिसमें कहीं-कहीं गारा का भी पुट था।[6] इसी प्रकार 'सदारंग पिया'[7], 'अदारंग पिया'[8] 'महँमद या मौंमद सा पिया'[9] और 'अज़ीज़ुद्दीन पिया'[10] के उपनाम से अंकित ख्यालों की रचनाएँ भी मिलती हैं। इतना ही नहीं, अपितु कुछ धमार रचनाओं में भी रचयिता के नाम के बाद 'पिया' शब्द संलग्न मिलता है, जैसे

भैरवी धमार

"महँमद सा पिया चतुर रँगीले,
दूर न बसो बसो मेरे नेरे।"[11]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अतः इन आधारों पर मध्यलय की ठुमरियों और मध्यलय के ख्यालों का भेद स्पष्ट नहीं होता। संभवतः यह भेद बहुत स्पष्ट न होने के कारण ही, मध्यलय की कई बंदिशें, भ्रमवश या निजेच्छया, ठुमरी व ख्याल दोनों रूपों में गाई जाती रहीं और इसीलिए मध्यलय की ऐसी 'बंदिशों' को कुछ लोग ख्याल और कुछ लोग ठुमरी कहते रहे हैं।

बोलबनाव ठुमरी और उसकी गानशैली

जिस प्रकार बोलबाँट अर्थात् बंदिशी ठुमरी में 'बंदिश' की अधिक प्रधानता होती है, उसी प्रकार बोलबनाव की ठुमरी में 'गायकी' को अधिक प्रमुखता व महत्त्व दिया जाता है। अतः बोलबनाव की ठुमरी मुख्यतः गायकीप्रधान ठुमरी होती है, जिसमें गीत के बोलों में निहित भाव को साक्षरालप्ति के माध्यम द्वारा अभिव्यंजित करने का प्रयत्न किया जाता है।

लोकतत्त्वों से अधिक प्रभावित होने के कारण, बोलबनाव की ठुमरियाँ प्रायः लोकधुनों और उनसे तादात्म्य रखने वाले रागों में अधिक गाई जाती हैं। वर्तमान युग में प्रायः माँड, बिहाग, पहाड़ी, खमाज, तिलंग, गारा, झिंझोटी, बिहारी, तिलककामोद, देस, जोगिया, कालिंगड़ा, परज, सोहनी, काफ़ी, सिंदूरा, बरवा, सिंधु, पीलू, जंगला, भैरवी, सिंध-भैरवी इत्यादि रागों में बोलबनाव की ठुमरियाँ गाए जाने का रिवाज है।

बोलबनाव ठुमरी रचनाओं की भाषा साधारणतः ब्रज, अवधी, भोजपुरी इत्यादि बोलियाँ होती हैं। कभी-कभी एक ही ठुमरी रचना में इन बोलियों के मिले-जुले रूप भी रहते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ठुमरियों में कभी-कभी उर्दू भाषा के शब्दों का भी यत्किंचित प्रयोग मिलता है। बोलबनाव ठुमरियों में संयोग व वियोग दोनों प्रकार के विषय होते हैं, जिनमें शृंगार के साथ-साथ करुण रस की अभिव्यक्ति भी दिखाई पड़ती है।

भावों की अभिव्यक्ति के लिए इत्मिनान व चैनदारी अर्थात् सावकाशत्व बहुत ही आवश्यक है और इसकी पूर्ति के लिए गाने में विलंबित लय का प्रयोग अत्यंय सुविधाजनक रहता है। बोलबनाव ठुमरियों की गायकी में भावाभिव्यंजन का विशेष महत्त्व होने के कारण उनमें अधिकतर विलंबित लय का ही प्रयोग किया जाता है। इसीलिए बोलबनाव की ठुमरियाँ विशेषकर विलंबित लयोचित दीपचंदी (चतुर्दशमात्रिक चाँचर), जत (षोडशमात्रिक चाँचर) और पंजाबी इत्यादि तालों में ही गाई जाती हैं। परंतु इसी शैली में गाए जाने वाले 'दादरा' नामक गीतों को दादरा या कहरवा ताल में, प्रायः मध्यविलंबित या मध्यलय में गाया जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तुलनात्मक दृष्टि से इन 'दादरा' गीतों को ठुमरी की अपेक्षा छोटा व हलका समझा जाता है।

रचनात्मक दृष्टि से बोलबनाव की बंदिशें लघुकाय व सरल होती हैं, जिनमें 'स्थायी' और प्रायः एक ही 'अंतरा' होता है। यद्यपि कभी-कभी अपवादस्वरूप दो अंतरे भी मिलते हैं, परंतु ऐसी ठुमरियों की संख्या बहुत ही कम है। जिस प्रकार बोलबाँट ठुमरी की बंदिशें विविध प्रकार की व अत्यंत सुगठित होती हैं उस प्रकार की विविधता, लयबद्धता और रचना सौष्ठव बोलबनाव की ठुमरियों में प्रायः नहीं मिलती। विलंबित लय में गाई जाने के कारण बोलबनाव ठुमरी की बंदिशों में गायक या गायिका को यदृच्छया परिवर्तन करने की बहुत सुविधा रहती है। अतः बोलबनाव शैली में ठुमरी की बंदिशों की रूपरेखा स्पष्ट तो रहती है, परंतु वे उतनी सुगठित व लयबद्ध नहीं होतीं, जितनी कि बोलबाँट ठुमरी की बंदिशें होती हैं। इस प्रकार बोलबनाव की ठुमरी का वैविध्य उसकी 'बंदिशों' में निहित न होकर उसकी विभिन्न 'गानशैलियों' में प्रकट होता है।

बोलबनाव ठुमरी की गायकी के विस्तार क्रम में पहले 'स्थायी' के 'बोलों' का भावानुकूल काकुसमन्वित स्वरसन्निवेशों सहित साक्षरालप्ति करते हुए यदृच्छया 'बनाव' किया जाता है और ऐसे प्रत्येक 'बोलबनाव' के बाद गीत के 'स्थायी' का 'मुखड़ा' दिखाया जाता है। इसके बाद यही कृत्य अंतरे में करते हुए, उसी प्रकार बार-बार 'अंतरे' का 'मुखड़ा' दिखाया जाता है। फिर अंतरे की परिसमाप्ति के अंतिम चरण में अंतरे की अंतिम पंक्ति, अथवा अंतरा समाप्त करके स्थायी की पहली पंक्ति को त्रिताल या कहरवा ताल के अनुसार निबद्ध करके मध्यलय में कई बार गाया जाता है। मध्यलय में गाई जाने वाली इस पंक्ति की स्वररचना का आधार अंतरे की अंतिम पंक्ति या स्थायी की प्रथम पंक्ति होता है। बीच-बीच में, इसमें यदृच्छया परिवर्तन करते हुए छोटी-छोटी बोलतानों का व्यवहार करके इसे और भी मनोरम बनाया जाता है। इस कृत्य के साथ तबलावादक तबले में कहरवा ताल के एक विशिष्ट ठेके 'लग्गी' को बजाते हुए गाने की संगति करता है और अंत में एक छोटे 'मोहेर' या 'तिहाई' के प्रयोग सहित 'सम' पर आकर ठुमरी गान की समाप्ति होती है।

बोलबनाव ठुमरियों की रचना व शैली के अर्थ में प्रायः 'अंग' शब्द व्यवहार किए जाने का प्रचलन है। 'अंग' शब्द, रचना व शैली को अभिव्यक्त करने के साथ-साथ बोलबनाव ठुमरियों की क्षेत्रीयता या प्रादेशिकता से भी संबद्ध रहता है, जैसे पूरब अंग, पंजाब अंग इत्यादि।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

1. पूरब अंग

बोलबनाव की ठुमरी का प्रसार विशेष रूप से उत्तर भारत के पूर्वी भाग अर्थात् पूर्वी उत्तर प्रदेश व बिहार की ओर अधिक होने के कारण इसे प्राय: 'पूरब अंग की ठुमरी' या 'पूरबी ठुमरी' कहा जाता है। उत्तर भारत के पूर्वी प्रदेशों से संवद्ध होने के कारण पूरब अंग की बोल बनाव ठुमरियों पर चैती, कजरी, पूरबी, घाटो आदि लोकगीतों की धुनों का भी बहुत प्रभाव है।

पूरब अंग की बोलबनाव ठुमरी गाने का ढंग साधारणतया पूर्वोक्त रूप में होते हुए भी उसकी गायकी में बोलों व स्वरों के 'बढ़त' अर्थात् विस्तार का एक विशेष क्रम होता है, जिसके अनुसार पहले 'बंदिश' की प्रकृति के अनुसार बोलबनाव करते हुए ठुमरी में व्यवहृत होने वाले मुख्य राग की 'बढ़त' की जाती है। फिर अन्य समप्राकृतिक रागों की छाया दिखाते हुए मुख्य राग का तिरोभाव व आविर्भाव किया जाता है। तत्पश्चात् अन्य अनेक रागों का भी भावानुकूल समुचित रूप में यदृच्छया मिश्रण किया जाता है। ठुमरी की मूल धुन या राग में अन्य रागों की छाया दिखाने व रागमिश्रण का कौशल प्राय: षड्जसंक्रमण, स्वरसन्निवेश-परिवर्तन अथवा स्वर-परिवर्तन द्वारा किया जाता है।

राग में मूल षड्ज के अतिरिक्त किसी अन्य स्वर पर थोड़ी देर के लिए षड्ज की स्थिति मान लेने की प्रक्रिया को षड्जसंक्रमण या षड्जचालन कहते हैं। इस प्रक्रिया के अनुसार थोड़ी देर के लिए राग के किसी अन्य स्वर पर 'सा' मान लेने से, राग की मूल स्वरावलि में परिवर्तन न करने पर भी किसी अन्य राग की छाया का आभास होने लगता है। उदाहरणार्थ, यदि भैरवी में थोड़ी देर के लिए 'निषाद' स्वर पर 'षड्ज' की स्थिति मान ली जाए तो काफ़ी राग का आभास होने लगता है, जैसे

भैरवी : नि सा रे ग म प ध नि सां

काफी : सा रे ग म प ध नि सां

अब इसके अनुसार भैरवी की एक प्रसिद्ध ठुमरी में काफ़ी की छाया उत्पन्न करने और पुन: 'मुखड़ा' पकड़ने का उदाहरण निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत है :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

भैरवी	–	नि नि	सा	–	(ग)रे	सा	रे ग	(रे)मग	मधप	(म)पम	-म	(प)गम	रेसा	-सा	रे ग	(रे)मग
काफी	–	सा सा	रे	–	(म)ग	रे	गम	(ग)पम	पनिध	(प)धप	-प	(ध)मप	गरे	-रे	गम	(ग)पम
ठुमरी के बोल	ऽ	सु नि	यो	ऽ	नं	ऽ	ऽद	ऽकु	माऽऽ	ऽऽ	ऽर	सुनि	योऽ	ऽनं	ऽद	ऽकु
ताल चिन्ह	×				2				0				3			

भैरवी	म	–	–	म
काफ़ी	प	–	–	प
ठुमरी के बोल	मा	ऽ	ऽ	र
ताल चिन्ह	×			

इसी प्रकार अन्य स्वरों पर भी षड्जसंक्रमण करके विभिन्न रागों की छाया उत्पन्न की जा सकती है।

प्रत्येक राग में, उसके स्वरूप को स्पष्ट करने वाले, कुछ विशिष्ट स्वर सन्निवेश होते हैं, जिनके उपयोग से उस राग के विशिष्ट वातावरण की सृष्टि होती है। अतः यदि किसी राग में स्वरों के रूप में परिवर्तन न करके केवल उसके विशिष्ट स्वर-संदर्भों को बदल दिया जाए तो उसमें किसी अन्य राग की छाया दिखाई पड़ने लगती है। ठुमरी गान में प्रायः इस प्रकार से अन्य रागों की छाया दिखाकर तिरोभाव करते हुए पुनः 'मुखड़ा' ग्रहण करके आविर्भाव किया जाता है, जैसे

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

खमाज	– ग ग म	म (रे)ग ग ग म	प प प –	प (ध)ध म ग
	ऽ साँ ची क	हो ऽऽ मो से	ब ति याँ ऽ	रे ऽ पि या
	0	3	×	2

नंद				गम धप रे सा
	ऽ साँ ची क	हो ऽऽ मो से	ब ति याँ ऽ	रेऽ ऽऽ पि या
	0	3	×	2

खमाज	– ग ग म	म (रे)गग ग म	प प प –	
	ऽ साँ ची क	हो ऽऽ मो से	ब ति याँ	
	0	3	×	

बिहाग			प नि (सां) –	नि (ध)प गम (रे)ग
	ऽ साँ ची क	हो ऽऽ मो से	ब ति याँ ऽ	रे ऽ पिऽ या
	0	3	×	2

खमाज	– ग ग म	म (रे)ग ग ग म	प प प –	
	ऽ साँ ची क	हो ऽऽ मो से	ब ति याँ ऽ	
	0	3	×	

इसके अतिरिक्त ठुमरी गाते समय उसके मूल धुन या राग में लगने वाले स्वरों के शुद्ध, कोमल, तीव्रादि रूपों को बदलकर भी उसमें विभिन्न रागों के मिश्रित प्रयोग का चमत्कार दिखाया जाता है। इस प्रक्रिया में, प्रायः मूल राग व उसमें मिश्रित किए जाने वाले रागों में सामंजस्य स्थापित करने वाले समान (common) स्वरों को माध्यम मानकर वहाँ से राग परिवर्तन या मूल राग का पुनर्ग्रहण होता है। निम्नलिखित उदाहरण में पीलू और भैरवी का योग तथा पुनः पीलू में प्रत्यागमन कोमल गांधार के माध्यम से हुआ है :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(पीलू)

रे
निसा रेग ग, (ग), सा रे नि सा -नि ध प, म प नी नि, सा ग,

सा नि सा;

(भैरवी)

ग
ग, गम ध प -म ग, सा ग म प (नि), ध प -म ग, प म ध प,

म म
ग; प ग;

(पुनः पीलू)

रे
(ग), सा रे नि सा -नि ध प, नी नि सा ग, सानि सा।

इसी प्रकार अन्य रागों में भी अनेक विभिन्न रागों का मिश्रण किया जा सकता है।

ठुमरी-गान में रागों के छायाभास व मिश्रण कौशल को प्रायः 'मांझ' या 'जिला' भी कहा जाता है, जिनका प्रयोग बोलबनाव की ठुमरी में विशेष रूप से होता हैं। बोलबनाव ठुमरी की गानशैली में रागों के तिरोभाव-आविर्भाव क्रियाकोशल के साथ साथ कण, मुर्की, खटका, मींड, जमजमा, गिटकिरी इत्यादि गमकों तथा शृंगार व करुणा की अभिव्यक्ति के लिए दर्द, हूक, पुकार इत्यादि भावाभिव्यंजक ध्वनिविकारों का भी प्रयोग किया जाता है।

शास्त्रीय दृष्टि से दर्द, हूक व पुकार 'काकु' के अंतर्गत आते हैं।[12] इनकी अभिव्यक्ति व गेयत्व की सुविधा के लिए बोलबनाव करते समय प्रायः रे, अरे, हाँ, हो, हाय इत्यादि संबोधक व हृदयोद्गारात्मक स्तोभाक्षरों का प्रयोग भी किया जाता है। इस प्रकार के निरर्थक किंतु हृदयोद्गार प्रकट करने वाले स्तोभाक्षरों के प्रयोग सामवेद से लेकर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, डिंगल व परवर्ती लोकभाषाओं तक के गेय काव्यों में मिलते हैं,[13] जिनका प्रयोग गेयत्व की सुविधा व हृदयोद्गारों की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता रहा है। आज भी लोकगीतों में ऐसे प्रयोग प्रायः दिखाई पड़ते हैं।

इन सब विशेषताओं से युक्त पूरब अंग की ठुमरी अपने सुरीलेपन, चैनदारी, बोलबनाव व स्वरों के विशिष्ट लगाव के लिए सुप्रसिद्ध है। बोलबनाव की ठुमरियों के विकास व प्रचार के लिए उत्तर प्रदेश के लखनऊ और बनारस (वाराणसी) नगर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बहुत समय से विख्यात हैं, जिनके आधार पर 'पूरब अंग ठुमरी' की गायकी के मुख्यतः दो भेद माने जाते हैं। इन्हें क्रमशः लखनवी शैली और बनारसी शैली कहा जाता है।

ऐसा माना जाता है कि ठुमरी गान का प्रचलन लखनऊ में पहले हुआ। अतः तुलनात्मक दृष्टि से ठुमरी की लखनवी शैली अधिक पुरानी मानी जाती है। बनारस में ठुमरी का आगमन लखनऊ से होने के कारण, बनारसी शैली को अपेक्षाकृत परवर्ती माना जाता है। 'पूरब अंग' की प्रतिनिधि और परस्पर संबद्ध होने के कारण, यद्यपि दोनों शैलियाँ एक-दूसरे से इतनी मिलती-जुलती हैं कि दोनों में स्पष्टतया भेद करना प्रायः कठिन है, किंतु फिर भी रचना व गानशैली की प्रकृति के आधार पर किसी सीमा तक दोनों में सूक्ष्म भेद किया जा सकता है।

(क) **लखनवी शैली :** लखनऊ और उसके निकटस्थ क्षेत्रों में विशेषतया प्रचलित होने के कारण इसे लखनवी शैली की ठुमरी या लखनवी ठुमरी कहा जाता है। इस शैली की ठुमरी रचनाओं में ब्रजभाषा के साथ-साथ प्रायः लखनऊ व उसके आसपास बोली जाने वाली अवधी बोली का प्रयोग भी मिलता है। लखनऊ व उसके आसपास के ग्रामीण क्षेत्रों में बोली जाने वाली इस लोकभाषा को उन्नीसवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध ठुमरीकार नवाब चौलक्खी वज़ीर मिर्ज़ा वाला क़दर उर्फ़ 'कदर पिया' ने 'भाखा' कहा है।[14] इस 'भाखा' का उदाहरण निम्नलिखित ठुमरियों से स्पष्ट होता है

1. ठुमरी पीलू[15]

स्थायी

मोरी अँखियों ने बैर किया।
देखो, मोसे, कदर पिया॥

अंतरा

आप लरत और मन का फँसावत।
इनहीं कारन घायल होत जिया॥

2. ठुमरी पीलू[16]

स्थायी

मोरी अखियाँ ढूँढ रहीं।
हीं, तुमका पावत नाहीं कहीं॥

अंतरा

कदर पिया, जिनका तुम चाहत।
ना जानू कौने देस गईं॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लखनवी ठुमरियों में 'भाखा' अर्थात् व्रज और अवधी के मिले-जुले रूप के साथ ही कभी-कभी उर्दू भाषा के शब्दों का भी यथोचित रूप में यत्किंचित प्रयोग देखने को मिलता है। इस प्रकार की एक पुरानी व प्रसिद्ध ठुमरी का उदाहरण इस प्रकार है :

ठुमरी भैरवी

स्थायी

बाबुल मोरा नइहर छूटोहि जाय।

अंतरा

चार कहार मिल डोलिया उठावें।
अपना बेगाना छूटो ही जाय॥

वाजिद अली शाह 'अख्तर' कृत भैरवी की इस ठुमरी के अंतरे में उर्दू भाषा का 'बेगाना' शब्द, जिसका अर्थ 'पराया' होता है, बहुत उपयुक्त स्थल पर प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार महाराज बिंदादीन की एक अन्य ठुमरी का उदाहरण प्रस्तुत है जिसमें उर्दू भाषा के खबर, नज़र, उम्र इत्यादि शब्दों को अवधी बोली के प्रत्यय सहित क्रमशः खबरिया, नजरिया व उमरिया के रूप में प्रयोग किया गया है :

ठुमरी खमाज[17]

स्थायी

पिया के आवन की सुनत खबरिया
राह तकत हूं मैं नेक नजरिया॥

अंतरा

तड़पत हूँ मोहे कल न परत है।
बिंदा कहत यूहीं बीती उमरिया॥

अवध के नवाबी युग में विकसित होने के कारण ठुमरी की इस लखनवी शैली पर तत्कालीन वातावरण का बहुत प्रभाव है। उस युग के सामंती वैभव, विलास व दरबारी अदब क़ायदे की मिली-जुली संस्कृति से प्रभावित इस लखनवी शैली के ठुमरी गान में नृत्यात्मकता के साथ-साथ नाज़ोनखरे, बनाव, सिंगार और नफ़ासत की प्रधानता दिखाई पड़ती है। इन सब विशेषताओं के फलस्वरूप लखनऊ में बोलबनाव ठुमरी-गान का एक ऐसा विशिष्ट ढंग प्रचलित हुआ, जिसमें कि संगीतपक्ष के कलात्मक कौशल के प्रति अधिक सजग रहते हुए बोलबनाव किया जाता है। ठुमरी गान की इस लखनवी शैली को विशेष रूप से अवध के नवाबी युग की नागरिक सभ्यता[18] की देन कहना चाहिए, जिसमें भावप्रकाशन का लक्ष्य प्रमुख

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होने पर भी, उसकी अभिव्यंजना के लिए कलात्मक बनाव सिंगार अधिक किया जाता है।

लखनऊ क्षेत्र में टप्पा और ठुमरी इन दोनों गान-विधाओं का बहुत प्रचार रहने के कारण लखनवी शैली के ठुमरी-गान में टप्पा शैली के स्वरसंदर्भों की झलक भी कहीं-कहीं दिखाई पड़ती रहती है। उदाहरण के लिए कव्वालबच्चे उस्ताद सादिक़ अली खाँ कृत भैरवी की एक ठुमरी का 'टेक' प्रस्तुत है, जिसमें टप्पा शैली के छोटे-छोटे स्वर-संदर्भ व्यवहृत हैं।

ठुमरी भैरवी (ताल पंजाबी-विलंबित लय)

				म	ग							ग	रे सा	नि	नि
–	सारे	म	मग	गमपप	मम-ग	रेसा	रेनि	सा	–	–	सारे	ममग	गरेरे	सासानि	सा
ऽ	अरे	जा	गोऽऽ	रेऽऽऽ	ऽऽऽनि	दिया	ऽकी	मा	ऽ	ऽ	ऽऽ	ऽऽऽ	ऽऽ	ऽऽऽ	ती
0				3				×				2			

इसी प्रकार लखनऊ में गाए जाने वाले एक पुराने दादरा गीत के अंतरे का एक भाग प्रस्तुत है, जिसमें टप्पा शैली के स्वरसंदर्भ प्रयुक्त है

दादरा-काफ़ी

अंतरा

–	–	म	प	नी	–	नि	सां	–	सां	–	–
ऽ	ऽ	ए	क	तो	ऽ	गो	री	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
×			0			×			0		
							सां			नि	
नि	ध	–	ध	–	ध	धनि	रेंरें	सांनि	धनि	सांसां	निध
नै	ऽ	ऽ	न	ऽ	र	सीऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ
×			0			×			0		
				म			ग				
पध	निध	पम	गम	पप	मग	रेग	मम	गरे	सानि	सारे	मप
ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ
×			0			×			0		×

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

			सां	नि		प					
धनि	सांरें	गं	रें	सां	नि	ध	नि	सां	सां	—	—
ऽऽ	ऽऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ले	ऽ	ऽ
×			0			×			0		

इसके अतिरिक्त लखनवी शैली में कुछ विशेष स्वरसन्निवेशों को विशिष्ट ढंग से प्रयोग किए जाने का भी प्रचलन प्राय: दृष्टिगत होता है, जैसे

1. खमाज ठुमरी (त्रिताल-मध्यलय)

स्थायी

सा,	ग	रे	ग	म	ग	म	पध	नि	धप	म	ग	म	पध	निसां	नि
न,	मा	ऽ	नुँ	गी	ऽ	न	माऽ	ऽ	नुँऽ	गी	ऽ	न	माऽ	ऽऽ	नुँ
×				2				0				3			
सां	—	—	—												
गी	ऽ	ऽ	ऽ												
×															

+2. खमाज होली (दीपचंदी-वि०)[19]

स्थायी

ग
न

								र					
म	ग	म	ग	रे	ग	—	नि़	रे	नि़	रेग	रे	गमप	म
खे	ऽ	ऽ	लूँ	ऽ	ऽ	ऽ	गी	ऽ	ऽ	तो	ऽ	ऽऽऽ	से
×			2				0			3			
							ध	ग					
प	—	—	प	—	—	ध	ग	प	—	म	ग	—,	,ग
हो	ऽ	ऽ	री	ऽ	ऽ	क	न्है	ऽ	ऽ	या	ऽ	ऽ,	न
×			2				0			3			

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

3. दादरा-काफ़ी (दादरा-मध्यलय)

ग॒
न

रे	ग॒	रे	ग॒	सा	रे	प	–	–	–	ग	–
ज	र	ऽ	ऽ	भ	र	मा	ऽ	ऽ	ऽ	रा	ऽ
×			0			×			0		

म	ग	म	ग	म,	ग॒
रे	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ,	न
0			0		

अंतरे का अंतिम भाग

–	–	नी	–	नी	–	सां	नि	सां	नि॒	ध	ध
ऽ	ऽ	दू	ऽ	जे	ऽ	क	र	ऽ	त	ऽ	इ
×			0			×			0		

नि॒	ध	नि॒	ध	प	ध	प	म	प	ग	म,	ग॒
शा	ऽ	ऽ	रा	ऽ	ऽ	रे	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ,	न
×			0			×			0		

(टिप्पणी : पूर्वोक्त सभी उदाहरणों में रेखांकित स्वरसंदर्भ विशिष्ट स्वर-सन्निवेशों के परिचायक हैं।)

लखनऊ, ग़ज़ल और उर्दू शायरी के विकास व प्रसार का एक प्रमुख केंद्र रहा है। इसलिए वहां गाई जाने वाली ठुमरी के साथ ग़ज़ल और उर्दू शायरी का परस्पर संपर्क स्वाभाविक ही था। फलत: लखनवी ठुमरी गान में, बीच-बीच ठुमरी के विषयानुकूल उर्दू भाषा के शेर कहने का रिवाज भी प्रायः मिलता है।

(ख) बनारसी शैली : पूर्वी उत्तर प्रदेश में स्थित बनारस (वाराणसी) नगर और उसके निकटस्थ क्षेत्रों में विशेषतया प्रचलित होने के कारण इसे बनारसी ठुमरी या बनारसी शैली की ठुमरी कहा जाता है। इस शैली की ठुमरी-रचनाओं में ब्रज व अवधी के साथ-साथ पूर्वी क्षेत्रों में बोली जाने वाली भोजपुरी व मगही इत्यादि पूर्वी बोलियों का प्रयोग भी प्रायः दिखाई पड़ता है। इस प्रकार की ठुमरियों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

1. ठुमरी भैरवी[20]

स्थायी

मोरे करमवाँ में याही लिखा हो राजा,
कर ले सवतिया से प्रीत ।।

अंतरा

जहां रहियो राजा, कुसल से रहियो ।
मोरे सेंदुरवा के भाग हो राजा,
कर ले सवतिया से प्रीत ।

2. ठुमरी भैरवी[21]

स्थायी

बारे बलम फुलगेंदवा न मारो,
लगत करेजवा में चोट ।।

अंतरा

सैयाँ निरमोहिया दरदिया न जाने,
रखत पलकिया की ओट ।।

3. ठुमरी[22]

स्थायी

एरी दैया मोरी झुलनी हेरानी ।।

अंतरा

मूँद किवरवा मैं जो सोई, भीतर सोवै देवरा ।
भिनसरवा की नींद, मोरी झुलनी हेरानी ।।

बनारसी ठुमरी पर पूर्वी उत्तर प्रदेश में गाए जाने वाले चैती, कजरी, पुरवी, झूमर आदि लोकगीतों व उनकी धुनों का बहुत प्रभाव है। फलतः बनारसी शैली के ठुमरी-गान में बोलबनाव करते समय बोलों के 'कहन' अर्थात् लहजे में पूर्वी बोलियों के विशिष्ट उच्चारण की मिठास के साथ-साथ स्वरसन्निवेशों के प्रयोग में पूर्वी लोकधुनों की सादगी व सरलता के दर्शन होते हैं। अतः इस शैली में बोलों का 'बनाव', अर्थात् गीत के बोलों में निहित भावों के अनुकूल स्वरसंदर्भों का प्रयोग बहुत स्वाभाविक व सरल रूप में होता है। साथ ही बोलों के बनाव में मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिए हूक, दर्द और पुकार अर्थात् 'काकु' प्रयोग विशेष रूप से किया जाता है। इस प्रकार, संक्षेप में, इन विशेषताओं के आधार पर कहा जा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकता है कि ठुमरी गान की बनारसी शैली, उत्तर प्रदेश के पूर्वी क्षेत्र की लोक-संस्कृति से अधिक प्रभावित है।[23]

यदि तकनीकी दृष्टिकोण से बनारसी शैली की ठुमरी की प्रत्यक्ष गानक्रिया का विश्लेषण किया जाय तो मोटे तौर पर उसमें बोलों के 'कहन' पर अधिक ध्यान, सरल व सीधे स्वरसमूहों के प्रयोगों का बाहुल्य और स्वरों की क्रमानुसार बढ़त की विशेषता दिखाई देगी। बनारसी शैली के ठुमरी गान में कभी-कभी सजावट के लिए मूल बंदिश के विषयानुकूल रीतिकालीन हिंदी की ब्रज, अवधी इत्यादि बोलियों में रचित दोहा, सोरठा, सवैया, कवित्त आदि रचनाएँ बीच-बीच में कहने का भी प्रचलन है।

इस प्रकार पूरब अंग ठुमरी की लखनवी और बनारसी शैलियों के विवेचन के आधार पर तुलनात्मक दृष्टिकोण से दोनों में साधारणतया निम्नलिखित विभेद किये जा सकते हैं :

लखनवी शैली	बनारसी शैली
1. लखनऊ क्षेत्र में विकसित।	1. बनारस क्षेत्र में विकसित।
2. ठुमरी रचनाओं में ब्रजभाषा के साथ लखनऊ व उसके आस-पास बोली जाने वाली अवधी बोली का प्रयोग।	2. ठुमरी रचनाओं में ब्रजभाषा व अवधी बोली के साथ साथ भोजपुरी व मगही आदि पूर्वी बोलियों का भी प्रयोग।
3. अवध के नवाबी युग की नागरिक संस्कृति से प्रभावित।	3. पूर्वी उत्तर प्रदेश की लोकसंस्कृति से प्रभावित।
4. कथक नृत्य तथा टप्पा व ग़ज़ल आदि गानविधाओं की गान शैलियों का प्रभाव।	4. चैती, कजरी, पुरबी, झूमर आदि लोकगीतों व उनकी धुनों का प्रभाव।
5. बोलबनाव के कलापक्ष पर अधिक ध्यान।	5. बोलबनाव के भावपक्ष पर अधिक ध्यान।
6. बनाव, सिंगार व नफ़ासत की प्रधानता।	6. सादगी व सरलता की प्रधानता।
7. ठुमरी के विषयानुकूल उर्दू भाषा के शेरों को ठुमरी गान के बीच-बीच कहा जाना।	7. ठुमरी के विषयानुकूल रीतिकालीन हिंदी की ब्रज, अवधी इत्यादि बोलियों में विरचित दोहा, सोरठा, सवैया, कवित्त आदि को ठुमरी गान के बीच-बीच कहा जाना।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वर्तमान शताब्दी के लगभग तीन दशकों तक तो विशुद्ध लखनवी शैली के ठुमरी गान का प्राय: प्रचलन रहा। किन्तु जैसे-जैसे, समाज में ठुमरी की बनारसी शैली अधिक लोकप्रिय होती गई, वैसे-ही-वैसे, लखनवी शैली प्रचार से क्रमश: हटती गई। यह भी कहा जा सकता है कि कालांतर में उसकी अनेक विशेषताएँ बनारसी शैली में ही समाहित हो गईं। जो भी हो, धीरे-धीरे उत्तर भारतीय संगीत में ठुमरी की 'बनारसी शैली' का इतना प्रचलन व प्रभुत्व बढ़ा कि वर्तमान समय में वह 'पूरब अंग ठुमरी' की एक म्रात्र प्रतिनिधि समझी जाती है और 'लखनवी शैली' का केवल नाम ही शेष रह गया है।

(2) पंजाब अंग

वर्तमान उत्तर भारतीय संगीत में बोलबाँट की 'पछाहीं ठुमरी' और बोल बनाव की 'पूरब अंग की ठुमरी' के अतिरिक्त ठुमरी गाने की एक अन्य शैली भी वर्तमान समय में बड़ी लोकप्रिय हो रही है, जिसे 'पंजाब अंग की ठुमरी' कहा जाता है। 'पंजाब अंग' की शैली आज से लगभग चालीस वर्ष पहले, इसी शताब्दी के चौथे दशक से लोकप्रिय हुई है।

सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ पं० दिलीपचंद्र वेदी के कथनानुसार ठुमरी की पंजाबी शैली का प्रारंभ आज से लगभग साठ वर्ष पूर्व कसूर के सुप्रसिद्ध गायक स्व० अलीबख्श खाँ द्वारा हुआ। उन्हें ठुमरी का ज्ञान लखनऊ में स्व० महाराज बिंदादीन व उनके भाई स्व० कालिकाप्रसाद तथा स्व०ठाकुर नवाबअली खाँ के संपर्क से हुआ था। बाद में 'पंजाब अंग' की शैली को प्रतिष्ठित करने वालों में स्व० अलीबख्श खाँ के पुत्रों अर्थात् पंजाब के सुविख्यात गायक स्वर्गीय बड़े ग़ुलाम अली ख़ाँ तथा उनके छोटे भाई स्वर्गीय बरकत अली खाँ का नाम विशेष रूप से लिया जाता है।

'पंजाब अंग' ठुमरी की गानशैली के आधार स्तंभ माने जाने वाले सुविख्यात गायक स्वर्गीय उस्ताद बड़े ग़ुलाम अली ख़ाँ स्वयं 'पंजाब अंग' के अस्तित्व को 'पूरब अंग' से स्वतंत्र व भिन्न मानने को तैयार नहीं थे। संगीत नाटक अकादमी, नई दिल्ली में टेप की गई एक भेंटवार्ता में उन्होंने स्वत: स्वीकार किया था कि वस्तुत: ठुमरी का एक ही 'अंग' है और वह है 'पूरब'। उनके अनुसार पंजाब में कभी भी संगीत की विशिष्ट शैली के रूप में ठुमरी विकसित नहीं हुई, अपितु वहाँ के लोगों को उसका परिचय पिछली (उन्नीसवीं) शताब्दी के अंतिम भाग में मिला और तभी से वहाँ पर परंपरागत रूप में पूरब की ही शैली में ठुमरी गाई जाती रही।[24] आगे चल कर स्वर्गीय बड़े ग़ुलाम अली ख़ाँ और स्वर्गीय बरकत अली ख़ाँ प्रभृति गायकों ने उस ठुमरी गान में पंजाब के लोकधुनों व वैचित्र्यपूर्ण स्वर-सन्निवेशों का समावेश करते हुए उसमें अपनी कल्पना व कलात्मक प्रतिभा से एक नया चमत्कार पैदा किया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यदि ध्यानपूर्वक निरीक्षण किया जाय तो बोलबाँट की 'पछाहीं' और बोल-बनाव की 'पूरबी' ठुमरी में गीतरचना व शैली की भिन्नता स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। परंतु ,पूरब' और 'पंजाब' इन दोनों अंगों के ठुमरी गान में केवल स्वरों के बर्ताव की भिन्नता के अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता। प्रायः यह देखा जाता है कि 'पंजाब अंग' की शैली में ठुमरी गाने वाले लोग हिंदी की ब्रज, अवधी व भोजपुरी आदि बोलियों में विरचित बोलबनाव की ठुमरी तथा दादरा गीतों के गान में पंजाब प्रदेश के हीर, माहिया, टप्पा, मुल्तानी काफी, सिंधी काफी और पहाड़ी इत्यादि लोकगीतों की धुनों के वैचित्र्यपूर्ण स्वरसंदर्भों का समावेश करते हुए उन्हें अपने विशिष्ट ढंग से गाते हैं। इस दृष्टि से, एक ही ठुमरी को गाते समय, केवल स्वरसन्निवेशों के 'वर्ताव' को बदल देने पर उसमें 'पूरब' या 'पंजाव' अंग दिखाया जा सकता है। अतः दोनों 'अंगों' के भेद का आधार केवल विशिष्ट स्वर-सन्निवेशों के प्रयोगों का परिणाम मात्र ही है।

इससे निष्कर्ष निकलता है कि 'पूरब अंग' की ठुमरी में पंजाब के लोक-सगीत के स्वरसंदर्भों का रंग देते हुए उसे वैचित्र्यपूर्ण बनाने से ही ठुमरी गान की पंजाबी शैली विकसित हुई है। इस प्रकार से, 'पूरब अंग' की एक शाखा होने पर भी विशेषकर पंजाबी ढंग से गाए जाने के कारण इस शैली के ठुमरी गान के लिए 'पंजाब अंग' शब्द रूढ़ होकर जनसमाज में प्रचलित हो चुका है। अतः ऐसी परिस्थिति में उसे 'पूरब अंग' से विकसित, किंतु एक विशिष्ट व भिन्न गान-शैली मान लेने में कोई हर्ज नहीं है।

ठुमरी और दादरा, दोनों ही ठुमरी शैली के गीतभेद होने पर भी, पूरब अंग के ठुमरी गायक-गायिकाएँ दोनों में भेद करते हैं। उनके अनुसार त्रिताल, सितार-खानी, दीपचंदी, जत व पंजाबी इत्यादि तालों में मध्य या विलंबित लय में गाए जाने वाले गीत 'ठुमरी' और दादरा या कहरवा ताल में मध्य या मध्यविलंबित लय में गाई जाने वाली रचनाएँ 'दादरा' हैं। परन्तु पंजाब अंग के ठुमरी-गायक इन दोनों में कोई भेद नहीं मानते। वे इन सभी को 'ठुमरी' ही कहते हैं।

स्वरवैचित्र्य, कण, मुर्की, खटका और टप्पाशैली की छोटी छोटी खटकेदार तानों का व्यवहार पंजाब अंग के ठुमरी की विशिष्टता है। टप्पाशैली की तानों में प्रत्येक स्वर के दुहरे या तिहरे रूप को, उस स्वर के पूर्ववर्ती स्वर के कण का खटका देते हुए, प्रयोग किया जाता है, जैसे

                    सां   नि
1. काफ़ी में— नि सां रें रें सां नि, ध नि सां सां नि ध,

                    म   ग
प ध नि धपमग, म पप मग, रे ग म म ग

          रे   सा   ध   प
रे सा नि सा; ग ग रे रे म प, नि नि ध ध नि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नि ध प म ग
सां; सां रें सां सां नि नि ध ध प प म म

रे सा नि
ग ग रे रे सा सा।

प म ध प म ग रे
2. भैरवी में— ध ध प प, नि नि ध, ध प, प म, म ग, ग

सा नि
रे रे सा सा।

पंजाब अंग के ठुमरी गायक-गायिकाओं का आकर्षण, बोलबनाव और मान्य रागनियमों के प्रति विशेष न होकर स्वरसमूहों के वैचित्र्यपूर्ण प्रयोगों की ओर अधिक रहता है। फलत: पंजाब अंग के ठुमरी गान में प्राय: स्वरों के शुद्ध, कोमल व तीव्रादि रूपों का क्रमश: एक के बाद एक का व्यवहार भी स्वतंत्रतापूर्वक किया जाता है, जैसे

सा ग ग म ग, म ध ध नि ध, ध सां नि रें सां;

गं गं गं सां, रें रें रें नि, ध ध ध म, ग ग ग सा;

ग म ध नि रें सां निध ध, म ध धध म ग, रे रे रे म ग सा।

बोलों की स्वाभाविक भावाभिव्यंजना और रागों के मान्य नियमों के प्रति अवहेलना बरतने के कारण 'पंजाब अंग' के ठुमरी गान में, 'पूरब अंग' के ठुमरी गान की भाँति, सुस्थिरता व क्रमबद्धता नहीं दिखाई पड़ती। यद्यपि स्वर्गीय गुलाम अली खाँ और उनके भाई स्वर्गीय बरक़त अली खाँ ने अपनी ठुमरी-गायकी में पंजाब अंग के स्वरवैचित्र्य और चमत्कार के साथ-साथ पूरब अंग की क्रमानुसार बढ़त और बोलों के बनाव अर्थात् भावाभिव्यक्ति की विशेषता को भी क़ायम रखा था। परंतु इन दोनों गायकों के बाद, पंजाब अंग की ठुमरी गाने वाले लोग 'पंजाब' और 'पूरब' के गुणों के संतुलित समन्वय की विशेषता को क़ायम न रख सके। फलत: आजकल गाई जाने वाली पंजाब अंग की ठुमरी केवल स्वरवैचित्र्य प्रधान होकर रह गई है।

इस प्रकार अभी तक वर्तमान ठुमरी गान में बोलबाँट या बंदिशी ठुमरी की 'पछाहीं' तथा बोलबनाव ठुमरी की 'पूरब अंग' व 'पंजाब अंग' नामक शैलियाँ प्रचलित हैं। ठुमरी की प्रकृति लोकधुनों के इतनी अनुकूल है कि जिन-जिन प्रदेशों में ठुमरी गान का प्रचार व प्रसार हुआ है, उन प्रदेशों के लोकसंगीत की धुनों और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उनकी विशेषताओं का समावेश भी ठुमरी गान में होता गया है, जैसे पूर्वोत्तर तथा विहार प्रदेश में पुरबी, चैती, कजरी आदि; पंजाब में हीर, माहिया, टप्पा, मुल्तानी काफी, सिंधी काफी, पहाड़ी आदि; राजस्थान में माँड, मेवाड़ा आदि; महाराष्ट्र में लावणी व बंगाल में माटियाली, बाउल, कीर्तन इत्यादि। इन विभिन्न प्रदेशों के गायक-गायिकाएँ जब ठुमरी गाने की चेष्टा करते हैं तो उनके ठुमरी-गान में स्वभावत. उन प्रदेशों के लोकधुनों और लोकसंगीत की विशिष्टताओं का समन्वय हो जाता है। अतएव, ठुमरी-गान की बढ़ती हुई लोकप्रियता को देखते हुए इस बात की बहुत संभावना है कि भविष्य में 'पंजाब अंग' की भाँति ही, अन्य प्रादेशिक संगीत के गुणों से युक्त ठुमरी-गान की अन्य शैलियाँ भी विकसित होकर प्रचलित हो जाएं। किंतु इतना अवश्य है कि गान-शैलियों की इस विकास-प्रक्रिया में, ठुमरी में निहित भावों की अभिव्यंजनात्मकता का मूल गुण नष्ट नहीं होना चाहिए।

संदर्भ-संकेत

1. देखिए—"ललनसागर".
2. "हर्षेऽथ प्रार्थने चैव शृंगाराद्भुतदर्शने।
   ध्रुवा प्रासादिकीकार्या तज्ज्ञैर्मध्यलयाश्रया ॥325॥" (भरत, "नाट्यशास्त्र" द्वात्रिंशोऽध्यायः).
3. "संगीत" (मासिक), अक्टूबर 1971, पृ० 19.
4. श्रीमती सुमित्रा आनंदपाल सिंह, रामपुर की एक शोधयात्रा, "सुरसिंगार", 1965, Volume 3, April-October, Joint No. 3-4, Page 46.
5. हीरालाल, "मजमुये राग", पृ० 19.
6. इस ठुमरी में निमा रेसा नि ध तथा ऋषभ के साथ-साथ गांधार की प्रधानता मारा की अभिव्यक्ति करती है.
7. भातखंडे, पं० विष्णु नारायण, "क्रमिक पुस्तक मालिका" (तीसरी पुस्तक), पृ० 588 (भीमपलासी; विलंबित ख्याल का अंतरा).
8. वही पुस्तक, पृ० 528 (बृंदाबनी सारंग; विलंबित ख्याल का अंतरा).
9. वही (चौथे पुस्तक), पृ० 456 (पूरिया; मध्यलय ख्याल का अंतरा).
10. वही, पृ० 607 (बहार; मध्यलय ख्याल का अंतरा).
11. "संगीत" (मासिक), सितंबर 1970, पृ० 22.
12. Thakur Jaideva Singh, Evolution of Thumari, "कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका", दिसंबर, 1965, पृ० 37.
13. (*i*) पराजपे, डॉ० शरच्चंद्र श्रीधर, "भारतीय संगीत का इतिहास", पृ० 80.
    (*ii*) ओझा डॉ० दशरथ व शर्मा, डॉ० दशरथ व शर्मा, डॉ० दशरथ, "रास और रासान्वयी काव्य", पृ० 71, 72 व 75.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

14. Pant, Chandra Shekhar, Literary Aspect of Thumari, "कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका", दिसंबर, 1965, पृ० 42.

15. भातखंडे, पं० विष्णु नारायण, "क्रमिक पुस्तक मालिका" (तीसरी पुस्तक), पृ० 628.

16. वही पुस्तक, पृ० 630.

17. Nirmala Joshi, Compositions of Maharaj Bindadin, "कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका", दिसंबर, 1965, पृ० 55.

18. Chaubey, Dr. S.K.. The Lucknow Thumari, *Uttar Pradesh*, December 1957, p. 27.

19. स्व० डॉ० श्रीकृष्ण नारायण रातांजनकर की लखनवी शैली में होली रचना.

20. श्री ठाकुर जयदेव सिंह से प्राप्त एक पुरानी ठुमरी (यह ठुमरी उन्हें भैया गनपतराव से सन् 1910 में मिली थी).

21. बनारस की गायिकाओं द्वारा गाई जाने वाली एक पुरानी व प्रसिद्ध ठुमरी.

22. भावे, कॅ० नरहर शंभुराव, "नर्तक म० शेख़ राहतअली इनका ठुमरी-संग्रह (तृतीय भाग), पृ० 88.

23. Chaubey, Dr. S K., The Lucknow Thumri, *Uttar Pradesh*, December 1957, p. 27.

24. Naina Devi, Thumari Gayaki, "कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका", दिसंबर, 1965, पृ० 66.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपसंहार

भारतीय मान्यतानुसार गान, वादन व नर्तन का समन्वय ही संगीत है। संगीत शब्द, गीत में 'सम्' उपसर्ग के योग से बना है। इससे संगीत में गीत की महत्ता स्वयंसिद्ध व निर्विवाद है। वादन और नर्तन 'गीत' को 'सम्यक्' बनाने में सहायक होते हैं। वादन द्वारा गान को उपरंजित करते हुए, जब नर्तन और अभिनय के आश्रय से गीत के पदार्थगत भावों को मूर्त किया जाता है, तब 'नृत्य' की विधा परिपूर्ण होती है।

नृत्य के, वीरत्व प्रधान पुरुषोचित 'तांडव' और शृंगार प्रधान स्त्रियोचित 'लास्य', यह दो भेद हैं। इनमें से, लास्यनर्तन व भावाभिनय सहित स्त्रियोचित कैशिकी वृत्ति से गाये जाने वाले गीत, ललित गानविधाओं की श्रेणी में आते हैं। ठुमरी भी एक ऐसा ही ललित गेयरूपक है, जिसके विकास का संबंध ब्रज के कृष्णलीला प्रधान रास के नाट्यरासक व चर्चरी आदि नृत्यात्मक गेयरूपकों की परंपरा से है।

संस्कृति के आदि काल से ही मनुष्य समाज में कलाओं के मुख्यतः दो रूप प्रचलित रहे हैं जिनमें से एक तो लोकरुचि पर अवलंबित और दूसरा विशिष्ट-लक्ष्य प्रधान रहा है। संगीत के क्षेत्र में इन्हीं को क्रमशः 'देशी' और 'मार्ग' कहा गया है। लोकरंजन, देशीसंगीत का प्रमुख गुण है। नियमबद्धता व उसका यथोचित परि-पालन, मार्गसंगीत की विशेषता रही है।

ठुमरी की उत्पत्ति, विकास और वर्तमान शैलियों के विस्तृत विवेचन से ज्ञात होता है कि ठुमरी देशीसंगीत की एक ऐसी उत्तर-भारतीय गीतविधा है, जिसे मूलतः नर्तकियाँ भावाभिनय सहित नृत्य के साथ गाती थीं। कालांतर में उसी ठुमरी का विकास एक विशिष्ट गानविधा के रूप में हुआ और आज उसकी अनेक शैलियाँ प्रचलित हैं।

स्वर, शब्द, और ताल ये तीनों ही, प्रत्येक गीताविधा के मूल तत्व हैं। इनमें से किसी की अधिक प्रधानता होने पर अवशिष्ट तत्वों की स्थिति सहायक जैसी हो जाती है। फलतः स्वरप्रधान गीतभेदों में शब्द व ताल सहायक रूप में होते हैं,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जैसे ख्याल, टप्पा आदि। इसी प्रकार शब्दप्रधान गीतभेदों में स्वर व ताल की स्थिति शब्दों के सहायक के रूप में होती है, जैसे ठुमरी, दादरा, भजन, ग़ज़ल, आदि। गीत में निहित प्रधान तत्व की परिपूर्णता व सौंदर्य वृद्धि के लिए प्रायः सहायक तत्वों के नियमों में शिथिलता भी बरत ली जाती है।

परंपरागत उच्चांग भारतीय संगीत में रागगान की प्रधानता होने से, भारतीय संगीत की किसी भी गीतविधा की श्रेष्ठता का मानदंड राग ही समझा जाता है। अतः जिस गानविधा में किसी राग के मान्य नियमों व उसके विशिष्ट स्वरसंदर्भों के प्रयोग का जितना ही अधिक परिपालन होता है उसे उतना ही ऊँचा व श्रेष्ठ समझा जाता है।

'बोलों' की महत्ता के कारण, ठुमरी गान, मुख्यतः शब्दप्रधान गीत की श्रेणी के अंतर्गत आता है। बोलों का भावाभिव्यंजन, ठुमरी का प्रधान लक्ष्य होने से उसके गान में पदार्थाभिव्यक्ति की स्वाभाविकता के लिए, राग के मान्य नियमों के प्रति शिथिलता बरतते हुए, प्रायः उसमें अन्य रागों के विशिष्ट स्वरसंदर्भों का प्रयोग भी कर लिया जाता है। अतएव, अत्यन्त कलात्मक व लोकप्रिय गीतविधा होते हुए भी, रागों के मान्य नियमों में शिथिलता बरते जाने के कारण, ठुमरी-गान को प्रायः हेय व क्षुद्र समझा जाता रहा है।

जहां तक गाने में राग मिश्रण किए जाने का संबंध है, उसका उल्लेख प्राचीन संगीत शास्त्रों में भी मिलता है। संगीतरत्नाकर में शार्ङ्गदेव ने जहाँ राग-मिश्रण को गायकों का एक दोष बताते हुए, गाने में राग-मिश्रण करने वाले को 'मिश्रक' कहा है; वहाँ पार्श्वदेव ने संगीतसमयसार में राग-मिश्रण को गायकों का एक विशेष गुण बताते हुए राग व रागान्तरच्छाया को दोषरहित रूप में मिश्रित करते हुए प्रवीणतापूर्वक गाने वाले गायक को 'मिश्र' कहा है।[1]

शार्ङ्गदेव और पार्श्वदेव, दोनों के राग-मिश्रण संबंधी कथनों की समीक्षा करने से प्रतीत होता है कि गाते समय प्रमादवश, अनजाने में या असावधानी के कारण राग-मिश्रण हो, तो वह एक प्रकार का गायन-दोष है; किन्तु मनोरंजन के लिए, राग-मिश्रण को यदि समझ-बूझकर सावधानीपूर्वक, दोषहीन व कलात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाय तो वह गायक का एक विशेष कौशलयुक्त गुण हो जाता है। ठुमरी-गान में किया जाने वाला राग-मिश्रण निश्चय ही दूसरे प्रकार का, अर्थात् पार्श्वदेव द्वारा वर्णित 'दोषवर्जित न प्रवीणतापूर्वक किए जाने वाले' श्रेणी का है। अतः ठुमरी-गान में किए जाने वाले राग-मिश्रण-कौशल को शास्त्रीय समर्थन प्राप्त है।

स्थूल की तुलना में सूक्ष्म की अनुभूति के लिए मानव बुद्धि व मन के अधिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परिष्कार व सुसंस्कार की अपेक्षा होती है। अतः जो कलाविधाएँ जितनी ही अमूर्त या सूक्ष्म होती हैं उन्हें उतना ही श्रेष्ठ व उत्तम समझा जाता है।

शब्दों का अर्थ नियत होने के कारण, किसी शब्द को सुनने पर उसका शब्दार्थ कल्पना में बुद्धिपटल पर चित्रित होता है, किन्तु निराकार होने के कारण स्वर की ध्वनि की केवल अनुभूति मात्र होती है। इस दृष्टि से शब्द, साकार व बुद्धिगम्य तथा स्वर, निराकार व हृदयगम्य है। अतएव शब्द और स्वर की तुलना में, स्वर के अधिक अमूर्त व सूक्ष्म होने से भारतीय संगीत में शास्त्रीय परंपरा के ख्यालादि जैसे स्वरप्रधान गीतभेदों को ठुमरी जैसे शब्दप्रधान गीतभेदों से अधिक श्रेष्ठ माना जाता है।

स्वरप्रधान गीतविधाओं से श्रेष्ठ न समझे जाने पर भी, बोल (शब्द) प्रधान ठुमरी गान के कुछ विशिष्ट नियम व परंपरायें हैं, जिनका शास्त्रीय आधार भी है। अतः ठुमरी भी शास्त्रीय परंपरा की गीतविधाओं में आती है।

मूलतः नर्तकियों द्वारा गाई जाने वाली स्त्रैण गीतविधा होने के कारण ठुमरी को बहुत समय तक जनाना गाना समझ कर उसे हेय और उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है। किंतु ठुमरी गान की अभिव्यंजना-शक्ति व उसके कलात्मक गुणों को देखते हुए उसे हेय समझने का कोई कारण नहीं है। इसीलिए इस युग के प्रख्यात संगीत विद्वान स्वर्गीय पंडित विष्णु नारायण भातखंडे ने भी ठुमरी के प्रति अपने उद्गार प्रकट करते हुए लिखा है :

"ठुमरीचें गायन गर्हणीय मुळींच नाहीं, इतकेंच कीं, ठुमरी उत्तम रीतीनें गातां मात्र आली पाहिजे।[2]"—अर्थात् ठुमरी का गान घृणित कदापि नहीं है। इतना ही है कि उत्तम रीति से ठुमरी गाना आना चाहिए।

अतः आज के युग में ठुमरी की स्थिति को देखते हुए यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि ठुमरी एक श्रेष्ठ कलात्मक गेयविधा है और भारतीय संगीत में उसका स्थान अन्यतम है।

संदर्भ-संकेत

1. (i) "शुद्धच्छायालगौ रागौ मिश्रयन् मिश्रकः स्मृतः।
इतरेषां च रागाणां मिश्रकोभूरिमिश्रणात् ॥37॥"
(शार्ङ्गदेव, "संगीतरत्नाकर", तृतीय प्रकीर्णकाध्याय)

(ii) "रागे रागान्तरच्छायां मिश्रयन् दोषवर्जितः।
प्रवीणत्वेन यो गायेत् सोऽयं मिश्र उदाहृतः ॥73॥" (पार्श्वदेव, "संगीतसमयसार", नवम अध्याय 25-38).

2. "क्रमिक पुस्तक मालिका" (चौथें पुस्तक), शास्त्रीय माहिती पृ० 41.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संदर्भ ग्रंथसूची

अंग्रेजी

A Comparative and Etymological Dictionary of Nepali Language : R. L. Turner (London, Kegan Paul, French, Trubner and Co. Limited, 1931).

A Dictionary of Urdu, Classical Hindi and English (Part I) : John T. Platts (London, Sampson Low, Marston and Company Limited, 1884).

Aine Akabari : Fransis Gladwin (London, 1783).

Bhoja's Shringar Prakash : Dr. V. Raghavan (Madras, Punarvasu, 7 Shrikrishnapuram Street, 1963).

Folk Dance of Maksrashtra : A. J. Gogalekar (Bombay, Rajabhau Joshi. 79/80 Jivaji Maharaj Chawl, Mugbhat, 1950).

Hobson-Jobson (A Glossory of Colloquial Anglo-Indian Worlds) : Col. Henry Yule (London, John Marry Albemarle Street, 1903).

Indian Classical Dances : Balkrishna Menan, (Calcutta, Rabindra Bharati, 6/H Dwarkanath Lane, 1967).

Maharashtri and Deshya Prakrit Dictionary, (S.S. Jain Conference).

Marg, Volume XII, September 1959, No. 4 (Bombay, Marg Publications, 34-38, Bank Street).

Music from Various Authors : Sir S.M. Tagore (Calcutta, I. C. Bose and Co., 1975).

Natya, Nritta and Nritya : K.M. Varma (Calcutta, oriental Longmans, 1957).

प्रज्ञा : Banaras Hindu University Journal, Volume VIII (2), March, 1963 (Varanasi).

Sangit Natak Akademi Bulletin, (New Delhi, Sangit Natak Akademi, April 1960).

Sanskrit Grammar : Whiteney.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

The Musicians of India : Harednra Kishor Rai Chowdhury, Zamindar, Ramagopalpor Mymensingh, (Calcutta, 1929).

The Shorter Oxford English Dictionary (London, Oxford University Press, 1959.

Thumari—The Love Lyrics on Radha and Krishna : Sunil K. Bose (Research Paper).

Universal History of Music : Sir Saurindra Mohan Tagore (Varanasi, The Chowkhamba Sanskrit Series Office, 1963).

Uttar Pradesh (Lucknow, Publication Bureau, Information Department, Uttar Pradesh, 1957).

उर्दू

"उर्दू-हिंदी शब्दकोश": मु० मुस्तफ़ा खाँ 'मद्दाह' (लखनऊ, प्रकाशन शाखा, उत्तर प्रदेश, 1959).

"पुरानी देहली के हालात" (दरगाह कुली ख़ाँ की फ़ारसी पुस्तक मुरक्क़ये देहली का उर्दू अनुवाद) : अनु० ख्वाजा हसन निजामी (देहली, 1950).

"मादनुल मूसीक़ी" : मोहम्मद करम इमाम (लखनऊ, हिंदोस्तानी प्रेस, 1925).

"लखनऊ का आवामी स्टेज और इंदरसभा" : डॉ० मसऊद हसन रिज़वी (लखनऊ, किताब नगर, 1968).

जर्मन

Dass Grosse Dentsche Woerterbiich (1967).

Sanskrit Woerterbuch, (Volume II, क-छ) : Otto Boehtlingk and Rudolph Roth (St. Petersburg, 1855-1875).

प्राकृत

"पाइअ सद्द महण्णवो" (प्राकृत शब्द महार्णव) : पं० हरगोविंद दास त्रिकमचन्द शेठ (कलकत्ता, प्रथम संस्करण, 1928 ई०; तथा सपादक श्री वासुदेवशरण अग्रवास (वाराणसी, प्राकृत ग्रंथ परिषद् द्वितीय संस्करण, 1963).

"प्राकृत प्रकाश" : वररुचि (वाराणसी, चौखम्बा, 1920).

फ़ारसी

"उसूलुन्नग़मात-अल-आसफ़िया" : मीर साबिरअली शाह, हस्तलिखित प्रति, हिजरी सन् 1209 (1792 ई०).

"नग़माते सरोद" : हस्तलिखित प्रति, हिजरी सन् 1210 (1793 ई०).

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"तोहफ़तुलहिंद" : मिर्ज़ाख़ान मुहम्मद, सं० डॉ० एन० एच० अंसारी (तेहरान, (बुनियादे फ़रहंगे ईरान, 1354 हिजरी शम्सी (1975 ई०).

"रागदर्पण" : फ़क़ीरुल्लाह सैफ़ खान, सं० डॉ० नूरुल हसन अंसारी व डॉ० शत्रुघ्न शुक्ल (दिल्ली, डिपार्टमेंट ऑफ पर्शियन, यूनिवर्सिटी ऑफ देहली, 1981).

बँगला

"गीतसूत्रसार" कृष्णधन वंदोपाध्याय (कलिकाता, प्रकाशक—श्री नीरेन्द्रनाथ वंदोपाध्याय, 3/1, नीलमनि सरकार लेन, 1934).

"चलंतिका" (आधुनिक वंगभाषार अभिधान) : राजशेखर वसु द्वारा संकलित (कॅलिकाता, प्रकाशक—एम० सी० सरकार एंड संस प्राइवेट लिमिटेड, 14 वंकिम चाटुज्ये स्ट्रीट, वंगला संवत 1373 (1967 ई०).

"बांगाला भाषार अभिधान" (प्रथम भाग) : सं० श्री ज्ञानेन्द्रमोहन दास (कॅलिकाता, दि इंडियन पब्लिशिंग हाउस, 22/1 कार्नवालिस स्ट्रीट, 1937).

"मुघल भारतेर संगीत चिंता": राज्येश्वर मित्र, कॅलिकाता, प्रकाशक—श्री ज्योत्स्ना सिंह राय, लेखक समवाय समिति, (73 बी श्यामाप्रसाद मुकुज्ये रोड, बँगला सन् 1371 (1964 ई०).

"संगीत विज्ञान प्रवेशिका" (मासिक पत्रिका) : (अ) ज्येष्ठ, बँगला सन् 1336 (1929 ई०); (आ) माघ, वंगला सन् 1337 (1930 ई०); (इ) कार्तिक, बँगला सन् 1341 (1934 ई०).

मराठी

"क्रमिक पुस्तक मालिका" : पंडित विष्णु नारायण भातखंडे, मुंबई, भालचंद्र सीताराम सुकथनकर) (अ) दुसरें पुस्तक, सन् 1936 ई०, (आ) चौथें पुस्तक, सन् 1935 ई०, (इ) सहावें पुस्तक, सन् 1937 ई०.

"संगीत कला प्रकाश" (भाग पहला) : गायनाचार्य रामकृष्ण नरहर वझे (पूना, रामकृष्ण संगीत विद्यालय, 618, सदाशिवपेठ, 1938).

"संगीतशास्त्रकार व कलावंत यांचा इतिहास" : लक्ष्मण दत्तात्रेय जोशी (पुणें, 489 शनवार पेठ, 1935).

"हिन्दुस्थानी संगीत पद्धति" (भाग चौथा) : पं० विष्णु शर्मा (बंबई, भालचंद्र सीताराम सुकथनकर, 1932).

संस्कृत

"अनूपसंगीतरत्नाकर" : भावभट्ट.

"अभिनयदर्पणम्" : नंदिकेश्वर, Ed. Dr. Manmohan Ghosh (Calcutta, Firma K. L. Mukhopadhyaya, 6/1A Bunchharam Akrur's Lane, 1957).

"अमरकोष" : अमरसिंह (पूना, पूना ओरियंटल सीरीज़, 1913).

"अर्थशास्त्र" : कौटिल्य (त्रिवेन्द्रम, त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज, 1925).

"अर्थशास्त्र" : कौटिल्य, Edited By R. P. Pingle (Bombay, university of Bombay, 1960).

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"अष्टाध्यायी" : पाणिनि (कात्यायन के वार्तिक सहित).

"कर्पूरमंजरी" ; राजशेखर.

"कालिदास ग्रंथावली (मालविकाग्निमित्र)" : सं० सीताराम चतुर्वेदी (अलीगढ़, भारत प्रकाशन मंदिर, 1962).

"कुट्टनीमतम् काव्यम्" : दामोदर गुप्त, अनुवादक—अत्रिदेव विद्यालंकार, (वाराणसी, प्रकाशक—इंडोलॉजिकल बुक हाउस, प्रथम संस्करण, 1961).

"चतुर्भाणी" : अनुवादक एवं सं० श्री मोतीचंद्र तथा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल (बंबई, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय प्राइवेट लिमिटेड, 1959).

"दशरूपक" : धनञ्जय; संपा० डॉ० भोलाशंकर व्यास (वाराणसी) चौखम्वा विद्याभवन, 1962).

The Student's Sanskrit-English Dictionary : V.S. Apte.

'नाट्यशास्त्र" : भरत (अ) सं० डॉ० मनमोहन घोष (कलकत्ता, मनीषा ग्रंथालय प्राइवेट लिमिटेड, 4/3 बी बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, 1967); (आ) (वड़ौदा, गायकवाड़ ओरियंटल सीरिज, ओरियंटल इंस्टीट्यूट, 1964).

"बृहद्देशी" : मतंग मुनि (हाथरस, संगीत कार्यालय, 1976).

"भरतकोष" : M. Ramkrishna Kavi (Tirupati, The Board of Trustees, Tirumalai, Tirupati Devasthanam, Tirupati, 1951).

"भावप्रकाश" : शारदातनय (वड़ौदा,गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, ओरियंटल इंस्टीट्यूट, 1930).

"रत्नावली" : श्रीहर्षदेव (Bombay, Booksellers Publishing Company, Mehendale Building, V.P. Road, Girgaon 1964).

"श्रीमल्लक्ष्यसंगीतम्" : चतुर पंडित (मुंबई, भालचंद्र सीताराम सुकथनकर, 1934).

"संगीत पारिजात" : पं० अहोवल (हाथरस, संगीत कार्यालय, 1941).

"संगीतरत्नाकर" : पं० शार्ङ्गदेव (Madras, The Adyar Library and Research Centre, Adyar, 1959).

"संगीतराज" : महाराणा कुंभा, Ed. Dr. (Km.) Premlata Sharma (Varanasi, Hindu Vishvavidyalaya Sanskrit Publication Board, Banaras Hindu University, 1963).

A Sanskrit-English Dictionary : Monier Williams (Oxford, Oxford University Press, 1899).

"हरिवंशः" (नीलकंठविरचित 'भारतभावदीप' टीका समेत) : (पुणें, चित्रशाला प्रकाशन, 1936)

"हर्षचरितम्" : बाणभट्ट

हिंदी

"अभिनव गीतमंजरी" (भाग 1 व भाग 2—उत्तरार्ध) : डॉ० श्रीकृष्ण नारायण रातांजनकर, (बंबई, पॉपुलर बुक डिपो, लेमिंगटन रोड, 1944 व 1962).

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"इंदरसभा अमानत" : सैयद आग़ा हसन 'अमानत' (आगरा, मुंशी शहाबुद्दीन, मतबअ कैसरी, कटरा नील, हज्जाम मंडी, 1897).

"इश्क़ चमन" (पहिला भाग) : संग्रा० व प्रका० लाला बंशीधर दूदानी (आगरा, बंबई मशीन प्रेस, सेव का बाज़ार, 1913).

"कत्थक नटवरी नृत्य" : के० एस० जैन (मथुरा, भारतीय कला केंद्र, 1957).

"कथक नृत्य" : लक्ष्मीनारायण गर्ग (हाथरस, संगीत कार्यालय, 1960).

"कबीर साहब का बीजक" : सं० हंसराज शास्त्री व महावीर प्रसाद पो० हरक, ज़िला—बाराबंकी, (कबीर ग्रंथ प्रकाशन, 1950).

"कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका" लखनऊ, कलाभारती, दिसंबर 1965).

"क्रमिक पुस्तक मालिका" (तीसरी व चौथी पुस्तक) : पं० विष्णु नारायण भातखंडे, (हाथरस, संगीत कार्यालय, 1960 व 1962).

"कृषक जीवन संबंधी व्रजभाषा शब्दावली" (द्वितीय खंड) : डॉ० अंबाप्रसाद 'सुमन' (इलाहाबाद, किताब महल, 1961).

"कादंबिनी" : मासिक पत्रिका, मई 1966 (नई दिल्ली).

"गीतावली" : तुलसीदास, (गोरखपुर, गीता प्रेस).

"गुलदस्तये नग़मात" : प्रोफ़ेसर बड़े आग़ा, (लखनऊ, भातखंडे यूनिवर्सिटी ऑफ़ इंडियन म्यूज़िक, 1940).

"चतुर्दण्डीप्रकाशिका सटीकविवेचन" : विद्याधर व्यंकटेश वझलवार (बोलपुर, विश्वभारती शोध-प्रकाशन, विश्वभारती, शांति निकेतन, 1970).

"ठुमरी तरंगिणी" : राजाभैया पूछवाले (ग्वालियर, शंकर रामचंद्र गोलवलकर, गोलवलकर एंड संस, 1952).

"डिंगल साहित्य", (प्राकृत और अपभ्रंश का प्रभाव) : डॉ० गोविंद शर्मा, (कानपुर, अनुसंधान प्रकाशन, आचार्य नगर, 1965).

"तानसेन समारोह पत्रिका" (तानसेन समारोह समिति, भोपाल व ग्वालियर, 1959).

"तालप्रकाश" : भगवतशरण शर्मा (हाथरस, संगीत कार्यालय, 1981).

"तुलसी शब्द सागर" : स्वर्गीय पं० हरगोविंद तिवारी, सं० डॉ० भोलानाथ तिवारी (इलाहाबाद, हिंदुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, 1954).

"दिनमान" (साप्ताहिक), नई दिल्ली, टाइम्स ऑफ़ इंडिया प्रकाशन, 7 बहादुरशाह ज़फ़र मार्ग, 7 सितंबर 1969).

"धर्मयुग" (साप्ताहिक; बंबई, बैनेट कोलमैन एंड कंपनी लिमिटेड, जून 1971).

"नर्तक म० शेख़ राहतअली इनका ठुमरी संग्रह" (प्रथम, द्वितीय व तृतीय भाग) : नरहर शंभुराव भावे, (बड़ौदा, कालूपुरा, सन् 1942-1948).

"नवनीत" (हिंदी डाइजेस्ट-मासिक), बंबई, नवनीत प्रकाशन लिमिटेड, जनवरी 1956.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"पद्मावत" : मलिक मुहम्मद जायसी, व्याख्याकार—डॉ॰ वासुदेव शरण अग्रवाल, (झाँसी, साहित्य सदन, चिरगाँव 1955).

"पुराना लखनऊ" (गुज़श्ता लखनऊ) : मूललेखक-अब्दुल हलीम 'शरर', अनुवादक—नूर नबी अब्बासी (नई दिल्ली, नेशनल बुक ट्रस्ट, 1971).

"प्राकृत भाषाओं का व्याकरण" : मूललेखक—डॉ॰ रिचर्ड पिशल, अनुवादक—डॉ॰ हेमचंद्र जोशी (पटना, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, 1958).

"ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास" : प्रभुदयाल मीतल (दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1966).

"ब्रजभाषा सूरकोश" (प्रथम व द्वितीय खंड) : निर्देशक—डॉ॰ दीनदयालु गुप्त, सं॰ डॉ॰ प्रेमनारायण टंडन (लखनऊ, लखनऊ विश्वविद्यालय, 1950, 1962).

"भजन संग्रह" : सं॰ वियोगी हरि, (गोरखपुर, गीता प्रेस).

"भरत का संगीत सिद्धांत" : कैलासचंद्रदेव बृहस्पति (लखनऊ, प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, 1959).

"भातखंडे संगीत शास्त्र" (प्रथम भाग) : मूल लेखक—पं॰ विष्णु नारायण भातखंडे, अनुवादक—सुदामाप्रसाद दुबे (हाथरस, संगीत कार्यालय, 1951).

"भारतीय नाट्यशास्त्र की परंपरा और दशरूपक" : हजारीप्रसाद द्विवेदी व पृथ्वीनाथ द्विवेदी(दिल्ली, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 8, फ़ैज़ बाजार, 1963).

"भारतीय संगीत का इतिहास" : डॉ॰ शरच्चंद्र श्रीधर परांजपे (वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज 1969).

"भाषा विज्ञान" : डॉ॰ भोलानाथ तिवारी (इलाहाबाद, किताब महल, 1961).

"भाषा शब्दकोष" : डॉ॰ रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' इलाहाबाद, रामनारायणलाल बेनीप्रसाद, 1962).

"भोजपुरी भाषा और साहित्य" : डॉ॰ उदयनारायण तिवारी (पटना, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, 1954).

"मजमुए राग" : लाला हीरालाल (आगरा, गुलाम हुसैन, मालिक—मतबअ गुलशन इल्म 1897).

"मनहर संगीतावली" : संग्रहकार व प्रकाशक—मनहरराव गणपतराव बर्वे, (पूना, 1944).

"मानक हिंदी-कोश (दूसरा व चौथा खंड) : रामचंद्र वर्मा, प्रकाशक—(हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संवत् 2019 वि॰).

"मुसलमान और भारतीय संगीत" : आचार्य बृहस्पति (दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1974).

"ये कोठेवालियाँ" : अमृतलाल नागर (इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, 15-ए महात्मा गांधी मार्ग, 1969).

"राजाभैया की संगीतोपासना" : सं॰ नारायण लक्ष्मण गुणे व रामचंद्र माधव अग्निहोत्री (ग्वालियर, पूछवाले षष्ट्यब्दपूर्ति महोत्सव मंडल, लश्कर, 1942).

"रास और रासान्वयी काव्य" : डॉ॰ दशरथ ओझा व डॉ॰ दशरथ शर्मा (वाराणसी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, 1959).

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

"ललनसागर" : ललनपिया (लखनऊ, नवलकिशोर प्रैस, 1927).

"श्रीराधागोविंद संगीतसार" : सवाई प्रतापसिंह देव (पूना, गायन समाज, 1910).

"साप्ताहिक हिंदुस्तान" : (अ) 22 नवंबर, सन् 1970 ई०; (आ) 2 अप्रैल, सन् 1972 ई० (दि हिंदुस्तान टाइम्स लिमिटेड, नई दिल्ली).

"सामान्य भाषा विज्ञान" : डॉ० बाबूराम सक्सेना (प्रयाग, हिंदी साहित्य सम्मेलन, 1953).

"साहित्यालोचन" : श्यामसुन्दरदास (इलाहाबाद, इंडियन प्रैस लिमिटेड, 1958).

"सुर-सिंगार" (त्रैमासिक), अप्रैल-अक्टूबर 1965 (बंबई, सुर सिंगार संसद).

"सूरसागर" : सूरदास (वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् 2005-2007 वि०).

"सूरसागर शब्दावली" : डॉ० निर्मला सक्सेना (इलाहाबाद, हिंदुस्तानी एकेडेमी, 1962).

"संगीत" (मासिक पत्रिका) : (अ) जनवरी-फरवरी, 1947 (ठुमरी अंक); (आ) अप्रैल-मई, 1960; (इ) मई 1966; मई 1968; सितंबर, 1970 तथा अक्टूबर 1971 (हाथरस, संगीत कार्यालय).

"संगीत कला विहार" (मासिक पत्रिका) : अगस्त, 1959 (बंबई, अखिल भारतीय गांधर्व महाविद्यालय मंडल).

"संगीत गायन संग्रह" : प्रभुलाल गर्ग (हाथरस, संगीत कार्यालय).

"संगीत चिंतामणि" : आचार्य बृहस्पति (हाथरस, संगीत कार्यालय, प्रथम संस्करण 1966, द्वितीय संस्करण 1976).

"संगीत प्रवेश" (भाग पहिला) : लेखक व प्रकाशक—कृष्णराव शंकर पंडित (ग्वालियर, शंकर गांधर्व विद्यालय, 1932).

"संगीत राग कल्पद्रुम" : लेखक व प्रकाशक—कृष्णानंददेव व्यास (कलकत्ता, 1842).

"सगीत सम्राट तानसेन" (जीवनी और रचनायें) : प्रभुदयाल मीतल (मथुरा, साहित्य संस्थान, 1960),

"संगीत सुदर्शन" : पं० सुदर्शनाचार्य (इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, 1915).

"संगीतज्ञों के संस्मरण" : विलायत हुसेन ख़ाँ (नई दिल्ली, संगीत नाटक अकादमी 1959).

"सगीत शिक्षा" : पं० बख्शराम पांडे (लखनऊ, मुंशी नवलकिशोर प्रेस, 1891).

"हमारे संगीत रत्न" : लक्ष्मीनारायण गर्ग (हाथरस, संगीत कार्यालय, 1957).

"हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक विवेचन" : डॉ० (श्रीमती) वीणापाणि पांडे, (लखनऊ, प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, 1960).

"हिंदी और उसकी भाषाओं का स्वरूप" : डॉ० अंबाप्रसाद 'सुमन' (प्रयाग, हिंदी साहित्य सम्मेलन, 1966).

"हिंदी के कृष्णभक्तिकालीन साहित्य में संगीत": डॉ० उषा गुप्ता (लखनऊ, लखनऊ विश्वविद्यालय, 1959).

"हिंदी भाषा" : डॉ० भोलानाथ तिवारी (इलाहाबाद, किताब महल, 1966).

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"हिंदी भाषा का उद्गम और विकास" : डॉ उदयनारायण तिवारी (इलाहाबाद, भारती भंडार, लीडर प्रेस, 1961).

"हिंदी शब्द सागर" (तीसरा व चौथा भाग) : श्यामसुंदर दास (वाराणसी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, 1967, 1968).

"हिंदी शब्दानुशासन" : पं० किशोरीदास वाजपेयी (वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा, 1966).

"हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास" (द्वितीय भाग) : सं०—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा (वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी 1965).

"हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास" (षष्ठ भाग); रीतिकाल : रीतिबद्ध काव्य : सं०—डॉ० नगेन्द्र (वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा, 1958).

"हिंदी साहित्य के शृंगार युग में संगीत काव्य" : डॉ० हेम भटनागर (नई दिल्ली, हिंदी विभाग, जानकीदेवी महाविद्यालय, सन् 1969).

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
4	24	ग्राम+गाँव	ग्राम<गाँव
5	21	होने का कारण	होने के कारण
6	31	थम्म	थम्भ
10	12	अभिव्यक्ति	अभिव्यक्त
11	12	अव्यावहारिक	अव्यवहारिक
12	13	वालग्र+वाला	वालग्र<वाला
12	26	रक्षपाल+हिंदी रखवाला	रक्षपाल<हिंदी रखवाला
15	11	(अर्धमगधी)	(अर्धमागधी)
15	29	पूव	पूर्व
17	8	रूप प्रचलित	रूप में प्रचलित
25	24	आहार्युः	आहार्यः
25	25	पारिकल्पितः	परिकल्पितः
27	25	पुरुष	परुष
28	1	नृत्त प्राधान्य	नृत्त का प्राधान्य
29	3	गाचने	नाचने
33	6	वात्म्यायन	वात्स्यायन
35	30	वात्यायन	वात्स्यायन
40	2	आगिकाभिनय	आंगिकाभिनय
42	28	2.	32.
43	15	सम्पन्पा	सम्पन्ना
46	1	77.	77. (i)
47	2	78.	(ii)
46	20	38.	88.
58	3	रागदपण	रागदर्पण
58	18	बाबा	बाब
59	5	संकीण	सकीर्ण
62	24	सयतता	संयतता
65	26	उमग	उमंग
69	15	घानी	घानी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
71	5	'चर'	'चर्'
71	29	नवरग	नवरंग
75	19	धत्तादि	धत्तादि
76	12	विकासित	विकसित
77	5	अष्टादशोघ्याय	अष्टादशोऽध्याय:
77	23	गौणी	गोणी
79	25	झेंप	झंप
80	2	1 2 1 2 3	1 2 | 1 2 3
80	2	छदगति	छंदगति
82	26	द्वौ लौ	दौ लो
84	8	1 2 3 4 1	1 2 | 3 4 1 2
88	23	शली	शैली
90	10	पावती स	पार्वती से
102	20	परदेशवा	परदेसवा
104	1	ा	रा
104	24	चर्चरीत्रितय:	चर्चरीति त्रय:
105	2	क	के
106	7	ग	लगा
106	9	हल्लसक	हल्लसीक
107	3	व्युत्पाद्यते नेनेति	व्युत्पाद्यतेऽनेनेति
107	22	मारत	भारत
107	28	वात्सायन	वात्स्यायन
108	15	वात्सायन	वात्स्यायन
110	24	देशा	देशी
135	19	सहज	सहजं
142	31	वसत	बसंत
143	19	नत्य	नृत्य
152	31	कुट्टनीतम्	कुट्टनीमतम्
154	7	शहनाई-वाहन	शहनाई-वादन
161	15	अप्रल	अप्रैल
162	6	वतमान	वर्तमान
166	6	ततोनृत्यं	ततोनृत्तं
166	11	रागप्रसादजननी	रागप्रसादजननीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
172	16	अनतर	अनंतर
181	3	प्रचा	प्रचार
181	5	पचम	पंचम
181	10	न्याय के	न्याय से
186	23	सकीणंत्व	संकीर्णत्व
286	24	श्रृंगायिक	श्रृंगारिक
190	31	अ	कर
203	6	।[1]	।[2]
296	32	स जाती	इस जाती
228	5	द्विमात्राकाल के	द्विमात्राकाल को
228	8	लगते	लगने
230	15	आवश्य	अवश्य
231	11	3.	2.
233	14	तियाती	तिं या ती
235	14	ऽ धा	धिं धा
238	8	को	की
239	15	वाला	वाले
241	28	| 1 2 3 2	8 | 1 2 3 2
246	8	अलाप्ति	आलाप्ति
253	7	निधपध	निध पध
253	8	नऽऽग	नऽ ऽग
255	3	ध, पम	ध, पम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लेखक प

डॉ० शत्रुघ्न शुक्ल,
विद्यावाचस्पति, पीएच० डी० री
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली,
पद्मभूषण स्वर्गीय डॉ० श
रातांजनकर के प्रतिभाशाली
संगीतशास्त्री दोनों रूपों में सुप्रसि
अध्यापन के क्षेत्र में लगभग
भातखंडे म्यूज़िक कॉलेज, लखनउ
विद्यालय, गोरखपुर के बाद सन्
विश्वविद्यालय में संगीताध्यापन

संगीत के क्रियात्मक (Pra
तिक (Theoretical) दोनों प
का अच्छा अधिकार है। विभिन
व रेडियो में उनके सफल गान-क
परिचर्चाओं व अनेक संस्थाओं मे
विषयों पर व्याख्यान के अतिरिक
पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेख प्र
हैं और वे अनेक उच्चस्तरीय सं
रूपों में संबद्ध हैं।

भारतीय संगीत की ध्रुवपद
तराना, टप्पा आदि गानशैलिय
उन्होंने ठुमरी का भी गहन अध्ययन
व चिंतन किया है। उनकी यह
क्षेत्र में विशिष्ट उपलब्धि है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varan

CC0: In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi